

प्रथम सस्करणकी प्रस्तावना

इश्वेताएवतरोपनिषद् छप्पनयजुर्वेदके अन्तर्गत है। इसके पक्का इश्वेताएवतर श्रुति हैं। उन्होंने चतुर्थांशमियोंको इस विद्याका अपवेष्टा किया था। यह बात इस उपनिषद्के पद्य अन्वयके एककीसवें मन्त्रसे विदित होती है। इस उपनिषद्की विशेषनशीली बड़ी ही सुसम्पन्न और भावपूर्ण है। इसमें साधन साध्य साधक और प्रति पाद्य विषयके महत्त्वका बहुत स्पष्ट और मार्मिक भाषामें निरूपण किया है। इसमें प्रसंगानुसार सांख्य योग सगुण निर्गुण, द्वैत अद्वैत आदि कई प्रकारके सिद्धान्तोंका उल्लेख हुआ है। अतः इसके वाक्योंके आधारसे सांख्यवादी और द्वैतमतवाचकम्बियोंने भी बड़े समापेहसे अपने सिद्धान्तोंका समर्थन किया है।

इसका आरम्भ जगत्के कारणकी मीमांसासे होता है। कुछ ब्रह्मवादी भाषसमें मिस्रकर इस विषयमें विचार करते हैं कि जगत्का कारण क्या है? हम कहाँसे उत्पन्न हुए? किसके द्वारा हम जीवन धारण करते हैं? कौन हमारा आधार है? और किसकी प्रेरणासे हम पुत्र-सुख भोग करते हैं? सत्कारके सम्पूर्ण दार्शनिक इन प्रश्नोंको हल करनेमें ही व्यस्त रहे हैं। और उन्होंने अपनी-अपनी अनुभूतिके आधारपर जो जो निर्णय किये हैं वे ही विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तोंके रूपमें प्रसिद्ध हुए हैं। वस्तुतः इस प्रकारकी विज्ञाना ही सारे दार्शनशास्त्रका बीज है और यह अितनी तीव्र पथ निरपेक्ष होती है उतनी ही अधिक वास्तविकताके समीप छे जानेवाली होती है। वस्तु।

श्रुतियोंमें जगत्के कारणकी मीमांसा करते हुए काण्ड-कथाकादि लोकप्रसिद्ध कारणोंपर विचार किया। किन्तु उनमेंसे कोई भी उनकी विज्ञाना दान्त फलमें सफल न हुआ उन्हें सभी अपूर्ण और अशास्त्रत विद्याधी दिये। अन्तमें उन्होंने ध्यानयोगके द्वारा यह अनुभव किया कि भगवाद्की स्वरूपमूला माया ही जगत्का कारण है। उन्हें इस सत्कारसरिताका स्पष्ट दर्शन हुआ और उन्होंने देखा

कि जड़-चेतन दोनोंसे परे इनका अभिप्राय और प्रेरक जो एक देव है वही अपनी मायादाकिसे जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है और उसका साक्षात्कार होनेपर ही जीव मायाके चक्रम मुक्त हो सकता है । उस कहीं अन्यत्र हूँकनेकी भावदयकता नहीं है । यह सर्वथा अपने अन्तःकरणमें ही स्थित है । इस अपने अन्तरात्मासे भिन्न कोई और देव नहीं है । तथा यही भोक्ता, भोग्य और प्रेरक भी कहा जाता है ।

इस प्रकार प्रथम अध्यायमें जगत्कारणका नियम कर प्रपञ्चविस्तृत पूर्वक ध्यानाभ्यासको ही उसके साक्षात्कारका साधन बताया गया है । इसका विशेष विवरण द्वितीय अध्यायमें है । वहाँ ध्यानकी विधि ध्यानके योग्य स्थान, योगकी प्रथम प्रवृत्ति और उसके फलका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है । इस तरह साधनका निरूपण कर फिर तृतीय अध्यायमें साध्यका प्रतिपादन किया है । वहाँ उस एक ही तत्त्वका पहले सगुण-साकाररूपसे फिर अन्तर्दामी और विगुणरूपसे तथा अन्तमें शुद्धरूपसे निरूपण हुआ है । चतुर्थ अध्यायमें तत्त्वबोधकी प्राप्ति और मायासे मुक्त होनेके लिये उस देवकी स्तुति की गयी है तथा अनेक प्रकारसे उसके स्वरूप और महत्त्वका वर्णन किया गया है । पञ्चम अध्यायमें सर असर और इन दोनोंके प्रेरक परमात्माके स्वरूपका स्पष्टीकरण हुआ है । वहाँ सरका भोग त्व असर (जीव) का भोक्तृत्व और परमात्माका नियन्त्रित्व बतसाया गया है तथा यह भी प्रदर्शित किया है कि जीव अपने स्वरूपके अनुसार विभिन्न योनियोंको प्राप्त होता है और परमात्माका ज्ञान हमेपर सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है । इसके पश्चात् छठे अध्यायमें भी परमात्माके स्वरूप और महत्त्वका ही प्रतिपादन करते हुए अन्तमें उसीके ज्ञानसे सारे दुःखोंकी निवृत्ति वतझरयी है और यह कहा है कि उस देवको जाने बिना दुःखोंका अन्त होना इसी प्रकार असम्भव है जैसे ध्यायक भीर निरवयव वाक्यको समझेके समान छपेटना ।

इस प्रकार इस उपनिषद्में भादिसे अन्ततक केबल परमार्थतत्त्व का ही निरूपण हुआ है । फिर अन्तमें एक मन्वशाप इस विद्याके

सम्प्रदायका और दो मन्त्रोंसे इसके अधिकारीका वर्णन करके उपसंहार किया गया है। यही संक्षेपमें इस ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयोंका विवेचन है।

ऊपर कहा जा चुका है कि इस ग्रन्थके वाक्योंके आधारमें सांख्यशास्त्री और छैतन्यब्रह्मियोंने भी अपने सिद्धांतोंका समर्थन किया है। सांख्यवादियोंके लिये तो इस ग्रन्थके दो वाक्य ही परम प्रमाण हैं। उनमें एक चतुर्थ अध्यायका पञ्चम मन्त्र और दूसरा पञ्चम अध्यायका त्रितीय मन्त्र है। पहला मन्त्र इस प्रकार है—

अजामकं लोहितशुक्लवृष्णां षष्ठी प्रजा सृजमानां सत्त्वा ।

अत्रो एको जुवमाणोऽनुष्ठेने जहाप्येनां मुक्तमोग्रममोऽन्य ॥

इस मन्त्रकी लोहितशुक्लवृष्णा अजा ही उनकी रजासत्त्वतमो मयी प्रकृति है। तथा उस समय करमेवाला अज ब्रह्म पुरुष है और उसे रयाग देनेवाला दूसरा अज मुक्त पुरुष है। इस मन्त्रको यदि सांख्यवादका बीज कहें तो कोई अन्युक्ति नहीं होगी। यही उनके प्रधानकी योग्य एकमात्र युक्ति है। किन्तु भाष्यकार शंकराचार्यने अपने शारीरकभाष्यमें इस मन्त्रका गण्डन करते हुए लोहितशुक्लवृष्णा अजाके त्रिगुणमयी प्रकृति न लंकर छान्दोग्योपनिषद्के छठे अध्यायमें बताये हुए पृथिवी अथ राज तीक्ष्ण सूक्ष्म भूत स्त्रिय है। उनमें पृथिवी वृष्यवण अथ गुणव्यग तेज आहितवर्ण है। इस प्रकार यहाँ भाष्यकारने भनेहों युक्तियोंसे प्रधानवादका गण्डन किया है।

सांख्यमिश्रान्तका दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

यो योनिं यानिभित्तेऽप्यकां शिवादि गत्याग्निं यानीध मुक्तां ।

अग्निं प्रगृहं वरिष्ठं यन्मया ज्ञानैर्विभर्ति तावमानं न पश्येत् ॥

इस मन्त्रका आधारपर सांख्यवादियोंने परमाणु अणुकी प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध करके उनका उपसंहार किये हुए सांख्यमिश्रान्तकी पुष्टि की है। किन्तु भाष्यकारने इस मन्त्रका इसी उपनिषद्के भाष्यमें गण्डन किया है और अणुकी प्राचीनता अथवा प्राचीनताका वाचक बताया है।

इसी प्रकार द्वैतवादिपोंमें भी इस ग्रन्थके धार्योंसे अपने सिद्धान्तको पुष्ट करनेका प्रयत्न किया है। यों तो अपने सिद्धान्तकी पुष्टिक लिये वे इसके कई मन्त्र उद्धृत करते हैं। परन्तु उनमें प्रधान चतुर्थ मन्त्रायके छठे और सातवें मन्त्र ही हैं। वे इस प्रकार हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समनं वृक्षं परिमृश्रताते ।

सपोरन्य निपलं सादृत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकरीति ॥

समाने वृक्षे पुरुषा निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान ।

बुष्टं यत्र पश्यत्यन्यनीशमस्य महिमानमिति वीतरोक ॥

इन मन्त्रोंके द्वारा द्वैतवादी भाषायोंने जीव और ईश्वरका भेद सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। परन्तु भाषार्यने पूर्वमन्त्रके दो सखा सुपर्णा (पक्षी) विद्वानात्मा और परमात्मा तथा द्वितीय मन्त्रके पुरुष और ईश अविद्यामय जीव और ग्रन्थगात्मा बतलाकर उनका केवल औपाधिक भेद प्रदर्शित करते हुए परमार्थता एकत्व ही सिद्ध किया है। इस विषयमें शारीरकभाष्यमें भी वही युक्तियुक्त विचार किया गया है।

यह सब होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि ग्रन्थ मताब छम्बियोंके सिद्धान्त सर्वथा सहीक ही है। बस्तुना परमप्रमाणभूता भुक्ति और उसके प्रमेय श्रीभगवान् दोनों ही वाच्यवाक्यपरक हैं। उन्हें जो जिस भावसे भजता है उसे उनकी वसी रूपसे अनुभूति होती है। उनका परमाधत्वरूप सर्वथा अनिर्बन्धनीय और मन बुद्धि भाविक्य अविषय है किन्तु जिस रूपमें उनकी अनुभूति होती है उससे भी उनका किसी प्रकारका भेद नहीं है। इसलिये उसके द्वारा भी उन्हीं की सौधी हायी है। वे सर्वरूप हैं सर्वातीत हैं और सबके साक्षी हैं। बस एकमात्र वे ही वे हैं। जिसे हम उनके भिन्न समझते हैं वह भी उन्हींकी प्रतिरुति है। बस्तुना ऐसा कोई वेश काल या पदार्थ नहीं है जो उनसे भिन्न हो और जो किसी भी वेश काल या पदार्थके द्वारा उनका ग्रहण भी नहीं किया जा सकता। सारे मन उन्हींका प्रतिपादन करते हैं और बस्तुना वे किसी भी मनुके विषय भी नहीं हो सकते। यह

एक बिचित्र पहेली है । व्यवहार किन्हीं भी दो बिचित्र धर्मोंका सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ सारे बिरोधोंका समन्वय हो जाता है क्योंकि ये सर्वाभिज्ञान हैं । यदि यहाँ भी सचका सामन्वय न हुआ तो और हो ही नहीं सकता है ? वस्तु ।

इस प्रकार यह उपनिषद् परमार्थतत्त्वके सिद्धान्तोंके लिये बहुत ही उपयोगी है । इसपर शाङ्करभाष्यके अतिरिक्त श्रीशाङ्करानम्बुदत्त दीपिका श्रीनारायणविरचित दीपिका और श्रीविज्ञानभगवान्मुक्त विशरूपनामक तीन टीकाएँ और हैं । भगवान् शाङ्करकी विशेषनदीली बड़ी ही गम्भीर प्रसादपूर्व और युक्तियुक्त होनी है । उनके पाण्डित्य और युक्तिकौशलको बिपत्ती विज्ञान भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं परन्तु प्रस्तुत भाष्यमें वह प्रतिभा नहीं देखी जाती । इसमें न वह गाम्भीर्य है न प्रसाद है और न युक्तिकौशल ही है । इसीसे अधिकांश विद्वानोंका ऐसा मत है कि यह आचार्यकी रचना नहीं है । किन्हीं अन्य मठस्थ शाङ्कराचार्यमें इसे छिन्नकर अपने भाष्यकी प्रतिष्ठाके लिये भगवान् भाष्यकारके नामसे प्रसिद्ध कर दिया है । इसके आचार्यकृत न होनेमें और भी कई कारण बताये जाते हैं । परन्तु यहाँ उन्हें उद्धृत करनेका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है । इस प्रकारकी मात्र ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टिसे तो भवदय बहुत आश्चर्यक है । परन्तु सिद्धान्तोंका तो मुख्य लक्ष्य अपनी ज्ञानविषासाकी शान्ति पर ही होना चाहिये । इसकी रचना कैसी ही शिथिल और प्रसाद शून्य हो इसमें कल्पानकर्मियोंकी शान्तिके लिये पुच्छल सामग्री है । इसलिये इसका अनुशीलन उनके लिये किसी प्रकार अनुपयोगी नहीं हो सकता ।

इस उपनिषद्के प्रकाशनसे एक बिरुद्धाधिक अभिलाषाकी पूर्तिके कारण मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है । आजसे प्रायः साठ वर्ष पूर्य इस पञ्चादश उपनिषदोंके भाष्यका दिग्दी-अनुवाद करनेका संकल्प हुआ था । भगवत्पूपासे यह संकल्प पूरा हो गया । छान्दोग्यतक भी उपनिषदोंके प्रकाशित हुए प्रायः दो-तीन हो गये हैं । पृथ्वारण्यक

भीरु श्वेताम्बर शेष थे। इनका अनुवाद भी समाप्त हो गया। प्रचलित क्रमके अनुसार पहले पृथ्वारण्यक प्रकाशित होना चाहिये था, परन्तु छेटा होनेके कारण पहले श्वेताम्बरक अनुवाद किया गया और वही पहले प्रकाशित भी हो रहा है। पृथ्वारण्यककी छपाई भी आरम्भ हो गयी है आशा है वह भी शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा। इस प्रकार अनुवादके ही बहाने जो पत्रिकाएँ सत्पुरुषोंकी सेवा और सद्गुणोंका मनन होता है, उससे किसी प्रकार भगवत्कृपाका पात्र बन सकूँ-ऐसा प्रेमी पाठक आशीर्वाद देनेकी प्रार्थना करें।

किरीत

अनुवादक



विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१ छान्तिपाठ	१३
प्रथम अध्याय	
२ सम्बन्ध भाष्य	१४
३ अक्षर-कारण ब्रह्मके स्वरूपके विषयमें ब्रह्मवादी श्रुतिबोध विचार	१८
४ अक्षर, स्वप्न आदिकी अक्षर-कारणताका बखान	७१
५ ध्यानके द्वारा श्रुतिबोधे कारणभूता ब्रह्मव्यक्तिका साक्षात्कार	७४
६ कारण ब्रह्मका अक्षररूपसे वर्णन	८६
७ अक्षरब्रह्मका नदीरूपसे बखान	९५
८ जीवके संसार बन्धन और मोक्षके कारणका निरर्थक	९७
९. परब्रह्मकी प्राप्तिसे मुक्तिका बखान	१००
१० व्यावहारिक भेद और ज्ञानद्वारा मोक्षका प्रदर्शन	१०७
११ ईश्वर, जीव और प्रकृतिकी विच्छिन्नता तथा उनके लक्ष-ज्ञानसे मोक्षका बखान	११३
१२ प्रधान और परमेश्वरकी विच्छिन्नता तथा उनके लक्ष-ज्ञानसे मोक्षका बखान	११९
१३ ब्रह्मके ज्ञान और ध्यान-अन्व फलमें भेद	१२०
१४ ब्रह्मकी अक्षरता	१२७
१५ प्रथम किन्तुनसे ब्रह्म-साक्षात्कारका दृष्टान्तोंद्वारा समर्पण	१३
द्वितीय अध्याय	
१६ ज्ञानकी विधिसे किये लक्षितसे अनुज्ञा-प्राप्तना	१३६
१७ लक्षितकी अनुज्ञाके बिना हानि	१४१
१८ लक्षितकी अनुज्ञासे लाभ	१४५
१९. ध्यानयोगकी विधि और उक्तका महत्त्व	१४७
२० प्रायश्चित्तका क्रम और उक्तकी महत्त्व	१४८
२१ ध्यानके किये उपयुक्त स्थानोंका निरर्थक	१५४
२२ योगविधिसे पूर्वब्रह्म	१५५
२३ योग करा और अज्ञात मृत्युरर विषय पानेके विधि	१५७



श्री आचार्य विनयचन्द्र शर्मा मण्डार
साम मदन बीडा गया,
जयपुर सिटी (राजस्थान)

श्रीमान बन्दुलालजी त्रिभुवनदासजी
बम्बई वालों की आर ल भठ ।

२४ योगसिद्धि वा तत्त्वज्ञानका प्रभाव	१५८
२५ योगसिद्धि वा तत्त्वज्ञानकी स्थिति	१५९
२६ परमात्मस्वरूपका वर्णन	१६१

तृतीय अध्याय

२७ एक ही परमात्मामें शाश्वत और शाश्वतीय भावका समर्थन	१६३
२८ परमेश्वरसे जगत्की सृष्टिका प्रतिफलन	१६६
२९ परमेश्वरका स्वरूप	१६८
३० परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति	१७०
३१ परमेश्वरके विषयमें शान्तिज्ञानोंके अनुभवका प्रवर्धन	१७२
३२ परमेश्वरके सर्वात्मभाव या विराट् स्वरूपका वर्णन	१७७
३३ अज्ञानके दोहात्मिकान और इन्द्रिय-सम्बन्धकारके स्वरूपका निरूपण	१७९
३४ ब्रह्मका निर्विशेष रूप	१८२
३५ आत्मज्ञानसे शोचनित्विका निरूपण	१८३
३६ आत्मस्वरूपके विषयमें ब्रह्मवेत्तका अनुभव	१८४

चतुर्थ अध्याय

३७ परमेश्वरसे सृष्टिके सिद्धे प्रार्थना	१८६
३८ परमात्माकी स्वरूपता	१८७
३९ सृष्टि और जीवके सम्बन्धका विचार	१८९
४० जीव और ईश्वरकी निष्कलणता	१९०
४१ ब्रह्मके अभिज्ञानरूपता और उसके ज्ञानसे कृतार्थता	१९४
४२ मानोपपन्न ईश्वर ही सत्यका सहाय है	१९५
४३ सृष्टि और परमेश्वरका स्वरूप तथा उनकी सर्वव्यापकता	१९७
४४ अज्ञान-ब्रह्मके साक्षात्कारसे परम शान्तिकी प्राप्ति	१९८
४५ अज्ञानज्ञानकी स्थितिसे सिद्धे परमात्माकी प्रार्थना	२००
४६ परमात्मज्ञानसे शान्ति-प्राप्ति एवं कल्पननश्वरका पुनः उपवेश	२०२
४७ परमात्मसाक्षात्कारके साधन	२०३
४८ ज्ञानसे ही सृष्टिके उपवेश	२०८
४९ ब्रह्मके अनुभव एवं इन्द्रियातीत स्वरूपका वर्णन	२११
५० परमेश्वरका स्वरूप	२१२

पञ्चम अध्याय

५१ अज्ञानविनाशिका शक्ति और उनके शाश्वत परमेश्वरके स्वरूप तथा साक्षात्कारका वर्णन	२१५
--	-----

५२ कर्तृत्वादि कर्मोंसे कुछ बीबत्तयके स्वरूपका वर्णन	२२९
५३ बीबत्तयके कर्मोंके अनुसार विविध देहकी प्राप्तिका निर्देश	२३६
५४ परमात्मतत्त्वके जाननेसे जीवकी मुक्तिका कथन	२२८
पष्ठ अध्याय	
५५ परमेश्वरकी महिमासे धृष्टिचक्रका उद्घाटन	-- २३१
५६ चिन्तनीय परमेश्वरका स्वरूप तथा उसकी महिमा	२३२
५७ भगवद्दर्शन कर्मसे भगवत्प्राप्ति	२३४
५८ उपासनासे भगवत्प्राप्ति	२३६
५९ ज्ञानसे भगवत्प्राप्ति	२३८
६० ज्ञानियोंके लक्षानुभवका उद्देश्य	२३९
६१ परमेश्वरकी महत्ता	२४०
६२ ब्रह्मसायुज्यके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना	२४२
६३ परमेश्वरके स्वरूपका निर्देश	२४२
६४ परमात्मज्ञानसे नित्यसुखकी प्राप्ति और मोक्ष	२४४
६५ ब्रह्मके प्रकटयते ही सबको प्रकटयती प्राप्ति	-- २४६
६६ मोक्षके लिये ज्ञानके सिवा अन्य हेतुओंका नियम	२४८
६७ परमेश्वरके स्वरूपका विशेषरूपसे वर्णन	२४९
६८ मुमुक्षुके लिये भगवच्छरणार्थीप्राप्तिका उपदेश	२५१
६९ परमात्मज्ञानके बिना मुक्ति-निवृत्तिकी असम्भवात्	२५४
७० शैवालवृत्त-विद्याका सम्प्रदाय तथा इसके भविकाटी	२५६
७१ अनभिद्याकी प्रति विद्योपदेशका नियम	२५९
७२ परमेश्वर और गुह्यमें भ्रमा-भक्ति रखनेवाले शिष्यके प्रति किये गये उपदेशकी सङ्ख्या	२६१





जगत्कारणमीमांसा

५५ श्री आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान मण्डार ५५

संश्लेष

श्री श्वेताम्बर स्थानकदास्यु ष्टीन भाषक संघ, अण्डपुर
३९

तत्सद्गुणे नम

श्वेताश्वतरोपनिषद्

मन्त्रार्थ, साङ्करभाष्य और माध्वार्थसहित

श्रित्स्यान्मर्दं शिराधारं श्रित्तिस्त्राधारमध्ययम् ।
निगमाद्यगतं नित्यं शीघ्रकण्ठं नमाम्यहम् ॥



शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं
करवावहे । तेजस्वि नावधीतमस्तु ।
मा विद्विषावहे ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

एह परमार्थना हम [आचार्य और शिष्य] दोनोंकी साय-साय रक्षा करें । हम दोनोंका साय-साय पावन करें । हम साय-साय विद्यासम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें । हम दोनोंका पका हुआ सेबस्त्री हो । हम द्वेष न करें । त्रिविध तपस्स शान्ति हो ।

प्रथमोऽध्यायः

सप्तम-भाष्य



श्वेताश्वतरोपनिषद् इदं विवरण-
 मन्थग्रन्थं ब्रह्मजि-
 ज्ञानं साक्षात् सुखा-
 बोधायारम्भते । चित्तदानन्दा
 द्वितीयब्रह्मस्वरूपोऽप्यारमा स्वा-
 भयया स्वस्वियमाविद्यया स्वानु-
 भवगम्यया साभासया प्रति-
 बद्धस्वाभाविकश्रेयपुरुषार्थः प्राप्ता-
 श्रेयात्तर्थाऽविद्यापरिकल्पितैरेव सा-
 धनैरिष्टप्राप्तिं चापुरुषार्थं पुरुषार्थं
 मन्यमाना मोक्षार्थमलभमानो
 मन्त्रादिभिरिव रागादिभिरितस्त-
 तः समाकृष्यमाणः सुखरति-
 र्भोगादिप्रभेदमदितनानाभोनिपु-
 संभरन्केनापि सुकृतकर्मणा ब्रा-
 ह्मणाद्यधिकारिशरीरं प्राप्त इश्वरार्थं
 कर्मानुष्ठाननापगतारागादिमुक्त-

ब्रह्मज्ञानके विद्यासुखोंको सरलतासे
 बोध करानेके लिये यह श्वेताश्वतरो-
 पनिषद्की व्याख्या छोटे-से ग्रन्थके
 रूपमें आरम्भ की जाती है । यद्यपि
 आत्मा सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म
 स्वरूप ही है, तथापि अपने ही आविर्भूत
 रहनेवाली, अपनेहीको विनाश करने-
 वाली और ['मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकार]
 अपने अनुभवसे ही ज्ञात होनेवाली
 विद्यामयसुख अविद्यासे उस
 (जीवात्मा) के सब प्रकारके सा-
 म्यिक पुरुषार्थकर अश्रोत्र हो जानेसे
 उसे सम्पूर्ण अनर्थकी प्राप्ति हुई है और
 वह अज्ञानवश कर्मणा किये हुए ही
 साधनोंसे अपनी इष्टप्राप्तिरूप अपुरुषार्थ-
 को ही पुरुषार्थ मानकर परम पुरुषार्थरूप
 मोक्षप्रद प्राप्त न कर सकनेके कारण
 मन्त्रादिके समान रागादि दोषोंसे
 शर-उपर खींचा जाकर देखा,
 मनुष्य एवं त्रिपक्ष आदि, विभिन्न
 भेदोंसे युक्त बनेक्यों योनियोंमें
 विपरता रहता है । जब किन्ती पुण्य-
 कर्मिक द्वारा ब्रह्मविद्याकर अत्रिपररी
 प्राप्तिगति शरीर प्राप्तकर वह इश्वरार्थ
 कर्मानुष्ठान करनेसे रागादि मयोंसे

अनित्यत्वादिदर्शनेनोत्पन्नेहामु-
 धार्थभोगविराग उपेत्याचार्यमा-
 धार्यद्वारण वदान्तरथवणादिनाह
 प्रज्ञासीति प्रज्ञारमरुत्तमवगम्य
 निवृत्ताद्यानतत्कार्यो धीतशोका
 भवति । अविद्यानिवृत्तिलक्षणस
 मोक्षस्य विद्याधीनत्वाद्युज्यत च
 तदर्थोपनिषदारम्भः ।

मुक्त और मस्तुओंका अनित्यत्वादि
 देखनेसे एहिमें और पारलम्बिक
 मोगोंसे रिक्त हो जाता है । तब
 आचार्यके पास जाकर उनके द्वारा
 वेदान्तश्रवणदि करके धीं प्रज्ञा हैं
 इस प्रकार प्रज्ञारमरुत्तमवगम्य
 पर यह अज्ञान और उसके कारणकी
 निवृत्ति हो जानके कारण शोकरहित
 हो जाता है । क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति
 रूप मोक्ष ज्ञानके अधीन है, इसलिये
 ज्ञान ही जिसका प्रयोजन है उस उप
 निषेधका आरम्भ करना उचित ही है ।

तथा तद्विज्ञानादमृतत्वम् ।
 आत्मज्ञानस्य "तमेव विद्वान्
 मायात्मकस्य मृत इह भवति ।"
 (नृसिंहपूर्व० १ । ६) "नान्यः
 पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता०
 ६ । १५) । "न चेदि
 हावेदीन्महती विनष्टि" (के०
 उ० २ । ५) । "य एतद्विदुर
 मृतास्ते भवन्ति" (पृ० उ० ४ ।
 ४ । १४) । "किमिच्छन्त्यस्य
 कामाय शरीरमनुसन्वरेत्" (पृ०
 उ० ४ । ४ । १२) । "त विदि
 त्वान लिप्यत कर्मणा पापफल ।"
 (पृ० उ० ४ । ४ । २३)
 "तगति शोकमारमन्वित्" (छा०
 उ० ७ । १ । ३) "निषाय्य
 तन्मृत्युमुत्सन्नप्रमुच्यत ।" (क०

तब उस (प्रज्ञारमरुत्तम) के ज्ञानसे
 अमृतत्व प्राप्त होता है । "उसका
 ज्ञाननेवाला इस समयमें अमृत (मुक्त)
 हो जाता है", "मोक्षप्राप्तिके लिये कोई
 दूसरा मार्ग नहीं है", "एहिमें नहीं
 उसे न जाना तो बड़ी भारी हानि
 है", "जो इसे जानते हैं अमर हो
 जाते हैं", "[यदि पुरुष 'मह
 पाम्भय मे ही हूँ' ऐसा जान स
 ती वह] क्या श्रम करता हुआ
 किस कामके लिये शरीरके पीछे सन्तप्त
 हो", "उसे जान केनकर जीव पाप-
 कर्मसे त्रिप्त नहीं होना", "आत्मजानी
 भोगोंके पार हो जाता है,
 "उमरा अनुभव कर अज्ञान मृत्युप
 मुझे छोड़ जाता है" "धुमे ज

उ० १।३।१५) “एषो
षेद निहितं गुहायां सोऽधि
धाम्न्यि विकिरतीह सोम्य”
(सु० उ० २।१।१०) ।

“भिषते हृदयप्रन्धि-

शिष्ठघन्ते सर्वसंशयाः ।

धीयन्ते चास्य कर्माणि

तस्मिन्घ्ने पराधरे ॥”

(सु उ २।१।८)

“यथा नद्यः सन्दमानाः समुद्रे
उत्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्याभामरूपाद्रिमुक्त
परस्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥”

(सु उ १।२।८)

“स यो ह वै तत्परम ब्रह्म
षेद ब्रह्मैव भवति” (सु० उ०

३।२।९) “स यो ह वै
तदच्छाममधरीरमलाहितं शुभ्र
मधरं षदयते यस्तु साम्य”
(प्र० उ० ४।१०) । “स सर्व
मवैति ॥” “तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा

मा वो मृत्युः परिव्यथाः” (प्र०
उ० ६।६) । “तत्र को माहः
कः शोक एकत्वमनुपश्यतः”

(ईशा० ७) । “षिषयामृतमन्नुत”

(ईशा० ११) । “भूतेषु भूतेषु

बुद्धिरूप गुह्यमे छिया गुहा जानता
है, हे सोम्य ! वह अधिधारूप
प्रन्धिको छिन्न भिन्न कर ता है”,

“उस पराधर (ब्रह्माणि देक्ताओंसे
भी उचम) परमात्मका साक्षात्कार
कर लेनेपर इसके हृदयकी प्रन्धि
टूट जाती है सारे संशय धट जाते
हैं तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते
हैं”, “जिस प्रकार नदियाँ बहती
हुई अपने नाम और रूपको छोड़कर
समुद्रमें लीन हो जाती हैं उसी
प्रकार विद्वान् नाम और रूपसे मुक्त
होकर परसे भी पर दिव्य पुरुषको
प्राप्त हो जाता है”, “वह जो कि
उस परब्रह्मको जानता है, ब्रह्म ही हा
जाता है”, “ह सोम्य ! जो भी उस
अध्याधीन, अशरीर, अश्लेषित, शुद्ध
अक्षर ब्रह्मको जानता है [वह सर्वज्ञ हो
जाता है]” “वह सब कुछ जानता
है”, “उस ज्ञाननयेम्य पुरुषको
जान, जिससे मृत्यु तुसे व्यपित न
करे”, “उस अवस्थामें एकत्व देखने
व्यले पुरुषको क्या मोह और क्या
शोक हा सकता है । ज्ञानसे
अमृतत्व प्राप्त होता है”,

“शुद्धिमान् गउसंसनस्त प्रागियोर्मे

विधित्य धीराः प्रत्यास्माहोकाद
 मृता भवन्ति।" (के० उ० २।५)
 "अपहृत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गो
 लोके व्यये प्रसिद्धिष्ठिति" (के०
 उ० ४।९)। "तन्ममा अमृता वै
 वधुषुः" (श्वेता० उ० ५।६)।
 "तदात्मवत्त्वं प्रसमीक्ष्य वही एक
 कृतायो भवते वीवशोकः"
 (श्वेता० उ० २।१४)। "य
 एतद्विदुरसतास्ते भवति" (वृ०
 उ० ४।४।१४)। "ईर्षं तं
 ज्ञात्वामृता भवन्ति" (श्वेता०
 उ० ३।७)। "तदेवोपपन्ति"।
 "निषाय्येमां ज्ञातिमत्यन्तमेति"
 (क० उ० १।१।१७)। "तमेवं
 ज्ञात्वा मृत्युपाशाच्छिन्नधि"
 (श्वेता० उ० ४।१५)। "मे पूर्वं
 इवाश्रययन्न सं विदुः" (श्वेता०
 उ० ५।६)। "तेषां ज्ञान्ति शम्भती
 नेतरेषाम्" (क० उ० २।२।१३)।
 "बुद्धियुक्तो जहातीह
 उमे सुकृतदुष्कृते ।"
 (गीता १।५)
 "कर्मजं बुद्धियुक्ता हि

उपश्रम्यन्कर [मृत्युके पश्चात्] इस
 श्लोकसे जाकर अमर हो जाते हैं,
 "[जो परमप्रियकाके जानना है
 वह] पापको त्यागकर विनाशरहित
 सुखमय स्वप्नप्रकार परम महान्
 महान् प्रतिष्ठित होता है", "मे
 महासुररूप होकर निश्चय ही अमर
 हो गये", "उस आत्मतत्त्वका
 साक्षात्कार कर कर्ये देहधारी जीव
 कृतकृत्य और शोकरहित हो जाता
 है", "जो इसे जानते हैं, अमर हो
 जाते हैं", "उस ईश्वरको जानकर
 अमर हो जाते हैं", "उसीको प्राप्त
 होते हैं", "इसे अनुभव करके जीव
 परमस्तान्ति प्राप्त करता है", "उसे इस
 प्रकार जानकर यह मृत्युकर्मबन्धनोंको
 काट देता है", "पूर्वकाकर्मों जिन
 देवता और ऋषियोंने उसे जाना
 [वे अमर हो गये], "[जन्मी
 बुद्धिमें स्थित उन परमप्रियको जो
 देखते हैं] उन्हें ही नित्य शास्त्रि
 प्राप्त होती है औरोंको नहीं।

"सम्प्रयोगनियमक बुद्धिसे युक्त
 हुआ पुण्य [ज्ञान-प्राप्तिके द्वारा]
 पुण्य और पाप दोनोंको इसी श्लोकमें
 त्याग देता है, सम्प्रयोगबुद्धिसे युक्त

फलं त्यक्त्वा मनीषिष ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः

पद गच्छन्त्यनामयम् ॥”

(गीता २ । ५१)

“सर्वं ज्ञानप्रवेनेष
इजिन सतरिप्यसि ।”

“ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि
ममसात्कुरुते तथा ।”

(गीता ४ । ११-१०)

“एतद्वृषुष्या बुद्धिमान्स्या-
त्कृतकृत्यश्च भारत ।”

(गीता १५ । २)

“सतो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा
विद्यते सदनन्तरम् ।”

(गीता १८ । ५५)

“सर्वेषामपि चैतेषा
मात्मज्ञान परं स्मृतम् ।

तद्विषयं सर्वविद्यानां
प्राप्यते ह्यमृत यतः ।

प्राप्यंतकृतकृत्यो हि
द्विसो भवति नान्यथा ॥

एव य सर्वभूतेषु
पश्यत्पारमानमात्मना ।

स सर्वसमतामेत्य
ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः
कर्मभिर्न निबध्यत ।

पुरुष कर्मजनित फल (इष्टानिष्ट
देहकी प्राप्ति) को त्यागकर ध्यानी

हो जीते-जी जन्म-बन्धनसे मुक्त
होकर समस्त उपद्रवोंसे रहित मोक्ष-

नामक परमपद प्राप्त करते हैं”,

“य ज्ञानरूप मौक्तिके द्वारा ही
सम्पूर्ण पापोंके पार हो जायगा”,

“उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि
सम्पूर्ण कर्मोंको मल (निर्वाज)

कर देता है”, “हे भारत ! इस
गुणवत्तम शास्त्रको जानकर ही मनुष्य

बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है”,

“किर मुझ तत्त्वतः जानकर तत्त्वतः
मुझहीमें प्रवेश कर जाय है”, “इन

सब साधनोंमें अत्यन्त ही उत्कृष्ट
मना गया है तथा सम्पूर्ण विधाओंमें

भी यही सबसे बड़कर है, क्योंकि
उससे अपूर्वकरी प्राप्ति होती है ।

इसे प्राप्त कर लेनेपर ही द्विज कृत-
कृत्य होता है, अन्य किसी प्रकार

नहीं । इस प्रकार जो मन-ही-मन
सम्पूर्ण प्राणियोंमें अरथाको ही देखता

है वह सबमें साम्यबुद्धिको प्राप्त करके
सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाय है,
तथा सम्यग्दर्शसे सम्यग् ज्ञानके
कारण वह कर्मोंसे बन्धनको प्राप्त

दर्शनेन विहीनस्तु
 संसार प्रतिपद्यत ॥”
 “कर्मणा बध्मते अन्तु
 विघ्नया च विमुच्यते ।
 तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति
 यतयः पारदर्शिन ॥
 ज्ञान निःश्रेयसं प्राहु
 ईदा निश्चयदर्शिनः ।
 तस्मान्ज्ञानेन छुद्देन
 मुष्मत् सत्रपाठकैः ॥”
 “एव मृत्युं व्यायमानं विदिस्वा
 ज्ञानेन विद्वांस्त्वय अम्येति नित्यम् ।
 न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पञ्च-
 स्तं मत्वा कबिरास्ते प्रसन्नः ॥”
 “धर्मज्ञस्येवाज्ञाना
 द्विशुद्धिः परमा मता ॥”
 “अयं तु परमो धर्मो
 यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥”
 “आत्मज्ञः शोकसंतीर्णा
 न विमेति कुतश्चन ।
 मृत्योः सकृद्गान्मरणा
 दयवन्त्यकृताद्भवत् ॥”
 “न जायते न म्रियत
 न कम्पो न च घातक ।
 न कम्पो न भङ्गकारी वा
 न मुक्तो न च माद्यद ॥
 पुरुष परमात्मा तु
 (- यदताऽन्यद्दमय सत् ॥”

नहीं जाता । जो पुरुष इस दृष्टिसे
 रक्षित है वह ससारको प्राप्त होता
 है”, “जीव कर्मसे बँधता है और
 ज्ञानसे मुक्त हो जाता है, इसलिये
 पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते ।
 विशुद्धि प्राचीन व्याचार्योनि
 ज्ञानको ही मोक्षका साधन कतजाया है,
 अतः छुद्दे ज्ञानसे जीव सम्पूर्ण पापोंसे
 मुक्त हो जाता है”, “इस प्रकार
 मृत्युको बन्धन होनेवाली जानकर
 विद्वान् ज्ञानके द्वारा नित्य तेज
 स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है, इसका
 सिद्धा उसको जिये कोई और मार्ग
 नहीं है, उसे जान लेनेपर विद्वान्
 प्रसन्नचित्त हो जाता है”
 “परमात्माके ज्ञानसे जीवकी आत्म-
 न्तिकी शुद्धि मानी गयी है”,
 “योगसाधनके द्वारा आत्माका
 साक्षात्कार करना—यही परमधर्म
 है”, “जानकारी शाकसे पार
 होकर मृत्यु मरण अथवा किसी
 अन्य कारणसे होनेवाले भय—
 इनमेंसे किसीसे भी नहीं डरता”,
 “परमात्मा न उत्पन्न होता है, न
 मरता है, न मरता जाता है और न
 मरता है, वह न तो बँधा जानेवाला
 है और न भँभनेवाला है तथा न मुक्त
 है और न मोक्षप्राप्ती ही है, उससे
 भिन्न जो कुछ है वह अस्तव्य ही है ॥”

एवं भुविस्मृतीतिहासादिषु
ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वावगमा
भुज्यते एवोपनिषदारम्भः ।

किंचोपनिषत्समाख्यस्यैव ज्ञान
स्यैव परमपुरुषार्थ
साधनत्वमव
गम्यते । तथा हि
उपनिषदिस्तुपनिपूर्वस्य सदेवि
श्रवणस्थवसादनार्यस्य रूपमा-
ख्यत । उपनिषच्छब्दन व्याधि-
रुमासितग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तुविषया
विधोष्यते । तादर्थ्यात्प्रत्याऽप्यु-
पनिषत् । ये सुप्रबोधो दृष्टानु-
भविकृषिपयवितृष्याः सन्त उप-
निषच्छब्दितविद्यो तन्निष्ठतया
निश्चयेन क्षीलयन्ति तेषाम
विधादेः संसारबीजस्य विश्वरणा-
दिनाशात्परब्रह्मगमयितृत्वाद्गर्म-
बन्धमरामरणाद्युपद्रवावसादयितृ

इस प्रकार धृति, स्मृति और
इतिहासादिमें ज्ञान ही मोक्षका
साधन जाना जाता है, वरत इस
[ज्ञान-साधक] उपनिषद्के आरम्भ
करना उचित ही है ।

इसके सिवा उपनिषद् मामसे
भी ज्ञानका ही परमपुरुषार्थमें साधन
होना जाना जाता है । जामनेका
प्रकार यह है—उपनिषद्—यह
उप और नि उपसर्गपूर्वक विशरण,
विनाश, गति और अवसादन
(अन्त) अर्थवाले सब बातका
रूप वस्तुआया जाता है । उपनिषद्
शब्दसे, इन जिस प्रणाली व्याख्या
करना चाहते हैं उसके द्वारा प्रतिपाद्य
वस्तुको जिस करनेवाले ज्ञानका
कर्मन होता है । उस ज्ञानकी प्राप्ति
ही इसका प्रयोजन है इसलिये यह
ग्रन्थ भी उपनिषद् कहा जाता है ।
जो मोक्षकारी पुरुष दृष्ट और मृत
क्रियसे निरुक्त हो उपनिषद् शब्दसे
कही जानेवाली विद्याका निश्चयपूर्वक
तत्परतासे अनुशीलन करते हैं
उनकी संसारकी बीजमूलावधिपादि
का विशरण—विनाश हो जानेके
कारण, उन्हें परब्रह्मके पास ले
जानेवाली होनेसे और उनके जन्म-
मरणदि उपद्रवीका अवसादन (अन्त)

स्वादुपनिपत्समास्ययाप्यन्यकृता
स्परं धेय इति ब्रह्मविद्योपनिप
दुच्यते ।

ननु भवेदेवमुपनिपदारम्भो
कर्मण्यदि विज्ञानस्यैव
मोक्षसाधनस्य भवेत् ।
किञ्चोप न चैतदस्ति । कर्म-
णामपि मोक्षसाधनत्वावगमात्—
“अपाम भोमममृता अपूम ।”
“अक्षर्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिन
सुकृत भवति” इत्यादिना ।

न स्वेतदस्ति, भृतिस्मृतिविरो
धान्पायविरोधात् ।
भृतिविरोधत्वात्—
“सद्यपेह कर्मविता लोक
धीयत एवमेवाभुय पुण्य
वितो लोक धीयत” (छा० उ०
८।१।६) । “तमेष विद्वान्
मृत इह भवति” (नृसिंहपूर्व०
१।१६) “नान्य पथा विद्यत
ऽयनाय” (इत्ता० उ० ६।१५)

करनेवाञ्छी होनेके कारण यह उपनिषद्
है, इस प्रकार नामसे भी अन्य सब
साधनोंकी अपेक्षा परम धेयस्वर
होनेके कारण ब्रह्मविद्या ‘उपनिषद्’
कही जाती है ।

पूर्व०—यदि विज्ञान ही मोक्षका
साधन होता तो इस प्रकार (इस
उपनिषदे) उपनिषद्का आरम्भ
क्रिया या उक्त्या या, किन्तु ऐसी
बात है नहीं, क्योंकि “कृमने
सोमपान क्रिया है, जन इम जमर
हो गये हैं”, “चातुर्मास्ययाग करने
वालेका पुण्य अक्षय होना है”
इत्यादि वाक्योंसे कर्मोंका भी
मोक्षसाधनत्व स्वीकार किया गया है ।

सिद्धान्ती—उसी बात नहीं है,
क्योंकि इससे भृति-स्मृतिपूर्वक
विरोध है और यह युक्तिसे भी
विरुद्ध है । भृतिविरोध तो इस
प्रकार है—“जिस प्रकार यह कर्म-
द्वारा उपाहित छोट छोटा हो जाता
है उसी प्रकार यह पुण्यद्वारा प्राप्त
लाभ भी छोटा हो जाता है”,
“उसीप्रकार जलनेवाला पुरुष इस
छोटासे जमर हो जाता है”,
“मोक्षप्राप्तिके लिये कोई दूसरा मार्ग
नहीं है”, “कर्म, प्रया अपना बनसे

एव धृतिस्मृतीतिहासादिषु
ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वावगमा
शुन्यत एषोपनिषदारम्भः ।

किंचोपनिषत्समाख्यस्यैव ज्ञान
अधिष्ठानत्वात् स्यैव परमपुरुषार्थ
गति साधनत्वात् साधनत्वमव
शुन्यतयापत्तवत् गम्यते । तथा हि
उपनिषदित्युपनिषदस्य सद्वि
श्वरव्यवस्थासदानार्थस्य रूपमा
व्यहते । उपनिषच्छब्देन व्याधि-
क्यासितप्रत्ययप्रतिपाद्यस्तुतिपया
विद्योन्पते । तादृश्याप्रत्ययोऽप्यु
पनिषत् । यं ब्रह्मवशात्प्राप्तु
भविष्यद्विषयवितृष्णाः सन्त उप
निषच्छब्दितविद्यां तस्मिंश्च
निधयेन शीलयन्ति तेषाम-
विधादेः संसारबीजस्य विध्वंस्या
दिनाद्यास्परमार्थगमयित्वाद्गर्म
बन्धनमरामरणाद्युपद्रवत्वसादपित्

इम प्रकार धृति, स्मृति और
इतिहासादिमें ज्ञान ही मोक्षका
साधन जाना जाता है, अतः इस
[ज्ञान-साधक] उपनिषद्को आरम्भ
करना उचित ही है ।

इसके सिवा उपनिषद् नामसे
ही ज्ञानका ही परमपुरुषार्थमें साधन
होना जाना जाता है । नामके
प्रकार यह है—उपनिषद्—यह
उप और नि उपसर्गपूर्वक विसरण,
विनाश, गति और व्यवसादन
(अन्त) अर्थवाले सूत्र वाक्य
रूप वक्तव्य जाता है । उपनिषद्
शब्दसे, हम जिस प्रणप्ती व्याख्या
करना चाहते हैं उसके द्वारा प्रतिपाद्य
स्तुको विषय करनेवाले ज्ञानका
कर्म होता है । उस ज्ञानकी प्राप्ति
ही इसका प्रयाजन है इसलिये यह
कर्म भी उपनिषद् कहा जाता है ।
जो मोक्षकारी पुरुष इष्ट और मुक्त
विरयसे विरक्त हो उपनिषद् शब्दसे
कही जानेवाली विधाका निष्कर्षक
कार्यतासे अनुशीलन करते हैं
उनकी संसारकी बीजमूल्य बन्धनादि
का विसरण—विनाश हो जानके
विरण, उन्हें परमात्मके प्राप्त के
जानेश्चामी होनेसे और उनके अन्त-
मरणदि उपद्रवोंका व्यवसादन (अन्त)

त्वाद्गुणनिपस्तमाख्ययाप्यन्यकृता
स्पर्धेय इति ब्रह्मविद्योपनिष
दुच्यते ।

ननु भवेदेतद्गुणनिपदारम्भो
कल्पयति यदि विज्ञानस्वैयं
सोऽसाधनत्वं भवेत् ।
अन्वेषेण न चैतदस्ति । अन्वेष-
यामपि मोक्षसाधनत्वावगमात्—
"अपाम सोमममृता ममूय ।"
"अद्यत्य इ वै चातुर्मास्ययाजिनः
सुकृतं भवति" इत्यादिना ।

न त्वैतदस्ति, धृतिस्मृतिविरो
धाभ्यापविरोधात् ।
धृतिविरोधस्तावत्—
"तद्यप्येह कर्मभित्ता लोक
क्षीयत एवमेवायुत्र पुण्य
क्षितो लोक क्षीयते" (छा० उ०
८।१।६) । "तमेवं विद्वान-
मृत इह भवति" (नृसिंहपूर्व०
१।१६) "तान्यः पथा विद्यत
अनन्य" (इबता० उ० ६।१५)

करनेवाची होनेके कारण यह उपनिषद्
है; इस प्रकार नामसे भी अन्य सब
साधनोंकी अपेक्षा परम श्रेयस्कार
होनेके कारण ब्रह्मविद्या उपनिषद्
कही जाती है ।

पूर्व०—यदि विज्ञान ही मोक्षकर
साधन होता तो इस प्रकार (इस
उद्देश्यसे) उपनिषद्का वास्तव
किया जा सकता था, किन्तु ऐसी
बात है नहीं क्योंकि "हमने
सोमपान किया है, अतः हम अमर
होगे हैं", "चातुर्मास्ययाग करने-
वालेका पुण्य अक्षय होना है"
इत्यादि वाक्योंसे कर्मोपमा की
मोक्षसाधनत्व स्वीकार किया गया है ।

सिद्धांती—ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि इससे धृति-स्मृतिवैयर्थ्य
विरोध है और यह युक्तिसे भी
विरुद्ध है । धृतिक्रम विरोध तो इस
प्रकार है—"जिस प्रकार यह कर्म-
शर उपाहित लोक क्षीण हो जाता
है उसी प्रकार यह पुण्यशर श्रेष्ठ
लोक भी क्षीण हो जाता है"
"उसीका नामनेवाला पुण्य
लोकमें अमर हो जाय"
"मोक्षवास्तविके लिये कर्मोपमा
नहीं है", "कर्म, अमरत्व"

“न कर्मणा न प्रथया धनेन
 त्यागेनैक असूतस्वमानसु” (कैव०
 ३)। “पुत्रा ह्यते अष्टा यद्
 रूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
 एतच्छ्रया येषामिन दन्ति मृदा
 ज्वरामृत्यु ते पुनरवापियन्ति”
 (मु० उ० १।२।७)। “ना-
 स्त्यकृतः कृतेन” (मु० उ० १।
 २।१२)।

“कर्मणा बध्यते धन्तु
 विद्यया च विमुच्यते।
 तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति
 यतप पारदर्शिनः ॥”

“अज्ञानमलपूर्णत्वात्
 पुराणो मलिन स्मृतः।
 तत्त्वयाद् भव मुक्ति
 नान्यथा कर्मकोटिभिः ॥”

“प्रथया कर्मणा मुक्ति-
 धनेन च सतां न हि।
 त्यागनैकेन मुक्तिः सा
 चक्षुभावे अमन्त्यहो ॥”

“कर्मोदये कर्मफलानुरागा
 स्तथानयन्ति न तरन्ति मारयन्”

नहीं, किन्हीं-किन्हींन त्यागसे ही
 अमरत्व प्राप्त किया है”, “अभिपर
 ज्ञानकी अपेक्षा निरूद्ध अणीकता कर्म
 अकर्मिस्त कहा गया है वे [सोऽह
 अस्मिन् यजमान और यजमानरूनी—]
 ये यज्ञके अठारह रूप अस्तिर एवं
 नाशवान् हैं, जो मूढ षष्ठी श्रेय है,
 ऐसा म्यानकर प्रसन्न होते हैं व फिर भी
 जरा-मरणको प्राप्त होते हैं”, “अस
 संसारमें कोई नित्य पदार्थ नहीं है,
 अतः [अनित्य फलके साधक]
 कर्मसे हमें क्या प्रयोजन है !”

[अथ सृष्टिकार विरोध सिद्धयते
 हैं—] “जीव कर्मसे बँधता है और
 ज्ञानसे मुक्त हो जाता है, इसीसे
 पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते”,
 “अज्ञानरूपी मग्नेसे पूर्ण होनेके
 कारण वह पुरस्त्तन और मलिन
 माना जाता है, उस मलका क्षय
 होनेसे ही इसकी मुक्ति होती है,
 अन्यथा कर्मोंसे भी इसका
 छुटकारा नहीं हो सकता”,
 “सुपुरुषोंकी मुक्ति प्रथा, कर्म अथवा
 धनसे नहीं होती, एवमात्र त्यागसे
 ही होती है; त्याग न होनेपर तो वे
 मरते ही रहते हैं”, “कर्मका
 उदय होनेपर उसके फलमें अनुराग
 होता है, अतः उमीका अनुगमन
 करते हैं, मारके पारमार्थी पर गत”.

“ज्ञानेन विद्वांसोऽत्र धर्म्येति नित्यं
न विद्यते धर्म्यथा तस्य पथाः ॥”

“एवं प्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागत कामकामा लभन्ते ॥”
(गीता १ । २१)

“भ्रमार्थमाभ्रमाभापि
वर्णानां परमार्थतः ॥”

“आभर्मर्न च धेदैश्च
यज्ञैः सांख्यैर्व्रतैस्तथा ।

उग्रैस्तपोभिर्विधिवै
दानैर्नास्ति चैरपि ।

न लभन्ते धर्मारम्भानं
लभन्तु ज्ञानिनः स्वयम् ॥”

“प्रयीधर्ममधर्मार्थं
किंपाकफलसंनिभम् ।

नास्ति तत्त सुखं किञ्चि
दत्र दुःखमवाङ्मुते ॥

तस्मान्मोक्षाय यत्तथा
कर्म संन्या मया प्रयी ॥”

“अज्ञानपाठवद्वत्त्वा
दसृकः पुरुष स्मृतः ॥
ज्ञानाचक्ष निवृत्तिः सा

“ज्ञानक द्वारा विद्वान् नित्य
प्रकारशक्ते प्राप्त होता है, इसके
नित्य उत्पन्न कार्य और मार्ग नहीं
है,” “यस प्रकार केवल प्रयीधर्म
(वैदिक कर्म) में होने रहनेवाले
सकल पुरुष आशागमनको प्राप्त होते
हैं”, “अस्तु तो ब्राह्मणादि वर्णोंके
ब्रह्मधर्मादि आश्रम भी केवल धर्मके
ही लिये हैं”, “आश्रमोंसे, वेदोंसे,
यज्ञोंसे, सांख्यसे, व्रतोंसे, मन्त्रा
प्रकारकी मीरण तपस्याओंसे और
अनेकों प्रकारके दानोंमें श्रोग उस
आश्रमको प्राप्त नहीं कर सकते
किन्तु ज्ञानी उसे शक्त प्राप्त कर
लेने हैं”, “प्रयीधर्म अधर्मकर ही
होना है यह किंवाक (सेमर)
परके समान है । हे तात ! एकको
दु सोंसे पूर्ण इस कर्मकाण्डमें कुछ
भी सुख नहीं है, अत मोक्षके
लिये प्रयत्न करनेवाला मैं प्रयीधर्मका
किंत प्रकार सेवन कर सकता हूँ”,
“अज्ञानरूपी बन्धनसे बँधा होनेके
कारण जीव अमुक्त माना गया है,
उस बन्धनकी निवृत्ति ज्ञानसे ही
सकती है, किंतु प्रकृत कि प्रकारसे

त्यक्तशास्त्रममो यथा ।

तस्यान्धानेन मुक्तिः सा

दज्ञानस्य परिश्रयात् ॥”

“व्रतानि दानानि तर्पांसि यज्ञाः

सर्वं च तीर्थाभ्यमकर्मयोगाः ।

स्वर्गार्थमेवाशुभमधुव च

ज्ञानघुवं शान्तिफलं महार्थम् ॥”

“यज्ञैर्देषत्वमाप्नोति

तपोभिर्भिक्षण पदम् ।

दानेन विविधान्भागा

ज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात् ॥”

“भ्रमरन्वा प्रजेर्धर्म

पापरन्वा प्रजेदधः ।

द्वयं ज्ञानासिना शिष्या

त्रिदेहः शान्तिमृच्छति ॥”

“त्यज्य धर्ममधर्मं च

उमे सत्यानृते त्यज्य ।

उम सत्यानृते त्यक्त्वा

येन त्यज्यसि तस्यच ॥”

एवं श्रुतिस्मृतिविरोधात् कर्म

साधनममृतत्व न्यायविरोधात् ।

कर्मसाधनत्वे मोक्षस्य चतुर्विध

व्यवहारकी । अतः अज्ञानका

पूर्णतया क्षय ज्ञानपर ज्ञानसे ही

मुक्ति होती है,” “अन्न, दान, तप,

यज्ञ, सत्य, तीर्थ, आश्रम और

कर्मयोग—यं सब सर्गिक ही हेतु हैं,

अतः अशुभ (अकल्पाणकर)

और अनित्य हैं । किन्तु ज्ञान नित्य,

शास्त्रिकारक और परमार्थरूप है”,

“मनुष्य यज्ञोक्ति द्वारा देवता प्राप्त

करता है, तपस्यसे ब्रह्मलोक प्राप्त

है, दानसे तद्वृत्त-वृत्तके भोग प्राप्त

करता है और ज्ञानसे मोक्षपद प्राप्त

है”, “धर्मकी रस्तीसे पुरुष ऊपरकी

और जात्य है और पापरज्जुसे अधी

गतिसे प्राप्त होता है, परन्तु जो इन

दोनोंके ज्ञानरूप सङ्गसे कष्ट देता

है वह देवानिमानमे रहित होकर

शास्त्रि प्राप्त करता है”, “धर्म-अधर्म

दोनोंका त्याग करत तथा सत्-असत्

दोनोंहीसे मुक्त मोक्ष लो, इस प्रकार

सत्-असत् दोनोंकी वास्त्वा छेड़कर

त्रिस (त्यागभिमान) के द्वारा उनका

त्याग करते हो उसे भी त्याग दी ।”

इस प्रकार श्रुति और स्मृतिवैशि

ष्टिरीय होनेके कारण तथा मुक्तिसे

भी विरुद्ध होनेसे अमृतत्व कमलाप्य

नहीं है । यदि उसे कर्मसाध्य माना

जायगा तो मोक्ष भी चार प्रकारकी

क्रियान्तर्भावान्निस्तरुं स्यात् ।

यत्कृतकं तदनिन्त्यमिति कर्म

साध्यस्य नित्यत्वादर्थनात् ।

नित्यस्य मोक्ष सर्वथादिभिरभ्युप

गम्यते । तथा च धृतिभातुर्मा

स्वप्रकरणे—प्रजामनु प्रमायसे

तद् त मर्यामृतमिति । किंच,

सुकृतमिति सुकृतसाध्यत्व

सुच्यते । सुकृतशब्दस्य कर्मणि ।

नन्वेवं तर्हि कर्मणा देवादि

प्राप्तिहेतुत्वेन बन्धहतुत्यमव ।

सत्यम्, स्वता बन्धहतुत्व

मेव । तथा च धृतिः—“कर्मणा

क्रियाओंक अन्तर्गत होनेसे अनित्य हो जायगा, क्योंकि 'जा क्रियासाध्य होता है वह अनित्य होता है' इस नियमके अनुसार क्रियासाध्य वस्तुकी नित्यता नहीं देखी जाती । किन्तु मोक्षकर्म तो सभी सिद्धान्तवाच्योन्निन्त्य माना है । चातुर्मास्ययोगके प्रकरणमें देखी श्रुति भी है कि 'दे मय्य ! त पुन पुत्रव्यसे उत्पन्न होता है, यही तेरा जन्मत्व है ।" तथा "सुकृतम्" (अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययात्रिन सुकृतं भवति) इस श्रुतिमें सुकृतकर्म अक्षय्यत्व वस्तुत्वका गया है और 'सुकृत' शब्द कर्मके अर्थमें प्रयुक्त होगा है ।

सङ्गा—तब इस प्रकार तो देववाणिकी प्राप्तिसे हेतु होनेसे कर्म बन्धनके ही कारण सिद्ध होते हैं ।

समाधान—सचमुच स्वयं तो वे बन्धनके ही कारण हैं । ऐसा ही श्रुति भी कहती है—“कर्मसे

१ उत्पाद्य विभाव संस्कारों और प्राप्त वे चार प्रकारके क्रियाफल हैं । जब कोई अभियोग्य बस्तु क्रियाशय उत्पाद्य की जाती है तो तब उत्पाद्य करते हैं जैसे पट पट आदि । एक बस्तुका दूसरे रूपमें परिवर्तन करनेपर जो फल प्राप्त होता है उसे विभाव कहते हैं जैसे हारको गन्नाकर उसका कट्टण बना दिया जाय । दोनको हलन्त और गुणको प्रकट कर देना संस्कारों है जैसे किसी वर्णवर्णको फिलकर उसका मेष इत्यादि का रूप और उसमें बन्धन पैदा कर ही जाय । किसी अयाध्य वस्तुको क्रियाशय प्राप्त करना यह प्राप्त विभावक है जैसे गन्नाक्रियाके द्वारा किसी आमविद्येमें पहुँचना ।

पितृलोक" (सू० उ० १।५।
१६)। "सर्व एते पुण्यलोक
भवन्ति" (छा० उ० २।२३।
१)। "इथापूर्ते मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यन्कुरी भदयन्ते प्रमूढा ।
नाहस्य पृष्ठं वै सुकृतेऽनुभूस्वेमं
लोकं हीनतरं वा विद्वन्ति" (सू०
उ० १।२।१०)।

"एव कर्मसु निःस्नेहा
ये केचित्पारदर्शिनः ।"
"विद्यामयोऽयं पुरुषो
न तु कर्ममयः स्मृतः ॥"
"एव त्रयीधर्ममनुप्रपञ्चा
गतागते कामकामा उभन्ते"
(गी० ९।११)
इति ।

यदा पुन कसन्निरपद्यमीष
राध कषातुविद्वन्ति तदा मोक्ष
माभनदानमाभनान्तःकरणगुदि
साधनपारम्पर्येण मोक्षसाधनं
भवति । तथाह भगवान्—
"प्रज्ञाप्याथाय कर्माणि

पितृलोक प्राप्त होता है", "ये सब
पुण्यलोकके ही भागी होते हैं",
"शुद्ध और श्रुतकर्मीके ही सर्वश्रेष्ठ
समझनेवाले मूढ़ पुरुष किसी अन्य
श्रेय साधनको नहीं जानते, वे लोग
स्वर्गलोकके उच्च स्थानमें अपने पुण्य-
कर्मके उपभोगके लिये प्राप्त दिव्य
देहमें पुण्यकर्म भोगकर इस मनुष्य-
लोकमें या इससे भी निम्न लोक
(पशु पक्षी आदि योनि अपना
नरक) में प्रवेश करते हैं", "इस प्रकार
जो कोई कर्ममें अनासक्त होते हैं वे
ही परमर्षी होते हैं", "यह पुरुष
ज्ञानस्वरूप है, यह कर्मप्रधान नहीं
माना जाता", "इस प्रकार त्रयीधर्म
(वेद आदि कर्म) में लपर रहनेवाले
सर्वत्र पुरुष आशागमनपर प्राप्त होने
रहते हैं" इत्यादि ।

कित्तु जब कोई पुरुष कष्टकी
इच्छा न रखकर कसल भावनाके
लिये ही कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं
तो वे मोक्षके साधन ज्ञानकी साधन-
मूला अन्त-व्रतण-शुद्धिके साधन
होकर परम्परामें मोक्षके साधन होते
हैं । ऐसा ही भगवान्ने कहा है—
"जो पुरुष [कर्मन्यायी] आसक्ति
छेड़कर भावनाके गर्भण

सङ्ग त्यक्त्वा करोति य ।
 लिप्यते न स पापेन
 पञ्चपत्रमिवाम्भसा ॥
 क्लयेन मनसा बुद्ध्या
 केवलैरिन्द्रियैरपि ।
 योगिन कर्म कुर्वन्ति
 सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥”
 (गीता ५।१-२२)

“यत्करोषि सुदभासि
 यज्जुहोसि ददासि यत् ।
 यत्तपस्यसि कान्तेय
 तत्कुरुष्व महर्षणम् ॥
 शुभाशुभफलैरेवं
 मोक्षयसे कर्मबन्धनैः ।
 संन्यासयोगयुक्तात्मा
 विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥”
 (गीता ९।२७-२८)

इति ।

तथा च मोक्षे कर्मं श्रुद्धयभावे
 मोक्षाभाव कर्मभिश्च तच्छुद्धिं
 दर्शयति श्रीविष्णुधर्म—
 “अनूधानस्ततो यज्वा
 कर्मन्यासी ततः परम् ।
 ततो ज्ञानित्स्वमस्येति
 यागी ह्युक्तिं क्रमाश्रमेत् ॥”

पूर्वक कर्म करता है वह जबसे
 कर्मोंके पत्रके समान [उस कर्मके
 शुभाशुभ फलरूप] पापसे विस
 नहीं होता”, “योगयोग फलविरपक
 भासति छोड़कर केवल शरीर, मन,
 बुद्धि और इन्द्रियोंसे अन्त करणकी
 शुद्धिके लिये कर्म नित्या करते हैं”, “हे
 कुन्तीमन्दन! तुम भी कुछ भी कर्म करते
 हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ [द्रव्य
 या स्नातपरूप] हवन करते हो, जो
 कुछ तप करते हो और जो कुछ
 दान देते हो वह सब मुझे अर्पण
 कर दी । ऐसा करनेसे तुम शुभाशुभ
 फलरूप कर्मके बन्धनसे छूट जाओगे
 और संन्यासयोगसे मुक्त हो जीते-जी
 ही कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर देह
 प्राप्त होनेक बाद मुझे ही प्राप्त
 होगे” इत्यादि ।

इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें
 भी मोक्षमें कर्म, विष्णुदिके अन्तर्गमें
 मोक्ष न होना और कर्मोंके द्वारा विष्णुकी
 शुद्धि जाना—ये सब सिद्धये गये
 हैं—“यागी पहले केन्यायी, फिर
 यज्ञकर्ता, तपश्चात् कर्मसंन्यासी और
 फिर ज्ञानित्व प्राप्त करता है इन प्रकार
 वह कर्मता मुक्तिप्राप्त करता है”,

“अनेकवन्मसंसार—

चिते पापसमुच्चये ।
नास्तीमे जायते पुंसां
गोविन्दामिमुस्वी मतिः ॥”

“अमान्तरसहस्रेषु
तपोज्ञानसमाधिभिः ।
नराणां क्षीणपापानां
कृष्ण भक्तिः प्रजायते ॥”

“पापकमाशयो ब्रह्म
महासुक्तिविरोधकृत् ।
तस्यैव क्षमने यत्नः
कार्यः ससारभीरुणा ॥”

“सुवर्णादिमहादान
पुण्यतीर्थविगाहनैः ।
शारीरैश्च महाशुभ्रैः
शास्त्रोक्तैस्तन्त्रमो भवेत् ॥”

“देवताश्रुतिसञ्छात्र
भयणैः पुण्यदर्शनैः ।
गुरुशुभ्रपदैश्चैव
पापबन्धः प्रक्षाम्यति ॥”

यज्ञवल्कपोऽपि शुद्धयपेक्षां
तत्साधनं च दर्शयति—

“कर्तव्याश्चयश्चिद्विस्तु
मिमुक्तेषु विज्ञेयतः ।
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वा-
त्स्वतन्त्रीकरणाय च ॥

(पाठ परिचय १२)

मलिनो हि यथादर्शो
रूपाणोक्तस्य न क्षमः ।

“जबन्त वनेको जन्मे
सांसारिक संसर्गसे सञ्चित हुवा
पापपुत्र क्षीण नहीं होला स्वतः
ओगेकी बुद्धि भवान्की ओर प्रवृत्त
नहीं होती ।” “इतारो जन्मेके
पीछे तपस्या, ज्ञान और समाधिके
द्वारा जिनके पाप क्षीण हो गये हैं
उन्हीं ओगेकी भवान् कृष्णमें मक्ति
होती है ।” “भ्रष्ट लोकमें पापकर्मोंका
संस्कार ही आत्मनित्की मुक्तिका
विरोधी है, अतः संसारसे बरमेवाले
पुरुषको उसीके नारायण प्रपन्न
करना चाहिये ।” “शुवर्णदानादि
बड़े-बड़े दानोंसे, पवित्र तीर्थोंमें
स्नान करनेसे और शास्त्रानुसृत
शारीरिक महान् कर्मोंके सहनसे
उत्तक नारा हो सकता है ।”
“देवाराधन, भुनि और सञ्जोके
श्रवण, पवित्र तीर्थस्थानोंके दर्शन
और गुरुकी सेवा करनेसे भी पापका
बन्धन निवृत्त हो जाता है ।”

पापकल्पनी भी ज्ञानमें चित्त
शुद्धिकी अपेक्षा और उसके साधन
प्रदर्शित करते हैं—“ज्ञानोत्पत्तिकी
हेतु होनेसे मिश्रको सात्त्विक (मुक्ति)
प्राप्त करनेके लिये विशेषरूपसे
चित्तकी शुद्धि ही करनी चाहिये ।
बिना प्रकार मलिन दर्पणमें अपना
रूप नहीं देखा जा सकता उसी

तथानिपककरण

आत्मज्ञानस्य न क्षमः ॥”

(वाङ् यतिवर्म १८१)

“आचार्योपासनं वद

क्षात्कार्यस्य विवेकिता ।

सत्कर्मणामनुष्ठानं

सङ्गं सन्निर्गिरं श्रुत्वा ॥

स्थालोक्तालम्भविगम

सर्वभूतात्मदर्शनम् ।

स्यात् परिग्रहाणां च

क्षीर्णकापायधारणम् ॥

विपयेन्द्रियसरोध

स्तन्द्रालस्यनिवर्जनम् ।

शरीरपरिसंस्नानं

प्रवृत्तिष्वपदर्शनम् ॥

नीरसभ्रमसा सत्त्व

शुद्धिर्निःस्पृहता क्षमः ।

एतैरुपायै संशुद्ध

सत्त्वयोम्यमृती भवेत् ॥”

(वाङ् यतिवर्म १५६-१५९)

“यतो वेदा पुराणानि

विद्योपनिषदस्तथा ।

श्लोकैः सूत्राणि माध्याणि

प्रकारं जिसका अन्त करण परिपक्व

(वासनारहित) नहीं है वह आत्म-

ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं

रखता ।” [अब चित्तशुद्धिक भावन

कलअते हैं—] “शुद्धसेवा, वेद और

शास्त्रके तदुपपन्न विवेचन, शुभयर्मो-

क आचरण, सत्पुरुषोंका संग, अच्छी

भाषी श्रोतना, श्रीमद्भक्तके दर्शन और

स्पर्शका त्याग, समस्त प्राणियोंमें

आत्मवृद्धि करना, परिग्रहका त्याग,

पुराने कपडाय वस्त्र धारण करना,

विनयोंकी ओरसे इन्द्रियोंको रोकना,

सन्ना और आडस्यको त्यागना,

देहतात्त्वका विचार, प्रवृत्तिमें दोष

दर्शन, रजोगुण और तमोगुणका

त्यागद्वारा सत्त्वगुणका बढ़ाना, किसी

प्रकारकी इच्छा न करना और

मनोनिष्क—इस उपायोंके द्वारा

जिसका अन्त करण पवित्र हो गया

है वह योगी अप्रतल (मोक्ष) को

प्राप्त हो जाता है”, “वेद,

पुराण, ज्ञानमय उपनिषद्, श्लोक,

सूत्र, माध्य तथा और भी जहाँ-जहाँ

१ माध्यका अन्त इत प्रकार बताया गया है—

एवमपि परमात्म परे त्वात्तुपरिमा ।

स्वपदानि च वर्णन्ते माध्यं माध्यविदो विदुः ॥

किसमें कि जहाँके पदोंकी संख्या तदनुकूल अर्थ पर (अर्थात् उनके पर्याय-

यथान्यद्वाच्यं कश्चिद् ॥

वेदानुबचनं यज्ञो

ब्रह्मचर्यं तपो दम ।

अद्वोपवासः स्वातन्त्र्य

मात्मनो ज्ञानहेतवः ॥”

(शुक्ल पत्रि १८९१९)

तथा चार्थवर्णे विद्वद्ब्रह्मपेक्ष-
मात्मज्ञान दर्शयति—

“जन्मान्तरसहस्रेषु

यदा क्षीणास्तु किञ्चिपाः ॥

तदा पश्यन्ति योगेन

संसारोच्छेदन महत् ॥”

(वेदविलास १।७८७९)

“यस्मिन्विद्वद्धे विरभे च
चित्ते य आत्मवत्पश्यन्ति यतवः
क्षीणदोषाः ।” “तमर्षं षडानु-
बचनेन ब्राह्मणा विविदिपन्ति
यज्ञान दानेन तपसानाश्रयेन”
(षु० उ० ४ । ४ । २२) इति
बृहदारण्यके विविदिपाहेतुत्वं
यज्ञादीनां दर्शयति ।

जो कुछ शास्त्र हैं वे सब एवं
वेदपाठ, यज्ञानुष्ठान, ब्रह्मचर्य, तप,
इन्द्रियदमन, धन्या, उपवास और
सतत्प्रता (दूसरे किसीकी आशा
न रखना) ये सब आत्मज्ञानके
साधन हैं ।”

इसीप्रकार उपनिषदीय उपनिषद्में
भी ‘आत्मज्ञान विचशुद्धिकी अपेक्षा
रखनावाला है यह लिख्यते हैं—
“जिस समय सबों जर्मोंके जन्मन्तर
पाप क्षीण हो जात हैं उसी समय
पुरुष योगके द्वारा संसारका उच्छेद
करनेवाला [ज्ञानरूप] महान्
साधन देख पाते हैं ।” “जिस
चित्तके शुद्ध और निर्मल हो जानेपर
बिनक दोष क्षीण हो गये हैं वे
यतिजन्म सम्पूर्ण मृत्योका आत्मस्वरूप
ही देखते हैं । बृहदारण्यकमें भी
“उस इस आत्मको ब्राह्मणका वे-
पाठ, यज्ञ, दान, तप और उपवासके
द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं” इस
वाक्यद्वारा भृति यज्ञादिसे विज्ञासास्त्र
हेतु प्रदर्शित करती है ।

वाक्य शब्द) और कुछ स्वामिन्त पद रहते हैं उन्हे भ्रम्यन्त मन्त्र ज्ञानोवाक्य
‘माय्य’ मानते हैं ।

ननु "विद्यां चाविद्यां च
 कर्मण्यमप्य- यस्तद्भेदो मयः सह"
 इत्यादिना (ईशा० उ० ११) ।
 "तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेय
 सकरं परम् ।" इत्यादिना कर्मणाम
 प्यमृतत्वप्राप्तिहेतुत्वमवगम्यते ।

सत्यम्, अवगम्यत एव तद
 लक्षणे पेयितशुद्धिद्वारेण न
 किञ्चिच्छेदेन च साक्षात् । तथा
 न साक्षात् द्वि—“विद्यां चाविद्यां
 च” (ईशा० उ० ११) । “तपो
 विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयसकर
 परम् ।” इत्यादिना ज्ञानकर्मणानिः
 श्रेयसहेतुत्वमभिधाय कथमनयो-
 सद्भेदो मयः इत्यादिना “तपसा
 कर्मणो हन्ति विषयामृतमश्नुते ।”
 “अविषया मृत्युं तीर्त्वा विषया-
 मृतमश्नुते” (ईशा० उ० ११)
 इति वाक्यप्रपञ्च कर्मणः कर्मणो
 धयहेतुत्वं विद्यायाः अमृतप्राप्ति
 हेतुत्वं प्रदर्शितम् । यत्र तु
 शुद्ध्यापयान्तरकार्यानुपदेशस्त
 त्रापि धारवात्तरापसद्धारन्यायनो-

पूर्व—किन्तु “जो विद्या (ज्ञान)
 और अविद्या (कर्म) इन दोनोंका
 साथ-साथ जानता है”, “तप और
 ज्ञान ये ब्राह्मणकर्म नि श्रेयसके उद्भूत
 साधन हैं” इत्यादि वाक्योंसे तो
 कर्मोंका भी अमृतत्वकी प्राप्तिमें हेतु
 होना जान पड़ता है ।

सिद्धांती—ठीक है, ज्ञान का
 पड़ता ही है परन्तु ज्ञानके उचित
 अपक्षित विषयवृत्तियों द्वारा ही कर्मका
 अमृतत्वमें हेतुत्व है, साक्षात् नहीं ।
 इसीसे “विद्यां चाविद्यां च” तथा
 “तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयसकरं
 परम्” इत्यादि वाक्योंसे ज्ञान और
 कर्मका नि श्रेयसमें हेतुत्व बतलानेकर
 ऐसी जिज्ञासा होमेपर कि ये किन्तु
 प्रकार उक्त हेतु हैं—“तपसा कर्मणो
 हन्ति विषयामृतमश्नुते”* और
 “अविषया मृत्युं तीर्त्वा विषयामृत-
 मश्नुते”† इन वाक्यशेरोसे कर्मका
 पानश्रयमें कर्मण्यत्वं और ज्ञानका
 अमृतत्वप्राप्तिमें हेतुत्व प्रदर्शित किया
 है । और भी जहाँ-कहीं शुद्धि वापि
 अन्य कर्मोंका उपाय दिखायी न
 * यहाँ भी शाङ्ख्यशास्त्रप्रसङ्गान्तरापसद्धारन्यायनो-

● तपसे पार नष्ट करता है और ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त करता है ।

† कर्मने [संशयारूप] मृत्युको पार करके ज्ञानम अमृतत्व प्राप्त करता है ।

‡ यहाँ एक ही लक्षिक वाक्य का उपायन्यायनो धारवात्तरापसद्धारन्यायनो-

पसंहारः कर्तव्यः ।

ननु "कुर्वन्नेवह कर्माणि
विद्याया विधीयते च १
मोक्षसाधनत्व
नाधिपति समा" (ईशा० उ०
२) इति यावज्जीवकर्मानुष्ठाननियमे
सति कस्य विद्याया मोक्षसाधनत्वम्?

उच्यते - कर्मण्यधिकृतस्याय
अधेय
परिहरीत नियमो नानधिकृत
सानियोज्यस्य मन्त्रवादिन । तथा
च विदुषः कर्मानधिकारं दर्शयति
श्रुति — "नेतद्विद्वान्पिषा विधय
न रुष्यते विधिना शब्दचार ।"

"एतद् स वै तत्पूर्णे विद्वांसो
अग्निहोत्रं न शुद्धयाश्चकिरे ।" "एतं
वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणा
पुत्रपत्न्यायाश्च विधयपत्न्यायाश्च लार्क-
पणायाश्च ध्युन्त्यायाश्च मिद्याश्च

उसका उपसंहार (संग्रह) कर लेना
चाहिये ।

पूय - किन्तु "काम करते हुए
ही सां कर्मिक जीवित रहनेकी
इच्छा करे" ऐसा जीवनपर्यन्त
कर्मानुष्ठानका नियम रहत हुए ज्ञान
मोक्षका साधन कैसे माना जा
सकता है ?

सिद्धान्ती - कतलाते हैं, यह
नियम कर्माधिकारीक ही छिये है,
जो कर्मके अधिकार और शास्त्राज्ञासे
बाहर है उस मन्त्रवादीके छिये नहीं
है । इसी प्रकार श्रुति भी मन्त्रवादीके
कमन्त्र अधिकारसे बाहर दिखती है ।
"एह मन्त्रवाता श्रुतियोंकी आज्ञाक
अधीन नहीं है और न यह शास्त्रका
अनुयायी होकर उसकी आज्ञासे रुक
ही सपत्ता है, 'इसीछिये पूर्ववर्ती
विद्वान् अग्निहोत्र नहीं करते थे,"
"इस आत्मतत्त्वका ज्ञान लेनेपर
ब्राह्मणश्रेण पुत्रैश्च, वित्तीयण और
श्रेणैश्चको छोड़कर भिक्षाचर्या

हो किन्तु शास्त्रभेदमें इनके एक वा अनुष्ठानकी हीसीमें भेद दिखानी है वही भन्व
वाताम भावे हुए अधिक भराको समिचित करक न्यूनताकी पूर्ति कर लेनी चाहिये ।
इस वातान्तरेकंशास्त्राभाव बदल है । इसका विचार बनन मन्त्रवादीकाके तृतीय
अध्यायके तृतीय श्लोक देखना चाहिये ।

धरन्ति" (सू० उ० ३ । ५ । १)

“एतद् स वै तद्विदांस आहु
श्रुपय कावपया किमर्था षय
मध्येष्यामहे किमर्था षय यस्यामह
स माक्षणः क्व स्याधन स्याचे-
नेष्ट्य षवेति ॥” यथाह भगवान्—

“यस्त्वात्मरतिरेव स्या-

दात्मवृत्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्ट

स्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

नैव षस्य कृतेनार्यो

नाकृतनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु

कश्चिदर्थव्यपाशय ॥”

(गीता १ । १७-१८)

तथा चाह भगवान्परमेश्वरा

लैङ्ग कालकूलापात्म्याने—

“ज्ञानेनैतन्न विप्रस्य

स्पृच्छमुद्गस्त देहिनः ।

कर्तव्यं नास्ति विप्रत्रा

अस्ति चैतस्यविप्र च ॥

इह ताके पर नैव

कर्तव्यं नास्ति तस्य वै ।

आवमुक्ता यतस्तु स्या

दृष्टवित्परमार्थव ॥

करते हैं,” “अज्ञवेत्ता कावप्य
श्रुतियोनि से यही कहा है—हम
किस प्रयोजनक लिये अध्ययन करें
और किस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये यह
करें ? वह किस प्रकार कल्पनिष्ठ हो
सकता है, जिस प्रकार भी हो एसा
(सकलपापी) ही होगा ॥” अज्ञा
कि श्रीमन्वान् भी कहते हैं—

“जो पुरुष आत्मामें ही प्रम
करनेवाला, आत्मामें ही तुल
और आत्मामें ही संतुष्ट है, उसके
लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है । उस
पुरुषका इस लोकमें कर्म करनेसे
कोय प्रयोजन नहीं है और कर्म न
करनेसे यहाँ उसे प्रथमव्य आदि
स्मरणकी भी प्राप्ति नहीं होती ।
तथा नशूर्ण मूर्तेमें उसका पर अर्थ
व्यपाशय (अपसिद्धिवा सहाय)
भी नहीं है ॥”

श्रुतिपुराणमें ब्राह्मण्ट्रेयोपास्यमानमें
एसा ही भगवान् महेश्वर भी कहते
हैं—“इ दिनेष्ट्या । इस ज्ञानक
द्वारा नि मुंदा रूप बीरका कोई
कर्तव्य नहीं रहता, यदि रहता है
तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है । उसे इस
लोक और परलोकमें भी कोई कर्तव्य
नहीं है, क्योंकि आत्मामें अज्ञवेत्ता
तो जीव रूप ही मुक्त हो जाता है ।

ज्ञानाम्पासरता नित्यं
 विरक्तो धर्षवित्त्वयम् ।
 कर्तव्यभावमुन्सृज्य
 ज्ञानमेवाधिगच्छति ॥
 वर्णाश्रमाभिमानी य-
 स्यक्त्वा ज्ञानं द्विविधमाः ।
 अन्यत्र रमत मूढः
 सोऽज्ञानी नात्र सद्गुणः ॥
 क्रोधो मयं वधा सोभो
 मोहो मदी मदस्तमः ।
 धर्माधर्मौ च तेषां हि
 तद्वशाच्च तनुग्रहः ॥
 धृरीरे सति वै क्लेशः
 सोऽविद्यां संस्पृजेत्ततः ।
 अविद्यां विषमा हित्वा
 स्थितस्ववेह योगिनः ॥
 क्रोधाद्या नाशमायान्ति
 धर्माधर्मौ च नश्यतः ।
 तद्वशाच्च धृरीरेण
 न पुनः संप्रभुञ्ज्यते ॥
 स एव मुक्तः संसारा
 दुःस्वप्नमिबध्रितः ॥
 तथा विषधर्मोत्तरे—
 “ज्ञानामृतेन तप्तस्व
 कृतकस्वस्य योगिनः ।
 नैवान्ति किञ्चित्कर्तव्य
 मस्ति चेन्न स तत्त्वचित् ।

परमार्थनित्यकरो जाननेवाला ज्ञाना-
 म्पासमें तत्पर विरक्त पुरुष कलम्पकी
 चिन्ता छोड़कर केवल ज्ञानहीन
 प्राप्त करता है । हे शिष्यभेद ! जो
 वर्णाश्रमाभिमानी पुरुष ज्ञानचट्टिको
 त्यागकर मोहकश कहीं अन्यत्र सुप्त
 मानता है वह अज्ञानी है, इसमें
 सन्देह नहीं । क्रोध, मय, लज्ज, म-
 मोह, भेददृष्टि, म, अज्ञान और
 धर्माधर्म—ये सब ऐसे लोकोत्तरे ही
 प्राप्त होते हैं और इनके अधीन
 होनेपर वेद धारण करना पड़ता
 है । तथा शरीरके रहते हुए क्लेश
 अवश्यमानी है । अतः जीवनको
 अविद्याका त्याग करना चाहिये ।
 जो योगी विद्याद्वारा अविद्याका त्याग
 करके स्थित है उसके क्रोधादि दोष
 तथा धर्म और अधर्म इस लोकमें
 रहते हुए ही मूढ हो जाते हैं ।
 उनका क्षय होनेपर उसके फिर
 शरीरसे सम्बन्ध नहीं होता, तथा
 कही त्रिभिन्न तापसे दृष्टकर संसारसे
 मुक्त हो जाता है ।

तथा शिष्यभेदोत्तरमें कहा है—
 “जो योगी ज्ञानामृतसे तप्त होकर
 कृतकस्व हो गया है उसके लिये
 कोई कर्तव्य नहीं रहता, और यदि
 रहता है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है ।

लाकृदयेऽपि कर्तव्य
 किञ्चिदस्य न विद्यत ।
 इदं स विदुक्त स्या-
 त्सम्पूर्णः समदर्शन ॥”
 उम्माद्रिदुप कर्तव्याभावत्

विद्यामद्विषय एवायं कुर्वन्नेव-
 त्यादिकर्मनियम । कुर्वन्नेवति
 च नायं कर्मनियमः किन्तु विद्या
 माहात्म्य दर्शयितुं यथाकार्यं
 कर्मानुष्ठानमेव द्रष्टव्यम् । एतदुक्त
 भवति—यावज्जीव यथाकार्यं
 पुण्यपापादिकं कुर्वन्त्यपि विदुषि
 न कर्मसाधा भवति विद्यासामर्थ्या
 दिति । तथा हि—“इशावास्य-
 मिदं सर्वम्” (इशा० उ० १)
 इत्यारम्भ “तनस्यक्तेन सुधीयाः”
 (इशा० उ० १) इति विदुष
 सर्वकर्मस्यागानरमपाठनमुक्त्वा
 नियोज्य घट्टविधिं न्यागकर्तव्य

उसे दोनों छेफमें फेर कर्तव्य नहीं
 रहता । यह सुखयापूगभीर समदर्शी
 होनेके कारण इस लक्षमें ही मुक्त
 हो जाता है ।

यत्र विशुक्त्र छिये कर्म
 कर्तव्य न ज्ञानव कारण कम
 परता हुआ ही मो कर्म जीनेकी
 इच्छा कर इत्यादि रूपसे कर्म
 करनेका नियम केवल अज्ञानियोंके
 ही छिये है । अथवा यह समझना
 चाहिये कि कुर्वन्नेव इत्यादि वाक्य
 कर्मका नियम नहीं है,
 यदि तु ज्ञानकी मदिया विज्ञानक
 उद्देशसे [ज्ञानके छिये] लक्ष्यनुसार
 कर्मानुष्ठान प्रशंसित करनेका छिये
 ही है । इसके द्वारा यह बातकाया
 गया है कि विशुक्त्र लक्ष्यसे जीवन
 पर्यन्त पुण्यपापादिकप कर्म करना
 भी यह तो भी ज्ञानक मामर्थ्यमे उसे
 उन कर्मोंका मय नहीं हमरा ।
 अथवा यह है कि “इशावास्यमिदं
 सर्वम्” वालीमें लकर “तन त्यक्तन
 सुधीयाः” इस प्रथम अर्थसे सर्वकर्म-
 परिष्कारक आत्मरक्षाका प्रतिपादन
 करनेपर यह दखतर कि तिसके
 छिये कोई भी विधि नहीं थी या
 सही उम रहनेका छिये
 सर्वकर्मपरिष्कारक विज्ञान करना भी

“एवविदि पाप कर्म न लिप्यते”
(छा० उ० ४ । १४ । ३) ।
“नैनं कृताकृते तपत ” (ष्ट०
उ० ४ । ४ । २२) । “एष
हास सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते”
(छा० उ० ५ । २४ । ३) ।

उक्ते—

“ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि
भक्षसात्कुरुते तथा ॥
ज्ञानिनं सर्वकर्माणि
जीर्यन्ते नात्र संशयः ।
क्रोहन्नपि न लिप्यत
पापैर्नानाविधैरपि ॥”
शिवभर्मोत्तरेऽपि—

“तस्मान्ज्ञानाग्निना तूर्ण
मशेषं कर्मष्वधनम् ।
कामाकामहत छिन्त्या
शुद्धयात्मनि विष्ठति ॥
यथा वह्निर्महान्दीप्त
शुष्कमाद्रव निर्दिहेत् ।
तथा गुभागुम कर्म
ज्ञानाग्निर्दहते क्षणात् ॥
पद्मत्रयं यथा तापै
व्यर्धैरपि न लिप्यत ।
शरदादिरिषयाम्भोमि

हाता”, “इस प्रकार जाननवालेको
पापकर्मका संसर्ग नहीं होता”, “उसे
पुण्य-पाप सुन्ताप नहीं द सकते”,
इसी प्रकार इसके समस्त पाप नष्ट
ही जाते हैं ।”

छिन्नपुराणमें कहा है—“इसी
प्रकार ज्ञानाग्नि समस्त कर्मोंको भस्म
कर देता है । इसमें सन्देह नहीं कि
जालीके समस्त धम जीर्ण हो जाते
हैं, यह माना प्रकारके पाप-पुण्योंसे
श्रीडा करता हुआ भी उनसे छिन्न
नहीं होता ।”

शिवभर्मोत्तरेमें भी कहा है—

“अतः यह तुरंत ही सक्रम या
निक्रममात्रसे दिये हुए सम्पूर्ण
कर्मबन्धनको क्षान्त्यप्य उद्गमने
पश्यन्त शुद्ध हा अद्वय आत्माने
स्थित हो जाता है । जिस प्रकार
अप्यन्त प्रचलित हुआ अग्नि सूने
और गीन् सब प्रकारके इंधनका
जग टाटता है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि
एव क्षमने ही समस्त शुष्कगुम
कर्मोंको भस्म कर देता है । जिस
प्रकार कनकस पत्त अद्वय ऊपर
पद हुए वज्रके भी छिन्न नहीं होता,
उसी प्रकार ज्ञानीप्रारम्भण अग्नेयके
प्रप हुए शम्भुत्ति तित्क्य वज्रसे

तद्वन्मानी न लिप्यते ॥
 यद्वन्मन्त्रबलोपेतः
 क्रीडन्सर्वैर्न दृश्यते ।
 क्रीडन्नपि न लिप्येत
 तद्वदिन्द्रियपन्नगैः ॥
 मन्त्रौपधिवलैर्बद्ध
 जीर्यते मध्वितं विषम् ।
 तद्वत्सबाधि पापानि
 जीर्यन्ते ज्ञानिन षणात् ॥
 तथा च सूत्रकारः—“पुरुषा
 सर्वात्मनश्च- योऽऽतः शब्दादिति
 कृमत्सेव्यसः बादरायणः” (प्र०
 सू० ३ । ४ । १) इति
 ज्ञानस्यैव परमपुरुषार्थहेतुत्वमभि
 धाय “श्लेषत्वात्पुरुषार्थवादे

खित नहीं होता । जिस प्रकार
 मन्त्रकृत्से सम्पन्न हुआ पुरुष सर्वात्मि
 साय सेव्यते रहनेपर भी उनके द्वारा
 नहीं बसा जाता उसी प्रकार ज्ञानी
 इन्द्रियरूप सर्वात्मि साय क्रीडा करते
 रहनेपर भी उनसे खित नहीं होता ।
 जिस प्रकार खाया हुआ विष भी
 मन्त्र और औषधिके सामर्थ्यसे पच
 जाता है उसी प्रकार ज्ञानीके सारे
 पाप एक क्षणमें मद्य हो जाते हैं ।”
 तथा सूत्रकार भगवन् व्यासजीने
 भी “पुरुषार्थोऽत शब्दादिति
 बादरायण ” इस सूत्रसे ज्ञानको ही
 परमपुरुषार्थक्य हेतु बतलाकर फिर
 “श्लेषत्वात्पुरुषार्थवादे यथाम्येषिति

१ तद्वन्म साधनमूत इम (औपनिन्द आत्मज्ञान) से मोक्षरूप पुरुषार्थ
 निश्च होता है क्योंकि इतमें [पश्यति शोकमात्मवित् इत्यादि] मुक्ति प्रमाण है—
 देना वाग्दत्तव्यावका मत है ।

२ इत सूत्रका विचार अर्थ इस प्रकार है—‘वैसे श्रीश्रिमिर्वैश्व’ इत
 श्रीश्रिवामै करणमूत श्रीश्रिके साय ही तसका प्रोक्षण आदि भी बरका अह मान्य
 ज्ञाना है उगी प्रकार आत्मा कर्तृरूपसे पठ आदि कर्मका अह होनेके कारण उक्त
 ज्ञान भी उत कर्मका अह ही है । अतः आत्मज्ञानके महान् फलको बतानेवाली
 पश्यति शोकमात्मवित्’ इत्यादि मुक्ति योगस्य—‘व्यादि कर्मोअ अह होनेके
 कारण पुरुषार्थवाद है अर्थात् पुरुष [आत्मा] को प्रयत्नके द्विमे अर्थवाद
 मात्र है। जिस प्रकार कि अन्वय इत्यतस्कार सम्बन्धी कर्मोमे फलमुक्ति अर्थवाद
 मानी जाती है । अथर्वकके द्विमे निम्नाहृत मुक्ति है—‘एतत् पयमवी सुहृमवति न
 न पान न च गृहोति’ (विलम्बी पञ्चमयी सुहृ’ देखी है वह कमी पापमय बरका
 अवन नहीं करती) वह फलमुक्ति बरकसम्पत्तिनी सुहृते सम्बन्ध रखनेवाके
 पतागकी प्रयत्न करनेके पक्षकी ही अहमूत है। अतः महोप होनेसे अर्थवाद मानी

यथा " (ब्र० सू० ३४।२) इत्यादिना कर्मपिहितकर्तृप्रतिपादकत्वेन विद्यायाः कर्मशेषत्वमाशङ्क्य "अधिकोपदेशात् वा इरायणस्य" (ब्र० सू० ३।४।८) इत्यादिना कर्तृत्वादि संसारधर्मरहितापहतपाप्मादिरूपब्रह्मोपदेशाच्चद्विज्ञानपूर्विका तु कर्माधिकारसिद्धिं स्वाशासनस्य कर्माधिकारहृतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य अपह्वस्य विद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यस्य रूपोपमर्दवर्धनात्कर्माधिकारोच्छिन्नसिद्धयुक्तद्विन्नप्रकरणत्वाद्द्विन्नकार्यत्वाच्च परम्परविकल्पसमु

नेमिनि ' इस सूत्रसे वैमिनिके मतानुसार कर्ममें अपेक्षित फलका प्रतिपादन करनेवाकी होनेसे विद्याके कर्मशेषत्वकी आशङ्का कर "अधिकोपदेशात् वा इरायणस्यैव तद्वर्णनात्" इस सूत्रसे यह बातक्या है कि विद्या कर्तृत्वादि सांसारिक बन्धोंसे रहित निष्पापादिरूप ब्रह्मका प्रतिपादन करती है, इसलिये जो पुरुष उसके ज्ञानपूर्वक कर्माधिकारकी सिद्धिकी आशा रखता है उसके कर्माधिकारके ह्येतन्मूल अनिवाचनित क्रिया, फलक पर्यन्त रूप समस्त संसारके स्वरूपका विद्याके प्रमथनसे विनाश देखा जानेके कारण कर्माधिकारके उच्छेदका प्रमाण उपस्थित होनेसे तथा कर्म और ज्ञानके भिन्न-भिन्न प्रचरण और भिन्न-भिन्न फल देखे जानेके कारण उनका आपसमें विकल्प,

यकी है। ऐसा वैमिनिक मत है। अतिसय यह कि परादिका कर्ता और मोक्षक संतती की ही धर्म कृतनेपर आत्मा वा परात्मा सम्बन्धे कहा गया है। ये संतती की दे तनीके ज्ञानका महत्त्व वेदान्तमें बताया गया है। इस मतमें ईश्वरका अस्तित्व नहीं स्वीकार किया गया है।

१ वैमिनिके पूर्वोक्त मताका उच्छेद करते हुए करते हैं—अधिकोपदेशात् इत्यादि । यदि कर्ता मोक्षक संतती कीवत् ही उपनिषद्की श्रुतियोंमें उपदेश किया गया होय तो उक्तकथने की हुई कल्पभूति अथवा ही अथवा हो लक्ष्मी की किन्तु बरों तो लक्ष्मी कीवत् अपेक्षा बहुत ही उत्कृष्ट अर्थात् परमेस्वरका वैकल्पिक उपदेश किया गया है इसलिये मुक्त वाइतनका [अहममयनसे मोक्षरूप पुण्यावधि सिद्धि होती है इत्यादि] पूर्वोक्त मत ज्यों-ज्यों ठीक ही है। क्योंकि का कर्तृत्वः लक्ष्मी इत्यादि श्रुतियोंमें उन उच्छेद परमात्माके स्वरूपका उपदेश देना जाता है।

धयोऽङ्गत्किमावो वा नास्तीति प्रतिपाद्य "अतएव चाग्नीन्धना धनपेक्षा" (प्र० सू० ३।४। २५) इति विद्याया एव परम-पुरुषार्थहेतुत्वाद्दग्नीन्धनाद्याधम कर्माणि विद्याया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीति पूर्वोक्तस्वाधि करणस्य फलमुपसंहृत्यात्यन्तमे-वानपेक्षार्यां प्राप्तायां "सर्वपेक्षा च यद्वादिभूतेरभवत्" (प्र० सू० ३।४। २६) इति नात्यन्तमनपेक्षा । उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किञ्चिदन्यद पश्यते । उत्पत्तिं प्रत्यपेक्षत एव ।

समुच्चय अथवा अङ्गाङ्गिमाद्य कुछ सी नहीं हो सकता—ऐसा प्रतिपादन करके "अतएव चाग्नीन्धनाधनपेक्षा" इस सूत्रसे विद्या ही परमपुरुषार्थकी हेतु होनेके कारण वह अपने प्रयाजनकी पूर्तिमें अग्नि-इन्धनादिसे निष्पन्न होने-वाले आधम-कर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखती" इस प्रकृत पूर्वोक्त अधिकरणके फलका उपसंहार कर ज्ञानप्राप्तिमें कर्मकी अत्यन्त अनपेक्षा प्राप्त होनेपर "सर्वपेक्षा च यद्वादिभूतेरभवत्" इस सूत्रसे यह बात ज्ञायता है कि कर्मकी विन्मुक्त ही अपेक्षा न हो-ऐसी बात नहीं है, अपि तु विद्या उत्पन्न हो जानपर ही अपने फलकी सिद्धिमें कित्ती वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखती, अपनी उत्पत्तिमें तो उसे कर्मकी अपेक्षा ही थी क्योंकि

• देखते कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—ये दोनों असंग भङ्गा हैं तथा ज्ञानसे मोक्ष और कर्मसे स्वर्गादिभी प्राप्ति होती है इतलिये इनके एक भी अलग-अलग हैं । अतः हम दृष्टेक्षा परस्पर न तो सिद्धकर (एक ही प्रयोजनके लिये दोनोंमेंसे किसी एकका अनुष्ठान) न समुच्चय (दोनोंका एक साथ अनुष्ठान) और न अङ्गाङ्गिमाद्य (एकका दूसरेके अन्तर्गत होना) ही हो सकता है ।

• [क्योंकि ब्रह्मविद्या स्वल्प पुनरावृत्त है] इतीत्ये तथैव अग्नि इन्धन भादि [आधमविहित कर्म] की अपेक्षा नहीं है ।

१ विद्या अपनी उत्पत्तिमें कोपकायण सभी आधम-कर्मोंकी अपेक्षा रखती है । जैसे कोपकायण अथवा उपवेश होता है । इस विषयमें श्रुतेर्ष वेदानुबन्धनेन आसया विविदिश्वि बदेन' इत्यादि श्रुति प्रमाण है, [अर्थात् जैसे घोड़ा रथमें ही खेला जाता है इत्येव नहीं ठीकी प्रकार] विद्या अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंकी अपेक्षा रखती है ।

“विविदिषन्ति यज्ञेन” इति श्रुतेरिति विविदिषासाधनत्वेन कर्मणासुपयोगं दर्शितवान् । तथा च “नाविशेषात्” (म० सू० ३। ४। १३) “स्तुतयेऽनुमतिर्वा” (म० सू० ३। ४। १४) इति सूत्रद्वयेन कुर्वन्नेषेतिमन्त्रस्याविद्विषयत्वेन विद्यास्तुतिस्त्वेन चार्थद्वयं दर्शितवान् । अत उक्तेन प्रकारेण ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वाद्युक्तं परोपनिषदारम्भः ।

ननु बन्धस्य मिथ्यात्व सति

कारणतः ज्ञाननिवर्त्यत्वेन

तेऽस्तुतये-

स्त्वैतद्वद ज्ञानादमृतत्व

स्यात् । न त्वेतदस्ति; प्रति

पक्षत्वादाभावात्पुष्पदिस्वरू

पक्षके द्वारा ज्ञानमात्रे जानना चाहते हैं । इस श्रुतिसे बन्दने विद्यासाके साधनरूपमे कर्मोंकर उपयोग दिख्छया है । तथा इसके आगे “नोविशेषात्” और “स्तुतयेऽनुमतिर्वा” इन दो सूत्रोंद्वारा “कुर्वन्नेवेह कर्माणि” इस श्रुतिके दो प्रकारसे अर्थ दिख्छयाये हैं—पहला यह कि ‘यह ‘कुर्वन्नेवेह’ इत्यादि मन्त्र अज्ञानीके लिये है ।’ तथा दूसरा अर्थ यह है कि यह मन्त्र विद्या (ज्ञान) की स्तुतिके लिये है । इसलिये उक्त प्रकारसे ज्ञान ही मोक्षकर साधन होनेके कारण आगेकी उपनिषद्पक्षे अरम्भ करना उचित ही है ।

ईश्वर-पक्षे जीवनकर बन्धन मिथ्या होता तो यह ज्ञानसे निवृत्त होनेयोग्य हो सकता या और ऐसी अवस्थामें ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति हो सकती थी किन्तु ऐसी बात है नहीं, क्योंकि बन्धन प्रत्यक्षनिवृत्त है, इत्यत्र बाध नहीं होता और पुष्पस्फादि (वृक्ष आदि) रूपसे प्रकृत

मोक्षरूप कर्तरी प्रितिमें नहीं ।

१ [विद्वान्’ ऐश्वर्य] विशेषतः न होनेके कारण ‘कुर्वन्नेवेह’ इत्यादिकास्य तावत्कीर्यवत् मती है ।

२ अथवा तत्पक्षके लिये जो कर्मानुष्ठान है वह ज्ञानकी स्तुतिके लिये है । अर्थात् तावत् ज्ञानेन जीवनरक्षण कर्म करनेकर भी कर्मका फल मती इत्यत्र—येना कहकर ज्ञानान्वयी श्रुति की गती है ।

पस्थेनात्मनो विलक्षणत्वे साह

श्याद्यभावादप्यासासम्भवाच्च ।

उच्यते—न तावत्प्रतिपक्षत्वेन
 सत्यत्व वस्तु धर्मते,
 प्रतिपक्षेः सत्यत्व
 मिथ्यात्वयोः समानत्वात् ।
 नापि बाधाभावात्सत्यत्वम्,
 विधिगुणेन कारणगुणेन च
 बाधसम्भवात् । तथाहि श्रुतिः—
 प्रपञ्चस्य मिथ्यात्व मासाकार
 बत्त्वं च दर्शयति “न तु तद्
 द्वितीयमस्ति” (सू० उ० ४ ।
 ३ । २३) । “एकत्वम्” “नास्ति
 द्वैतम् ।” “कुतो विदिते चर्च
 नास्ति । “एकमेवाद्वितीयम्”
 (छा० उ० ६ । २ । १) ।
 “वाधारम्भनं विकारो नामधेयम्”
 (छा उ ६ । १ । ४) । “एकमय
 सत् ।” “निह नानास्ति किञ्चन”
 (सू० उ० ४ । ४ । १९) । “एक
 वैवानुद्रष्टव्यम् (सू० उ०
 ४ । ४ । २०) । “माया तु
 प्रकृति विद्यात्” (श्वेता० उ० ४ ।
 १०) । “मायी सृजते विश्व-
 मेतद् (श्वेता० उ० ४ । १०) । “इन्द्रो

होनेके कारण आत्माका स्वरूप सबसं
 किञ्चिद्गुण है, अत उससे किस्तीका
 सादृश्य न होनेके कारण उसमें
 किस्ती अन्य वस्तुका ज्येष्ठास होना
 भी सम्भव नहीं है ।

सिद्धान्ती—अच्छ, बतलते हैं
 [सुतो—] प्रपञ्चसिद्ध होनेके
 कारण ही बन्धनकी सत्यता नहीं
 कतछयी जा सकती, क्योंकि
 प्रपञ्चस्य तो सत्य और असत्य
 दोनों ही प्रकारकी वस्तुओंमें समान
 रूपसे देखी जाती है । बाध न
 होनेके कारण भी इसकी सत्यता
 सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि शास्त्रविधि
 और कारणदृष्टिसे इसका बाध होना
 सम्भव है ही । जैसे कि “उसके सिवा
 दूसरा कोई नहीं है” “एकत्व ही
 है,” “द्वैत नहीं है, क्योंकि
 ज्ञान हो जानपर वेपक्य जन्मच हो
 जाता है,” “एक ही अद्वितीय है,
 “विकार बाणीसे आरम्भ होनेका
 नाममात्र है,” “एक ही सत्त्व है,”
 “एक ही माना कुछ भी नहीं है,”
 “सकते एकत्व ही देखना चाहिये,”
 “प्रकृतिके माया समतो,” “मायायी
 परमात्मा इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको रचता
 है,” “इन्द्र (परमात्म) मायासे

मायाभिः पुरुरूप इवत्" (बृ०
ठ० २ । ५ । १९) इत्यादिभि
र्वर्क्यैः ।

"अज्ञोऽपि सन्नप्ययात्मा
भूतानामीश्वरोऽपि मनु ।

प्रकृतिं स्वायधिष्ठाय
संभवाभ्यात्प्रमायया ॥"

(गीता ४ । १)

"अविमक्तं च भूतेषु
विभक्तमित् च म्वितम् ॥"

(गीता १३ । १९)

तथा च श्राद्धे पुराणे—

"धमाधर्मा क्षममृत्यु
सुखदुःखेषु कल्पना ।
वणाभमास्तथा वासः
मर्गो नरक एव च ॥

पुरुषस्य न सन्त्येते
परमार्थस्य कुत्रचित् ।

एत्यते च अगादप
मसत्यं सत्यबन्धुषा ॥

सोयधन्मुगतृष्णा तु
यथा मरुमरीचिका ।

रौप्यवस्त्रीकृतं धृतं
स्त्रीकृतं सुचिरव च ॥

मर्षवद्द्रव्यवन्द्यम्
निज्ञानां वेदमसम्पराः ।

जनक रूप हाफर चेय्य करमा है" इत्यादि वाक्योद्गाय धृति प्रपञ्चका भिष्यत्प्र और मायामृत्युत्प्र प्रदर्शित करती है । [श्रीमद्भगवद्गीतामें मगतान् भी कहा है—] "मै अत्रमा, अविनाशी और सम्पूरा प्राणियोंका प्रभु है, तथापि अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर अपनी मय्यामे ही जन्म लेता हूँ", "बहु ब्रह्म प्रत्येक दशरुमें आकाशके समान अविमक्त एवं एक है तो भी समस्त प्राणियोंमें विभक्त हुआ-या म्वित है ॥"

ब्रह्मपुराणमें भी कहा है—

"धर्म अधर्म, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखकी कल्पना, वर्गाधमविभाग तथा स्वर्ग या नरकमें रहना ये सब परमार्थ-स्वल्प पुराण कहाँ भी नहीं हैं ।

जिस प्रकार मरुमरीचिकल्प पृथ-तृष्णा शब्दत् प्रतीत होती है, वही प्रकार इस जगत्का असत्य स्वल्प ही मर्ष स्वल्प-या दृष्टिगोचर हो रहा है । वास्तविक धृति धृतिरूप ही है,

जिसमें कौनो ब्रह्म जौनिके समान मासने लगती है, परमें पदा हुआ रस्तीकर दृक्का अंत दृष्टिके समप र्णवत् दिखायी न बन जाता है,

एक एवेन्दुर्द्वौ ध्योमिनि
 तिमिराहृतचक्षुषः ॥
 आकाशस्य घनीभावा
 नीलस्य क्षिग्धता तथा ।
 एकश्च सूर्यो षड्भुजा
 जलाधारेषु दृश्यते ॥
 आभाति परमात्मापि
 सर्वोपाधिषु संस्थितः ।
 द्वैतभ्रान्तिरविद्यास्या
 विकल्पो न च तद्यथा ॥
 परश्च बन्धागारः स्या
 सपामात्माभिमानिनाम् ।
 आत्मभावनया भ्रान्त्या
 देहं भावयती सदा ॥
 आपञ्चमादिमध्यान्तै-
 र्न्नमयूषैस्त्रिभि सदा ।
 आप्ररक्षमसुषुप्तैस्तु
 प्लादितं विश्वतमसम् ॥
 म्वमायया म्वमात्मानं

निसके नेत्र तिमिररोगसे पीड़ित
 हैं उस पुरुषको जैसे आकाशमें एक
 ही चन्द्रमा दो-सा दिखायी देने
 लगता है और जिस प्रकार [सर्वथा
 शून्यस्वरूप] आकाशमें घनीभाव
 नीलता और क्षिग्धतप्रकी प्रतीति
 होती है [उसी प्रकार जगत्का रूप
 मिथ्या होनेपर भी सूर्य-सा जान
 पड़ता है] । जैसे एक ही सूर्य चक्के
 अनेक आकारोंमें अनेक-सा दिखायी
 देता है उसी प्रकार समस्त उपाधियोंमें
 स्थित परमप्रभा ही [उन-उन
 रूपोंमें] भास रहा है । यह
 अविद्यासंज्ञक द्वैतभ्रान्ति विकल्प ही
 है, यह यथार्थ नहीं है ।

“जो लोग भ्रान्तिवश सर्वथा
 देहको ही आत्मा समझते हैं उन
 देहाभिमानियोंको यह देह मरनेके
 पश्चात् परलोकमें बन्धनका स्थान
 होता है, [क्योंकि उन्हें पुन देह
 धारण करना पड़ता है] । आदि, मध्य
 और अन्तमें जो सर्वथा भ्रमरूप ही
 हैं उन जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति
 तीन अवस्थाओंसे ही त्रिषु, तैजस
 और प्राज्ञ भी आण्डान्तित हैं । यह
 जीव अपनी द्वैतरूप मायासे स्वयं ही

१ किन्तु केवल शब्दका ही ज्ञान ही किन्ती बलुभ नहीं उसे विद्वत् कहते
 हैं; जैसे—भास्यकुरुतुम यथाशुद्ध कन्वापुत्र आदि । इती भास्यका यह नोभुम
 है—‘यथाशुद्धकुरुतुम बलुभस्यो विद्वत्सः’ (१ । ९) ।

मोहयेद्वैतरूपया ।

गुहागतं स्रमात्मान

लभत च स्वय इरिम् ॥

भ्योमि भजानलज्वाला

कलापो विविधाकृतिः ।

आभाति विष्णोः सृष्टिम्

स्वभावो द्वैतविस्तर ॥

शान्ते मनसि शान्तश्च

घोरे मूढे च तादृशः ।

इश्वरो दृश्यते नित्य

सर्वत्र न तु तत्त्वतः ॥

छोहमृत्पिच्छदेसां च

विकारो न च विद्यते ।

चराचराणां भूतानां

द्वैतता न च सत्यत ॥

सर्वत्र तु निराधारे

चैतन्यात्मनि संस्मिता ।

अविद्या त्रिगुणां सृष्टिं

करोत्प्राग्भावलम्बनात् ॥

सर्पस्य रज्जुता नास्ति

नास्ति रज्जौ सूक्ष्मता ।

उत्पत्तिनाशयोर्नास्ति

कारणं जगतोऽपि च ॥

छोकानां व्यबहारार्थं

मविद्येयं विनिर्मिता ।

अपनको मोहप्रसूत परतप है और स्वयं ही अपन जन्त-करणमें स्थित अपन आत्ममूत श्रीहरिको प्राप्त करता है । जिस प्रकार आकाशमें ब्रह्मिनि (बिजली) की अनेक प्रकारकी छपटे निक्षायी देती हैं उसी प्रकार भगवान् विष्णुको स्वभाव ही द्रवविस्काररूप सृष्टि होकर मास रहा है । सत्र सदा एकमात्र भगवान् ही शान्त (सात्त्विक) चित्तमें शान्तरूपसे और घोर (राजस) तथा मूढ (तामस) चित्तमें घोर और मूढरूपसे निक्षायी रहते हैं । किन्तु तत्त्वत वे होते नहीं हैं ।

अर्थात्, मृत्पिच्छ और सुवर्ण इनका भी विकार नहीं होता । बिलत चरुचर मूत हैं उनका भेद कल्पित नहीं है । सर्वगत निराधारे चैतन्यात्मामें स्थित अविद्या ही आत्माक आद्यमसे स्पृष्ट-सूक्ष्म दोनों प्रकारकी सृष्टि रचती है । जिस प्रकार सर्पमें रज्जुत्व और रज्जुमें सर्पत्व नहीं है उसी प्रकार जगत्के उत्पत्ति और नाशका भी कर्त्तृकरण नहीं है । इस अविद्याकी रचना (कल्पना) लोकव्यवहारके लिये ही हुई है ।

एषा विमोहिनीस्युक्ता
 द्वैताद्वैतस्वरूपिणी ॥
 अद्वैत माधयद्ब्रह्म
 सकल निष्कल सदा ।
 आत्मज्ञः श्लाघ्यर्षीणो
 न विमेषि क्लृप्तमन ॥
 मृत्यो सकाशान्मरणा
 दधधान्यकृताङ्गमात् ।
 न चायते न प्रियते
 न बध्यो न च घातकः ॥
 न बद्धो बन्धकारी वा
 न मुक्तो न च मोक्षदः ।
 पुरुषः परमात्मा तु
 यदतोऽन्यदस्य तत् ॥
 एष बुद्ध्या बगद्वयं
 विष्णोर्मायामयं मृषा ।
 भोगासङ्गभ्रष्टेषु सुक्त-
 स्स्यक्त्या सर्वविकल्पनाम् ॥
 त्यक्तमर्वविफल्यथ
 स्वात्मस्थं निश्चल मनः ।
 कृत्वा शान्तो भवयोगी
 दग्धे धन इषानलः ॥
 एषा चतुर्विधविमदभिन्ना

यह द्वैताद्वैतस्वरूपिणी है और
 [संसारको मोहित करनेवाली
 होनेसे] 'विमोहिनी' कही गयी है।
 आत्मज्ञानीको चाहिये कि वह सर्वा-
 पूर्ण परब्रह्मका निष्कल और अद्वैतरूप-
 से चिन्तन करे। इससे वह शोकसे
 पार होकर किसीसे मय नहीं करता।
 उसे मृत्युकी समीपसे, मरनेसे
 जयवा किसी अन्य कारणसे होमेवाते
 मयसे भी डर नहीं लगता।

परमपुरुष परमब्रह्म न बन्ध
 लेखा है न मरता है न मारा जा
 सकता है न मारनेवाला है, न बद्ध
 है, न बन्धनमें डालनेवाला है, न
 मुक्त है और न मुक्ति देनेवाला है।
 उससे भिन्न जो कुछ है वह असत्य है।
 इस प्रकार मयान् विष्णुके विश्व
 रूपको मायामय और निष्पय समझकर
 सब प्रकारकी कल्पनाको त्यागकर
 भोगोंकी शक्तिके मुक्त हो जाय।
 इस प्रकार समस्त विकल्पोंसे छूटकर
 मनको आत्मस्थ, निश्चल और शान्त
 करके योगी निश्चल ईश्वर जस
 बुद्ध है ऐसे [भूमहित] अग्नि-
 समान हो जाता है।

"एह चौबीस भेदोंवाली माया

> मायके चौबीस भेद इस प्रकार हैं—एक प्रकृति (त्रिगुणात्मिका मूल
 प्रकृति), छल प्रकृति, विद्वन् (महत्त्व अहंकार और पौष कल्प्याचार्य) आर
 शोहर विद्वान् (दण्ड दण्डियों एक मन और पौष भूय) ।

माया परा प्रकृतिस्तत्समुत्थौ ।
 कामक्रोधौ लोभमोहौ भयं च
 विपादशोकौ च विकल्पजालम् ॥
 धर्माधमा सुखदुःखे च सृष्टि
 र्धिनाशपाकौ नरकं गतिम् ।
 पापः स्वर्गे जातयथाभ्रमाश्च
 रागद्वेषौ विविधा व्याधयश्च ॥
 कौमारवारुण्यजरावियोग
 संयोगमोगानघ्ननघ्नानि ।
 शरीरमीदम्बिदय निधाय
 तृष्णीमासीनः सुमतिं विविद्धि ॥”

तथा च धीविष्णुधर्मो पठ
 व्याख्याम्—

“अनादिसम्बन्धस्य
 क्षेत्रज्ञोऽयमविद्यया ।
 युक्तः पश्यति मेदेन
 ब्रह्मतत्त्वात्मनि न्यितम् ॥
 पश्यत्यात्मानमन्यथा
 यावद्वै परमात्मनः ।
 तावत्संभ्राम्यते अन्तु
 मोंहितो निजकमणा ॥
 संधीयान्नेपक्रमो तु
 परं ब्रह्म प्रपश्यति ।

जगत्की मूल कारण है । उसीसे
 काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विराग,
 शोक तथा अन्य विकल्पजाज उत्पन्न हुए
 हैं । और उसीसे धम-अधर्म, सुख-दुःख
 और सृष्टि-विनाशरूप परिणाम, नरकमें
 जाना, स्वर्गमें रहना, जानि, आद्यम,
 राग, द्वेष, तरह-तरहकी व्याधियों,
 कुमारवस्था, तरुणता, वृद्धावस्था,
 वियोग, संयोग, मोग, उपवास और
 व्रत प्रकट हुए हैं । इन सबको
 इस प्रकार [प्रकृति की विकार]
 जाननवाज पुरुष इन्हें प्रकृतिमें
 स्थापित कर मौनमात्रसे स्थित रहता
 है । उसे ही तुम शुभ शुभ मतिवाज
 जानो ।’

तथा धीविष्णुधर्मोत्तरपुराणक
 अन्तर्गत पदव्याख्यानमें भी कहा
 है—“यह क्षेत्रज्ञ अपनेमें
 अनादिकालसे सम्बद्ध हुई विधिपाने
 युक्त होकर अपने अन्त कारणमें स्थित
 ब्रह्मका भेदरूपसे देखता है । अकालक
 जीव परमात्मासे भिन्न अपनेको तथा
 अन्य जीवोंको देखता है तबतक वह
 जसमें कर्मइत्या मोहित होकर संसारमें
 मग्नरथा जाता है । जब इसक समूह
 फल क्षीण हो जाते हैं तो यह शुद्ध
 परब्रह्मको अपनेमें अभिन्नरूपमें

अमेदेनात्मनः शुद्धं
 शुद्धत्वादधयो भवत् ॥
 अधिष्ठा च क्रिया सर्वा
 विद्या ज्ञान प्रचक्षते ।
 कर्मणा जायते वन्तु
 विद्यया च विमुच्यते ॥
 अद्वैत परमार्थो हि
 द्वैत सद्भिन्न उच्यते ।
 पशुतिर्यश्चानुप्यास्म्यं
 तथैव नृप नारकम् ॥
 चतुर्भिर्भोऽपि मेदोऽयं
 मिथ्याज्ञाननिबन्धनः ।
 अहमन्योऽपरश्चाय
 ममी चात्र तथापर ॥
 अज्ञानमेतद्वैतास्य
 मद्वैतं भूयतां परम् ।
 मम स्वहमिति प्रज्ञा
 विपुक्तमधिकल्पवत् ॥
 अधिकार्यमनास्म्येप
 मद्वैतमनुमूयते ।
 मनोवृत्तिमयं द्वैत-
 मद्वैतं परमार्थतः ॥
 मनसो वृत्तयस्तस्मा
 दर्माधर्मनिमिषदाः ।
 निरोद्धम्यास्तशिराधे
 द्वैतं नवापपद्यत ॥
 मनोऽष्टमिद् सव
 यस्तिकश्चित्सचराचरम् ।

देखता है, और शुद्ध हो जानेके
 कारण यह अक्षय हो जाता है ।
 समस्त कर्म अधिष्ठा रूप हैं और ज्ञान
 विद्या कहलाता है । कर्मसे भीकड़
 जन्म लेना पड़ता है और ज्ञानसे वह
 मुक्त हो जाता है । अद्वैत ही परमार्थ
 है और द्वैत उससे भिन्न (अपरमार्थ)
 कहा जाता है । हे राजन् ! पशु,
 निम्क, मनुष्य और नारकी जीव—
 यह चार प्रकारके भेद भिन्ना ज्ञानके
 ही कारण है । मैं अन्य हूँ यह अन्य
 है और ये सब अन्य हैं—यही द्वैत
 कहलमनवादा अज्ञान है । अब
 अद्वैतके नियमों श्रवण करो ।

“अद्वैतज्ञान मैं-मम, त-तेरा आदि
 बुद्धिसे रहित, निर्विकल्प, निर्विकार
 और अनिर्बचनीयरूपसे अनुभूत
 होता है । द्वैत मनोवृत्तिरूप है,
 परमार्थतः तो अद्वैत ही है; जग
 धर्माधर्मरूप निमित्तके कारण उत्पन्न
 हुए मनकी वृत्तियोंके निरोध करना
 चाहिये । उनका निरोध हो जानेपर
 द्वैतकी सिद्धि नहीं होती ।
 यह जो कुछ परापर जगत्
 है सब मनका इत्यमात्र है ।

मनसो धमनीभावे
 उद्वैतमात्रं तदा अनुयात् ॥
 कर्मणां भावना येयं
 सा ब्रह्मपरिपन्थिनी ।
 कर्मभावनायां तु सर्वं
 विज्ञानमुपजायते ॥
 तादृग्भवति विज्ञप्ति
 यादृशी स्वतु भावना ।
 क्षये तस्या पर ब्रह्म
 स्वयमेव प्रकाशते ॥
 परात्मनार्त्तानुप्येन्द्र
 विभागोऽज्ञानकल्पितः ।
 क्षये तस्यात्मपरयो
 रविभागाऽथ पथ द्वि ॥
 आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञो द्वि
 संयुक्त प्राकृतैर्गुणैः ।
 तैरेव विगतः शुद्ध
 परमात्मा निगद्यत ॥”
 तथा च भीषिण्यपुराणे—
 “परमात्मा स्वमेवैका
 नान्याऽस्ति जगतः पत ।
 तथैव महिमा यत
 प्यात्मतत्पराधरम् ॥
 यदेतद्गुह्यते मूर्त
 मेतन्द्धानात्मनस्तत्र ।
 भ्रान्तिवशानेन पश्यन्ति
 जगद्भ्रमवागिनः ॥

मनसो धमनीभाव (नाश) हो
 जानेपर यह अद्वैतभावक प्रप्त हो
 जाता है । यह जो कर्मोंकी भावना है
 यह ब्रह्मज्ञानमार्गमें विपन्नरूप है क्योंकि
 कर्मोंकी भावनाके अनुसार ही
 विज्ञान प्राप्त होता है । विज्ञान ता
 देता ही होता है जैसी कि भावना
 होती है । अतः भावनाके नाश
 हो जानेपर परमब्रह्म स्वयं ही
 अनुभव ज्ञान लगता है । हे उग्रन् !
 आत्मा और परब्रह्मका जो विभाग है
 वह अज्ञानकल्पित ही है । इसीमें
 उद्वेग क्षय हो जानेपर फिर आत्मा
 और परब्रह्मका अभेद ही निश्चिन
 होता है । क्षेत्रज्ञसंज्ञक आत्म प्रकृतके
 गुणोंसे युक्त है वही उनसे रहित
 होकर शुद्ध ज्ञानपर परमात्मा
 कहलाता है ॥”

एसा ही भीषिण्यपुराणमें भा कहा
 है— हे जगत्पते ! तुम्ही एकमात्र
 परमात्मा हो तुममें भिन्न और कुछ भी
 नहीं है । जिससे यह जगत्पर जगत्
 प्यत है वह यह तुम्हारी ही
 महिमा है । यह जो कुछ मूर्त जगत्
 निश्चयी देता है ज्ञानरूप अथवा ही
 रूप है । अक्षुब्ध ही जगत् परमपूण
 ज्ञानके अनुसार इसे जगत्पर नेगते है ।

ज्ञानस्वरूपमखिलं

जगदेतदपुद्गमः ।

अर्थस्वरूपं पश्यन्तो

ब्राम्यन्ते माहसपुत्रे ॥

ये तु ज्ञानविद शुद्ध

चेतसस्तेऽखिलं जगत् ।

ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति

त्वद्रूपं पारमेश्वरम् ॥”

(१।४।१८-४९)

“अहं इति सर्वमिदं चनाहंनो

नान्यत्ततः कारणकार्यजातम् ।

ईदृशानो यस्य न तस्य मूयो

मयाद्भवा इन्द्रगदा भवन्ति ॥”

(१।१९।८०)

“ज्ञानस्वरूपमत्यन्तं

निर्मलं परमार्थतः ।

तदेवार्थस्वरूपेण

भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥”

(१।२।१)

“ज्ञानस्वरूपा भगवान्यथाऽष्टा

बन्धेपमूर्तिर्न तु बस्तुभूतः ।

ततो हि शैलाग्निघरादिभेदा

ज्ञानीहि विज्ञानविबृम्भितानि ॥”

(२।११।३९)

“वस्तुवस्ति किं ह्यप्रथिदादिमध्य-

पर्यन्तहीनं सततैकरूपम् ।

मथान्यथात्वं द्विजं याति धूर्मा

। इस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप जगत्को

अर्थस्वरूप देखनेवाले बुद्धिहीन

पुरुषोंको मोहरूप महासागरमें

भटकता पकता है । किन्तु जो

शुद्धचित्त बानीस्मेग हैं वे इस

सम्पूर्ण जगत्को आप परमात्माका

ज्ञानमय स्वरूप ही देखते हैं ।”

“निसकल ऐसा निश्चय है कि मैं

तथा यह सम्पूर्ण जगत् जमादन

श्रीहरि ही हैं उनसे भिन्न कोई भी

कार्य-कारणकर्ता नहीं है, उस पुरुषका

फिर सांसारिक रोग-दोषादि इन्द्ररूप

रोग नहीं होते ।”

“जो परमार्थत (वास्तवमें)

कल्पित निर्मल ज्ञानस्वरूप परमात्मा है

वही अज्ञान-दृष्टिसे विभिन्न पदार्थोंके

रूपमें प्रकृत हो रहा है ।” “वे विज

मूर्ति भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं, पदार्थकार

नहीं हैं, इसलिये इन पकत, समुद्र

और पृथिवी आदि विभिन्न पदार्थोंको

तुम विज्ञानका ही विभ्रम जाना ।”

हे द्विज ! क्या घट-पट्टादि काई भी

एसी वस्तु है जो आदि मध्य और

अन्तसे रहित एवं सदा एक रूपमें

ही रहनेवाली हो । पृथिवीपर जा

वस्तु काल्पनी रहती है, पूर्ववत् नहीं

न तद्यथा तत्र हृतो हि तत्रम् ॥

मही घटत्व घटत कपालिका

कपालिकाचूर्णरजसतोऽणुः ।

जनैः स्वकर्मस्तिमितान्मनिश्चयै

राजस्मते मूढि किमत्र वस्तु ॥

तस्मात्त विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चि

स्वचित्कदाचिद्भूदिभ वस्तुजातम् ।

विज्ञानमेकं निश्चकर्ममे

विमिश्रचित्तैर्बहुधाभ्युपेतम् ॥

ज्ञान विशुद्ध विमलं विशोक

मद्येपलाभादिनिरस्तउद्गम् ।

एकं सदैकं परम परेश

स कामुदवा न यतोऽन्यदस्ति ॥

सद्भाव एव मवता मयाक्तो

ज्ञानं तथा सत्यमसम्बन्धम् ।

पठणु यत्सम्परदाभूत्

तत्रापि चात्कं सुवनाभित वे ॥”

(१ । १२ । ४१-४५)

‘अविद्याप्रतिर्त कर्म

तथाऽणु वऽणु ॥

प्राग्मा सुदाऽध्वरऽन्ता

निगुण प्रकृते पर ।

रहती उसमें बाह्यविकृत्य कर्मे हा

सफती है । देखो, मृत्तिका ही घटरूप

हा जाती है, फिर वही घर्मे कपाल

कपालमे चूर्ण रज और रजमे अणु-

रूप हो जाती है । फिर बनाया ला

सही अपन कर्मेके बरीभूत हा

आत्मनिश्चयपर मूले हुए मनुष्य इसमें

कौन-सी सय वस्तु देखने हैं । जन

हे द्वेष । विज्ञानक सिवा कभी-

कही कठ भी पनापसुद्ध नहीं है ।

अपन-अन्य कर्मेके कारण विमिश्र

चित्तवृत्तिपेसे युक्त पुरुषोक्त एक

विज्ञान ही विमिश्ररूपमे प्रकृत हा

रहा है । राग-द्वेषादि मन्मे रहित

शाकन्त्य्य एवादि समूह दापेसे

बन्धित, सदा एकतस एव असग एकस्यैव

विशुद्ध विज्ञान हीवत् सकश्चत परमेष्ठर

वस्तुत्व है उसमे मिश्र और कुत

मं नहीं है । इस प्रकार मने तुम्हार

प्रति परमार्पक निष्कारा किये ।

कस एक जन ही मय ह और

सब निष्क है । उसक भिन्न एव न

व्यवहारिक मय है उस विमुक्तक

विश्वमे भी जान कर लिया ।”

“ कर्म अविद्याजनित है और क-

र्मके बन्धने निष्कृत है किन्तु

अज्ञान सुद निर्दिष्टर कन्त

निगुण और प्रकृतिमे बन्धित है ।

प्रवृद्धपचसौ न स
एकस्त्रासिलवन्तुषु ॥”
(२।१३।७-७१)

“यत्तु कालान्तरेणापि
नान्यसञ्ज्ञासुपैति वै ।
परिणामादिसंभूता
तद्वस्तु नृप तच्छ किम् ॥”
(२।१३।१)

“यद्योऽस्ति परः कोऽपि
मत्तः पार्थिवसधम ।
तदैषोऽहमयं चान्यो
नक्तुमेवमपीप्सते ॥
यदा समस्तदेहेषु
पुमान्भोका म्यवस्थितः ।
तदा हि का मवान्साऽह
मित्येतद्विप्रलम्भनम् ॥
स्वं राजा शिविका खेयं
वय वाहा पुरःसराः ।
अयं च भवता लाको
न सदेतश्चपाभ्यते ॥”
(२।१३।९-१२)

“वस्तु राज्ञेति यज्ञाके
यन्व राजमदारमकम् ।
तथान्ये च नृपस्वं च
तत्परसङ्कल्पनामयम् ॥”
(२।१३।१५)

“अनाशी परमार्थम्
प्राप्तेरभ्युपगम्यते ॥”
(२।१४।१४)

सम्पूर्ण प्राणियोंमें विद्यमान उस एक
आत्माके वृद्धि और क्षय नहीं होते ।”
‘ हे राजन् ! जो कश्चिद्दशमें भी
परिणामादिके कारण होनेवाली किसी
अन्य संज्ञाका प्राप्त नहीं होती वही
परमार्थ वस्तु है । ऐसी वस्तु [आत्माके
सिवा] और क्या है ?” “हे नृपभ्यो !
यदि मुझसे भिन्न कोई और पदार्थ
होता तो यह, मैं, अमुक अन्य
आदि भी कहना ठीक हो सकता
था । जब कि सम्पूर्ण शरीरोंमें एक
ही पुरुष स्थित है तो ‘आपकौन हैं ?’
‘मैं वह हूँ’ इत्यादि वाक्य बचनानामत्र
हैं । तुम राजा हो, यह प्रसक्त है,
हम तुम्हारे सामने चक्रेवाले काहक
हैं और ये तुम्हारे परिजन हैं—
यह तुम ठीक नहीं कहते ।”

अन्यदशमें जो वस्तु राजा है, जो
राजसेवक हैं और जिसे राजत्व
कहते हैं तथा इनके सिवा जो अन्य
पदार्थ हैं वे सब सङ्कल्पमय ही हैं ।

“अविनाशी परमार्थतत्त्वज्ञी उपसम्भि
तो ज्ञानियोंका ही होती है ।”

“परमार्थस्तु धूपाल
 संघेपाच्छ्रुता मम ॥
 एकोऽध्यायी समः शुद्धो
 निर्गुणः प्रकृते परः ।
 जन्मदृष्ट्यादिरहित
 आत्मा सर्वगतोऽध्यायः ॥
 परज्ञानमयः सद्भिः
 नामजात्यादिभिः प्रसुः ।
 न पागयात्त युक्ताऽम्
 भैव पाथिव यास्यते ॥
 तस्यारमपरदेह्यु
 संशोका शोक एव यत् ।
 विज्ञानं परमार्थोऽर्था
 द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥”
 (२।१४।२८—३१)
 “एवमेकमिदं विद्म
 एवमेदिं सकलं जगत् ।
 वासुदेवमिषयस्य
 स्वरूपं परमात्मनः ॥”
 (२।१५।३५)
 “निदापाऽप्युपदेशेन
 तनाद्वैतपरोऽभवत् ॥
 सर्वमृतान्यमेदेन
 स ददर्श तदारमनः ।
 तथा शब्द तथा सृष्टि
 मवाप परमां द्विज ॥
 मिथनीलादिमेदेन
 यथैकं दृश्यते नमः ।

‘रजन् ! तुम मुझसे सक्षेपमें
 परमार्थतत्त्व ध्यान करो । सर्वध्यायी
 सबत्र समभावसे स्थित, शुद्ध, निर्गुण
 प्रकृतिसे अर्थात् जन्म भार वृद्धि
 आदिसे रहित सर्वगत एवं अविनाशी
 आत्मा एक है । यह परम ज्ञानमय
 है । हे रजन् ! उस प्रमुक्त
 वास्तविक नाम एवं जाति आदि
 से संयोग न तो है, न हुआ
 है और न कभी होगा ही ।
 उसका अपने और दूसरोंके दर्शों
 के साथ एक ही संयोग है ।
 इस प्रकारका जा विशेष ज्ञान
 है वही परमार्थ है । द्वैतवादी ता
 अपरमार्थवादी हैं । हे विद्वन् ! इस
 प्रकार यह सारा जगत् वासुदेवसंबन्धक
 परमात्माका एक अभिन्न स्वरूप
 ही है ।’

[गुरुकर श्रमुके] इस उपदेशमें
 निराश भी अद्वैतपरम्यग हा गया
 और तब यह समस्त प्राणियोंका
 आत्माके साथ अमन्त्रूपमें दखन
 छाया तथा उसे ब्रह्मका साक्षात्कार हा
 गया । हे द्विज ! इसमें नसुन लक्ष्य
 मासुप प्राप्त कर लिये । जिस प्रकार
 एक ही आकाश सफेद और नीले आदि-
 रंगमें विभिन्न प्रकारका निराश-

आन्तर्दृष्टिमिरारमापि

तथैकः स पृथक्पृथक् ॥”

(२।१५।१६-२)

“एकः समस्त यदिहासि किञ्चि
चदन्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।

सोऽहं स च त्व स च सर्वमेव
दात्मस्वरूपं त्यज मेदमोहम् ॥

इतीरितस्तेन स रत्नधर्य
स्तत्याश्च मेदं परमार्थदृष्टिः ।

स चापि चाविस्मरणात्तपोष
स्तत्रैव बन्मन्यपवर्गमाप ॥”

(२।१५।२२-२४)

तथा लैङ्गे—

“तस्माद्ज्ञानमूलो हि
संसारः सर्वदेहिनाम् ।

परतन्त्रे स्वतन्त्रे च
मिदामावादिषारतः ॥

एकत्वमपि नास्त्येव
द्वैत तत्र कृताऽस्त्यहो ।

एकं नामस्यथ मरुतं च
कृतो मृतसमुद्भवः ॥

नान्ताःप्रज्ञो बहिःप्रज्ञो
न चोमयत एव च ।

देता है उसी प्रकार जिनकी दृष्टि
भ्रमप्रस्त है उन लोगोंको आत्म एक
हानेपर भी पृथक्-पृथक् दिखायी
देता है ।” “इस जगत्में जो कुछ है
वह सब एकमात्र श्रीहरि ही है
उनसे भिन्न और कुछ भी नहीं है ।
कहीं मैं हूँ कहीं तुम हो और यह
सारा जगत् भी आत्मत्वरूप श्रीहरि
ही है । तुम मेदभक्तको छोड़ दो ।
उस (अवभूत) के ऐसा कहनेपर
उस सौवीरनरेशमे परमार्थदृष्टिसे
सम्यक् हो मेदबुद्धि छूट ली, और
उस आत्मज्ञाने भी पूर्वजन्मका स्मरण
रहनेसे तत्काल प्राप्त कर उसी जन्ममें
मोक्षपद प्राप्त कर लिया ।

तथा लिङ्गपुराणमें कहा है—

“अत समस्त प्राणियोंका यह संसार
अज्ञानके ही कारण प्राप्त हुआ है,
क्योंकि विचार करनेपर स्वतन्त्र
परमात्मा और परतन्त्र जीवमें कोई
भेद नहीं है । अहो ! जब उसमें
एकत्व भी नहीं है तो द्वैत कहाँसे
हो सकता है ! जब एक नहीं और
कहाँ मरुत (मरणवर्मा) भी नहीं तो
मृत्यु कहाँसे हो सकती है ! वह
म अन्तःप्रज्ञ (भीतरकी जाननेवाली)
है, न बहिःप्रज्ञ (बाहरकी जानने-
वाली) है, न दोनों आरक्षी जन्मने

न प्रज्ञानधनस्त्वेव
 न प्रज्ञाऽप्रज्ञ एव सः ॥
 विदिते नास्ति वेद्यं च
 निर्वाणं परमार्थतः ।
 अज्ञानविमिरात्सर्वं
 नात्र क्वापि विचारणा ॥
 ज्ञानं च धन्धनं चैव
 मोक्षो नाप्यात्मनो द्विधा ।
 न दोषा प्रकृतिर्बाहो
 विकृतिश्च विकारतः ।
 विकारा नैव मायैवा
 सदसवृन्धक्तिवर्जिता ॥”

तथाह भगवान्पराशरः—
 “अस्मादि ज्ञायते विश्व-
 मत्रैव प्रकृतिवते ।
 स मायी मायया बद्धः
 करोति विविधास्तनुः ॥
 न चात्रैवं संसरति
 न च संसारयेत्परम् ।
 न कर्ता नैव मोक्षा च
 न च प्रकृतिपूर्यो ॥
 न माया नैव च प्राण-
 धैतन्यं तदवर्तमानः ।

बाध है और न प्रज्ञानधन है ।
 इसीलिये वह न प्रज्ञ (प्रकृत्य ज्ञानवान्)
 है और न अप्रज्ञ (ज्ञानहीन) ही
 है । ज्ञान हो जानेपर तो कर्म ज्ञेय
 ही नहीं रहता, अतः परमार्थतः
 निर्कर्णस्वरूप ही है । सब कुछ
 अज्ञानान्धकारके ही कारण है । इसमें
 किसी प्रकारका विचार करनेकी
 आवश्यकता नहीं है । हे द्विजगण !
 अस्माकं न ज्ञान होता है, न धन्धन
 होता है और न मोक्ष ही होता है ।
 नीच न ता यह प्रकृति है, न
 विकृति है और न इनका विकार ही
 है क्योंकि ये सब विकारी हैं । यह
 सब तो सद-असत्से विच्छेदण माया
 ही है ।”

तथा भास्वान् पराशर कहते हैं—
 पृथीसे विश्व उत्पन्न होता है और
 इसीमें जीन वा जात है । वह
 मायामय मायासे बँधकर स्वयं ही
 अनेक प्रकारके शरीर धारण कर
 लेता है । किन्तु इस प्रकार न तो
 वह स्वयं संसारका प्राप्त करता है
 और न किसी धन्यका ही संसारमें
 प्रवृत्त करता है क्योंकि वह न कर्ता
 है, न मोक्ष है न प्रकृति या पुरुष
 है, न माया है और न प्राण है,

तस्माद्ब्रह्मज्ञानमूलो हि
 संसारः सर्वदेहिनाम् ॥
 नित्यः सर्वगतो ब्रह्मा
 कृत्स्नो दापयञ्जितः ।
 एकः स मिद्यते स्रष्टया
 मायया न स्वमाकृत ॥
 तस्माद्द्वैतमेवाहु
 र्मुनयः परमार्थतः ।
 ज्ञानस्वरूपमेवाहु
 र्वेदगदेतद्विषयवाः ॥
 अर्थस्वरूपमज्ञाना
 त्पश्यन्पश्यन् कुदृष्टयः ।
 कृत्स्नो निर्गुणा व्यापी
 चैतन्वास्मा सभागतः ॥
 दृश्यते धर्मरूपेण
 पुरुषैर्मान्तदृष्टिमिः ।
 यदा पश्यति चात्मानं
 केवलं परमार्थतः ॥
 मायामात्रमिदं द्वैतं
 कदा भवति निर्वृतः ।
 तस्माद्ब्रह्मज्ञानमेवास्ति
 न प्रपञ्चो न ससृष्टिः ॥”
 एवं श्रुत्यादिना नामादिकारणो
 मन्वन्तः पन्थासमुत्थेन स्व
 मिथ्यात्व रूपेण च बाधित
 स्वात्मप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमवगम्यते ।
 अस्पृलादिलक्षणस्य प्रपञ्च
 स्तद्विपरीतस्पृलाकारो मिथ्या

समस्त प्राणियोंको अज्ञानके कारण
 ही संसारकी प्राप्ति हुई है । वास्तव
 तो नित्य, सर्वगत कृत्स्न और
 निर्दोष है । वह एक अपनी
 मायशक्तिके द्वारा ही भेदका प्राप्त
 होता है, स्वरूपत नहीं । अतः
 मुनियोंने परमार्थत अद्वैत ही सत्यजया
 है किन्तानोंने इस अर्थको ज्ञानस्वरूप
 ही कहा है । जिनकी दृष्टि दूषित है
 वे अन्य जेग ही अज्ञानवश इसे
 परमार्थस्वरूप समझते हैं । चैतन्य
 वास्तव तो सभावत कृत्स्न, निर्गुण
 और सर्वव्यापक है । आन्तरिकी
 धर्मोंको ही वह पदार्थाकार प्रतीत
 होता है । जिस समय पुरुष आत्माका
 परमार्थरूपसे साक्षात्कार करता है
 और इस द्वैतप्रपञ्चको मायामत्र
 समझता है उसी समय उसे शान्ति
 प्राप्त होती है । अतः केवल विज्ञान
 ही है प्रपञ्च या संसार नहीं है ।

इस प्रकार श्रुति आदिके द्वारा
 नामादिके कारणोंकर दिग्दर्शन कराने-
 से तथा स्वरूपत बाधित होनेक
 कारण प्रपञ्चका मिथ्यात्व जाना जाता
 है । इस अर्थको ही अज्ञानोंवाक्य है,
 अतः उससे विपरीत स्पृष्टाकार

मवितुमर्हति । यथैकस्य

चन्द्रमस्तद्विपरावद्वितीयाकार

सद्वत् ।

तथा च सूत्रकारो "न म्यान
एतद्व्यञ्जितव्यञ्जित-
पूर्वकं म्यानं लिङ्गं सर्वत्र हि"

निर्बिधेय (प्र० सू० ३ ।
उत्तरं नम २ । ११)

इति स्वरूपत उपाधितम् विरुद्ध
रूपद्वयासम्बाभिर्बिधेयमेव प्रश्ने
स्युपपाद्य "न मेदात्" (प्र०
सू० ३ । २ । १२) इति मेद
भ्रुतिबलात्किमिति सविधेयमपि
ब्रह्म नाभ्युपगम्यत इत्याशङ्क्य "न
प्रत्येकमतद्वचनात्" इत्युपाधि
मेदस्य भ्रुत्वैव बाधितत्वाद्मेद
भ्रुतिबलात्सविधेयस्य ग्रहणायो
गाभिर्बिधेयमेवेत्युपपाद्य "अपि

प्रपञ्च मिथ्य हाना ही चाहिये । जिस
प्रकार एक चन्द्रमाका वृत्त का अकार
मिथ्या होता है उसी प्रकार इसे
समझना चाहिये ।

इसी प्रकार सूत्रकार भगवान्
व्यासने भी "न म्यानमपि परत्ये-
मयलिङ्गं सर्वत्र हि" इस सूत्रद्वारा एक
रूपसे और उपाधिते भी ब्रह्मके [सविधेय
और निर्बिधेय] दो परस्पर-विरुद्ध रूप
संगत न होनेके कारण ब्रह्म निर्बिधेय
ही है ऐसा उपाधित कर [सिद्ध "न
मेदादिति 'अथ प्रत्येकमतद्वचनात्'
इस सूत्रके] "न मेदात्" इस
अंशद्वारा ऐसी व्याख्या कर कि भ्रुत्या
मेदभ्रुतिके सामर्थ्यसे ब्रह्मके सविधेय
भी नहीं मना जा सकता "न
प्रत्येकमतद्वचनात्" इस अंशसे यह
निश्चय किया है कि उपाधिजनित
मेद भ्रुतिसे ही बाधित होनेके कारण
अभेदभ्रुतिके सामर्थ्यसे सविधेय
ब्रह्मके ग्रहण नहीं किया जा सकता,
इसलिये वह निर्बिधेय ही है । इसके

१ परब्रह्म उपाधिते भी [सविधेय-निर्बिधेय] उभयस्वरूप नहीं हो सकता। क्योंकि तबत्र उतका निर्बिधेयस्वरूप ही बर्त्तन किया गया है ।

२ [यदि करो] ऐसी नहीं है, क्योंकि ['अद्वयत्वात् ब्रह्म श्रोतव्यत्वं ब्रह्म' इत्यादि रूपसे] प्रत्येक विद्यामें उतका मेदस्वरूपे बर्त्तन किया है ।

३ तो ऐसा नहीं है क्योंकि प्रत्येक मौपाधिक मेदमें ['अवमेव त बोधव्यमात्म्या' इत्यादि भ्रुतिके द्वारा] उतका अभेद ही बर्त्तनया गया है ।

वैबमेक" (ब० सू० १।२।१३)
 इति मेदनिन्दापूर्वकममेदमेवैके
 श्वाग्निः समामनन्ति— "मन
 सैवेदमात्म्यम्" (क० उ० ४।
 ११)। "नेह नानास्ति किञ्चन।"
 "मृत्याः स मृत्युमाप्नोति य इह
 नानेव पश्यति" (ब० उ० ४।
 ४।१९)। "एकवैवानुद्रष्टव्य
 मिति" (ब० उ० ४।४।२०)।
 "मोक्षा भाग्य प्रेरितारं च मत्वा
 सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्"
 (श्वेता० उ० १।१२) इति
 सर्वमोग्यमोक्षनिबन्धुष्यस्य
 प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकत्वमाकृतामिधीयत
 इति ।

पुनरपि निर्विशेषस्य इती कृते
 एतदेतत्त्वस्य किमित्येकस्वरूपस्य
 उभयस्वरूपासंभवे
 उनाकारमेव ब्रह्माव-
 धार्यते न पुनर्विपरीतमित्याशङ्क्य
 "अरूपवदेव हि तत्रभानत्वात्"
 (ब० सू० ३।२।१४) इति रूपाद्या

पश्चात् "असि वैबमेके" इस सूत्रमे
 यह निश्चय किया है कि कोई-कहीं
 शास्त्रवाले भेद-दृष्टिसे लिखा करने
 हुए अमेदत्व ही प्रतिपादन करते
 हैं । [उक्त कथन है कि] ' यह
 मन्ते ही प्राप्त किया जा सकता है',
 'यहाँ माना कुछ नहीं है'
 'यहाँ जा अन्तकत्व देखना है वह
 मृत्युसे मृत्युका प्राप्त होता है',
 'उसे एकस्वरूप ही देखना चाहिये',
 तथा 'मात्रा, भाग्य और प्रेरक
 मानकर जिसे तीन प्रकारका कहा
 गया है वह सब एक ही है'
 इत्यदि धृष्टियोंसे मात्रा, भाग्य और
 प्रेरकरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च एकमात्र
 ब्रह्मरूप ही कहा गया है ।

इस प्रकार फिर भी निर्विशेष
 पक्षकी ही पुष्टि होनेपर 'एकस्वरूप
 ब्रह्मका उभयरूप होना असम्भव
 है, इसलिये ब्रह्मको निराकार ही
 क्यों निश्चय किया जाता है उससे
 निराल सकार क्यों नहीं माना जाता
 ऐसी आशङ्का कर "अरूपवदेव हि
 तत्रभानत्वात्" इस

१ यदि द्विती-द्विती शास्त्रवाले इन प्रकार की
 पूर्वक अमेदत्व ही प्रतिपादन करते हैं ।
 २ ब्रह्म रूपादित ही है क्योंकि प्रबानत
 'मत्त्वम्' इत्यदि धृष्टि निर्गुणप्रबान ही है ।

काररहितमेव ब्रह्मप्रधानमित्यम् ।
 कस्तात् ? तत्प्रधानत्वात् । “अ
 स्थूलमनष्वहश्चमदीर्घम्” (सू०
 उ० ३।८।८) “असृष्टमस्पर्श
 मरूपमित्यम्” (सू० उ० १।३।
 १५) । “आकाशो वै नाम नाम-
 रूपमनिर्ब्रह्मिता ते यदन्तरा तद्वृ
 ब्रह्म” (छा० उ० ४।१४।७)
 “तदेतद्वृब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरम
 ब्राह्मणमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूतित्ये
 तदनुशासनम्” (सू० उ० २।५।
 १९) इत्येवमादीनि निष्प्रपञ्च
 ब्रह्मात्मनश्चप्रधानानि । इतराणि
 कारणप्रदाविषयाणि न तत्प्रधा
 नानि । तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो
 ष्टीयांसि भवन्ति । अतस्तत्पर

हे किं ब्रह्मके रूपाणि आकाररहित
 ही निश्चय करना चाहिये । क्यों?—
 इसलिये कि निर्बिरोध ब्रह्म ही ब्रह्मके
 प्रधानतया प्रतिपादन करते हैं ।
 यथा—“ब्रह्म न स्थूल है, न अणु
 है, न हल्क है, न दीर्घ है,” “असृष्ट,
 स्पर्श और स्पर्शहीन तथा अविनाशी
 है”, “आकाश (आकाशसंज्ञक
 ब्रह्म) ही नामरूपके निर्वाहक है
 वे जिसके अन्तर्गत हैं वह ब्रह्म
 है”, “यह ब्रह्म कारण-कार्यसे
 रहित तथा अन्तर्भावशून्य है यह
 आत्मा सबके अनुभव करनेवाला
 ब्रह्म है—यह वैश्वी आत्मा है”
 इत्यादि वाक्य प्रधानतया निष्प्रपञ्च
 ब्रह्मात्मतत्त्वके ही प्रतिपादक हैं ।
 अन्य वा कारणप्रदावित्येक वाक्य
 हैं उनका मुख्य तात्पर्य ब्रह्मण्यके
 प्रतिपादनमें नहीं है । किन्तु भा
 वतया वस्तुके सम्बन्धमें अन्तर्धान
 वाक्योक्त अपेक्षा तद्विधान वाक्य ही
 ब्रह्मण्य होते हैं । अतः प्रधानतया
 ब्रह्मण्यका प्रतिपादन करनेवाली

● उनका मुख्य तात्पर्य प्रधानतया विज्ञानके अभिप्राय दिखानेमें ही है ।

१ अन्तर्धानवाक्योंमें आत्म वस्तुकी चर्चा तो रहती है पर उनका मुख्य तात्पर्य
 उन वस्तुके अन्तर्धान प्रतिपादन करनेमें नहीं होता, वे ‘अन्तर्धान’ कहलाते हैं ।

२ जो वाक्य मुख्यतया अन्तर्धान वस्तु के विधान ही प्रतिपादन करनेमें
 तात्पर्य रखते हैं वे ‘प्रधान’ कहे जाते हैं ।

श्रुतिप्रतिपन्नस्वाभिर्विशेषमेव
 ब्रह्मात्मान्त्वर्थं न पुन सविशेष
 मिति निर्विशेषपक्षसुपपाद्य का
 तर्थाकारबद्धिपयाणां श्रुतीनां गतिः।
 इत्याहङ्गार्या "प्रकाशवन्वा
 वैयर्थ्यात्" (ब० सू० ३ । २ ।
 १५) इति चन्द्रसूर्यादीनां ब्रह्मा
 श्रुताधिकृतनानात्वबन्ध ब्रह्मणो-
 ऽप्युपाधिकृतनानात्वरूपस्य विद्य
 मानत्वात्कारणकारणता ब्रह्मण
 आकारविशेषोपदेश उपासनायो
 न विरुध्यते ।

एवमवैयर्थ्यं नानाकारब्रह्म

विषयाणां वाक्या
 नामिति भेदश्रुती
 नामौपाधिकब्रह्म

विषयत्वेनावैयर्थ्याद्ब्रह्मत्वा पुनरपि
 निर्विशेषमेव ब्रह्मेति द्रष्टवितुम् "आह
 च तन्मात्रम्" (ब० सू० ३ । २ ।
 १६) इति । "स यथा सौम्य
 वपनोऽनन्तराऽवायः कृत्वो रस

श्रुतियेसे ज्ञात होनेके कारण ब्रह्म
 निर्विशेष ही मानना चाहिये,
 सविशेष नहीं । इस प्रकार निर्विशेष
 पक्षका समर्थन करनेपर ऐसी आशा
 होनेपर कि फिर साकारब्रह्मण
 श्रुतियोंकी क्या गति होगी ?
 "प्रकाशवन्वावैयर्थ्यात्" इस सूत्रसे
 यह मतभय है कि जसदि
 उपाधिके कारण प्रतीत होनेबत
 चन्द्र-सूर्यादिके नानात्वके समान
 ब्रह्मण भी उपाधिकृत नानात्वका
 विद्यमान है । अत उपासनाके लिये
 औपाधिक आकारवान् ब्रह्मके किसी
 आकारविशेषका उपदेश करनेमें भी
 कोई विरोध नहीं है ।

इस प्रकार नाना रूप ब्रह्मविषयक
 श्रुतिवाक्य भी व्यर्थ नहीं हैं । इस तरह
 औपाधिकब्रह्मविषयिणी होनेसे ये
 श्रुतियोंकी व्यर्थता बतसाकर फिर
 भी यह दृष्ट करनेके लिये कि
 "ब्रह्म निर्विशेष ही है उन्हेने "आह
 च तन्मात्रम्" इस सूत्रकी अवतरणा
 की है । इस सूत्रमें "त्रिसा प्रवत्त
 ममकत्र इत्य बाह्य-भीतरसे शून्य

१ [मित्र मित्र उपाधिकोंके कारण काकार धारण करनेवाले] प्रकाशके
 समान अज्ञानके लिये सविशेष ब्रह्मण प्रतिपादन करनेवाली श्रुति भी व्यर्थ नहीं है ।

२ श्रुतिने ब्रह्म ही विद्यावतारा प्रतिपादन किया है ।

घन एव । एवं वा अरेऽप्य
मात्मानन्तरोऽबाहः कृत्स्नः प्रज्ञा
नघन एव” (बृ० उ० ४ ।
५ । १३) इति भृत्युपन्यासेन
विद्वानप्यतिरिक्तरूपान्तराभावसु
पन्यस्य “दर्शयति चाथो अपि
स्मर्यते” (ब्र० सू० ३ । २ । १७)
इति । “अथात आदेशो नेति
नेति” (बृ० उ० २ । ३ । ६) ।
“अन्यदेव तद्विदितादथो अवि
दितादधि” (के० उ० १ । ३) ।
“यथा वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य
मनसा सह” (तैत्ति० उ० २ । ४ । १) ।
“प्रत्यस्तमितमेद यत्
सत्तामात्रमगोचरम् ।
पञ्चसामात्मसंवेद्य
तन्मार्गं ब्रह्मसंश्रितम् ।”
“विश्वरूपवैरूप्यं
लक्षणं परमात्मनः ।”
इत्यादिभृतिस्मृत्युपन्यासमुखेन
प्रत्यस्तमितमेदमेव ब्रह्मेत्यु
पपाय “अत एव आपमा
स्मर्यकादिबन्” (ब्र० सू० ३ ।
२ । १८) इति । यत् एव

[अथात् बाहर-भीतर एक समान
बेकड घनीभूत रस ही है] इसी प्रकार
यह आत्मा बाहर-भीतरके भेदसे
रहित सब-कम-सम घनीभूत प्रज्ञान
ही है” इस धृतिकी व्याख्या करते
इए उन्होंने यह दिखानेके कि
विद्वानसे भिन्न और कोई रूप ही
नहीं ‘दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते’
यह सूत्र कहा है । इसमें “इसमें
आगे धृतिका यही आदेश है—यह
आत्मा ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है”,
“यह विदितसे अन्य है और अविदितसे
भी परे है” जहाँसे मनके सहित
बाणी उसे न पाकर छाँट आती है”,
“जा भेदसे रहित सत्तामात्र, बाणीका
अवियय और स्वसंवेद्य ही नहीं ब्रह्म
संज्ञक ह्यम् है”, “सर्वरूपसे विच्छिन्न
हाना—यह परमात्माका छद्म है
इत्यादि धृति-स्मृतियोंका उल्लेख
करके ब्रह्म सर्वभेदशून्य ही है—ऐसा
प्रतिपादन कर उन्होंने ‘अत एव
आपमा स्मर्यकादिबन्’ यह सूत्र
कहा है । [इसमें यह कहा जा है—]
क्योंकि परमात्मा शैतन्यमात्ररूप,

१ अथात् आगेयो नेति-नेति इत्यादि भक्ति ब्रह्मको निर्दिष्ट प्ररिचित करती
है और मनविद्यत्वरं ब्रह्म इत्यादि स्मृति भी ठेका ही करती है ।

० इति-किते [लक्षणेन ब्रह्मके चिन्तने] अथात् विद्वान् ब्रह्मके समान
उपमा ही बली है ।

चैतन्यमात्ररूपो नेति नेत्यात्मको
 त्रिदिताविदितान्धामन्बो वाचाम
 गोचरः प्रत्यस्तमितमेदो विश्व-
 स्वरूपविलक्षणस्वरूपः परमात्मा
 विद्योपाधिकः मेदः । अत एव
 चासोपाधिनिमित्तापारमाधिकी
 विशेषवचामभिप्रत्य चलच्चर्पादि
 तिवेरपुपमा दीपते माधुर्याद्येषु ।

“आकाशमेकं हि यथा
 पटादिषु एकपट्टकम् ।
 तथात्मैकं जनेकम्
 जलाधारेऽधिराहुमान् ॥”
 (श्व १ । १००)

“एक एव तु सूतात्मा
 मूठे मूठे व्यवस्थित ।
 एकसा बहुधा चैव
 दृश्यते जलवन्द्वरत् ॥”
 “यथा क्षयं न्यातिरारामा विवक्ष्णा
 नपा मिक्षा बहुधैकाऽनुगच्छन् ।
 उपाधिना क्रियते मेदरूपो
 देवः क्षेत्रेष्वेवमवाप्यमात्मा ॥”

‘यह भी नहीं, यह भी नहीं’ इत्यादि
 रूपसे उपलब्धित स्वरूपवाच्य, वात
 और अज्ञातसे भिन्न, वाणीका अल्पिप्य,
 मुख प्रकरके भेदसे रहित और
 सम्पूर्ण रूपोंसे विकलक्षण स्वरूपवाच्य
 है इसलिये मेद अल्पिवाच्य उपाधिके
 कारण है । इसीसे इसकी उपाधि-
 निमित्तक अपारमार्थिकी विशेषरूपत्वा-
 के वाच्यमे ही माधुर्याद्येषु मेद
 अर्थमें प्रतिबिम्बित सूर्यादिके समान
 है’ ऐसी उपमा दी जाती है ।

जिस प्रकार घटादि उपाधियोंमें
 एक ही आकारा पुपकू-पुपकू-सा
 भासने लगता है उसी प्रकार विभिन्न
 अक्षरार्थोंमें प्रतिबिम्बित हुए सूर्यके
 समान एक ही आरामा अनेक-सा
 जान पड़ता है ।” “विभिन्न मूठोंमें
 एक ही मूठारामा स्थित है जो अर्थमें
 दिखायी देते हुए अन्धमानोंके समान
 एक और अनेक रूपोंमें भी दृश्य
 जाता है ।” “जिस प्रकार पट्ट
 ज्योति स्वरूप एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न
 अक्षरधर्षोंकर अनेक रूप हाकर
 अनुगमन करता है उसी प्रकार
 विभिन्न क्षेत्रोंमें यह एक ही अक्षरमा
 आत्मनेव उपाधिके द्वारा अनेक रूप
 कर दिख जाता है ।”

इति दृष्टान्तबलेनापि निर्वि
 शेषमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य "अमृत्युवद
 ग्रहणात्" (प्र० सू० ३।२।१९)
 इत्यात्मनोऽमूर्तत्वेन सर्वगतत्वेन
 अलक्ष्यार्थिब्रह्ममूर्तसंभिन्नदेशस्थि
 तत्वामावातु दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः
 सादृश्यं नास्तीत्याशङ्क्य "वृद्धि
 हासमाकत्वम्" (प्र० सू० ३।
 २।२०) इति न हि दृष्टान्त
 दार्ष्टान्तिकयोर्विषयित्वांशमुक्त्वा
 सर्वसारूप्य केनचिद्वर्णयितुं श
 क्यते । सर्वसारूप्ये दृष्टान्तदार्ष्टान्
 तिकमावाच्छेद एव स्यात् ।
 वृद्धिहासमाकत्वमत्र विवक्षितम् ।
 अलगतर्ष्यप्रतिबिम्बं अलवृद्धौ
 वर्धते अलहासे च इसति अल-

इस प्रकार दृष्टान्तके कळसे भी
 यही सिद्ध करके कि मूल निर्विशेष
 ही है 'अमृत्युवदग्रहणात् न तथा
 तम्' इस सूत्रसे यह आशङ्क्य की
 है कि आत्मा अमूर्त और सर्वगत है
 अतः अलक्ष्य सूर्यादिके समान उसका
 मूर्तरूपसे किसी देशविशेषमें स्थित
 होना सम्भव न होनेके कारण इन
 दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकोंकी समता
 नहीं है । इसपर "वृद्धिहासमाकत्व
 मन्तर्भावाद्ब्रह्मसामान्यस्यादेवम्" इस
 सूत्रसे यह दिखलाया है कि विवक्षित
 अंशको छोड़कर दृष्टान्त और
 दार्ष्टान्तिककी सर्वांशमें समानता
 कोई भी नहीं निश्चय्य सकता । यदि
 सर्वांशमें समानता हो जायगी तो
 उनका दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव ही
 नहीं रहेगा । यहाँ (अलक्ष्यसूर्यदि
 दृष्टान्तमें) तो उनका वृद्धिहासयुक्त
 होना ही विवक्षित है । जिस प्रकार
 अलमें पड़ा हुआ सूर्यका प्रतिबिम्ब
 अलके कङ्गेपर क्यता अलके घग्ने

१. यदि मिक्ष अलके समान विशेष ब्रह्मकी उपाधि उठते मिक्ष यहीत न होनेके कारण अलके प्रतिबिम्बके उठती उपाधि नहीं ही जा सकती ।

२. जिस प्रकार अलप्रतिबिम्ब अलकी वृद्धि और हास होनेपर स्वयं भी वृद्धि और हासका मागी होता है उसी प्रकार ब्रह्ममा वास्तवमें अविनाशी और एकक्य होनेपर भी देवप्रति उपाधियोंके अन्तर्भूत होकर उनके वृद्धि और हासका मागी होता है । एत प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त होनेमें सामान्य होनेके कारण कोई विशेष नहीं है ।

चलने चलति चलमेदे मिषत
इत्येव जलधर्मानुविधापि भरति
न तु परमार्थतः सूर्यस्य तत्र
मस्ति । एव परमार्थताऽविकृत
मेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्य
न्तमावाद्भवत एवापाधिधमान्दृ
दिहासादीनिति विवक्षितांश्चप्रति
पादनेन दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोः
सामञ्जसमुक्त्वा "दर्शनाच्च"
(ब्र० सू० ३ । २ । २१) इति
"पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष
माविशत्" (ब्र० उ० २ । ५ ।
१८) । "इन्द्रो मायामिः पुरुरूप
ईयते" (ब्र० उ० २ । ५ ।
१९) । "मायां तु प्रकृतिं
विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"
(श्वेता० उ० ४ । १०) । "मायी
सृजते विश्वमेतम्" (श्वेता० उ०
४ । ९) । "एकस्तथा सर्वभूता
न्तरारमा रूप रूपं प्रतिकूपो
बहिष्" (क० उ० २ । २ । ९ ।
१०) । "एकमे देवः सर्वभूतेषु
गूढः" (श्वेता० उ० ६ । ११) ।

पर भट्टा, जलके धाम्नेपर चलता
और जलज भेद हानपर भिन्न-सा
हा जाता है इस प्रकार वह जलके
धर्मोंका अनुकरण करता है, परमार्थतः
सूर्यमें वे विकार वास्तविक नहीं
होते, उसी प्रकार परमात्म
व्यधिकारी और एकरूप होनेपर भी
ब्रह्म देहादि उपाधियोंके अन्तर्गत
रहनेमें उन उपाधियोंके बुद्धि-हासादि
धर्मोंको प्रवृत्त करता ही है—इस
प्रकार विवक्षित अंशके प्रतिपादनसे
दृष्टान्त और दार्शनिकका सामञ्जस्य
कल्पकर "दर्शनाच्च" इस सूत्रांशसे
अपरमपुरुषने दो चरणोंवाला पुर (शरीर)
बनाया, चार पैरोंवाला पुर बनाया
और वह पक्षी होकर उन पुरोंमें
प्रवेश कर गया, "इन्द्र मायाकारण
अनेक रूपवाला हो जाता है",
"मायाको प्रकृति जानो और
मायावीको महेश्वर", "मायावी इस
विश्वकी रचना करता है", "उसी
प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही
अन्तरारमा भिन्न-भिन्न रूपोंके अनुरूप
हो गया है" "समस्त भूतोंमें
एक ही देव छिपा हुआ है",

“स एतमेव सीमानं विदायंतपा
द्वारा प्रापद्यत” (ऐत० उ० १।३।
१२)। “स एष इह प्रविष्ट आन
खाग्रम्य” (पृ० उ० १।४।
७)। “तत्सुष्टा तदेवानुप्रावि
शत्” (तैत्ति० उ० २।६।१)
इत्यादिना परस्वैय ब्रह्मण उपा
धिभोगं दर्शयित्वा निर्विशेषमेव
ब्रह्म । मेदस्तु जलसूर्यादियदौ
पाधिका मापानिबन्धन इत्युप
संहृतवान् ।

किञ्च ब्रह्मविदामनुभवोऽपि
प्रपञ्चस्य साधकः ।
निराकारे तेषां निःप्रपञ्चात्म
निराकारत्वं दर्शनस्य विद्यमान
प्रपञ्चस्य स्यात् । तथा हि
तेषामनुभवं दर्शयति । “यस्मिन्
सर्वाणि भूतानि आत्मैवाम्
द्रिजानस । तत्र कां माह
कः श्लोक एकत्वमनुपश्यत”
(इ० उ० ७) । “विदिते घट
नास्ति” इति । एष निर्वाणमनु
शासनम् । “यत्र वा अन्यदिव
स्यात्तत्रान्यान्न्यत्पश्यत्” (पृ०
उ० ४।३।३१) । “यत्र
त्वस्य सर्वमात्मैवामृषत्कन कं
पश्यत्” (पृ० उ० ४।५।१५) ।

“इस मूधमीन्द्रको ही निर्माण कर वह
इसीके द्वारा शरीरमें प्रवेश कर गया”,
“यह नसक अग्रभागसे लेकर शिखा-
तक इस शरीरमें प्रवेश किये हुए है”,
“उसे रचकर वह उसीमें अनुप्रविष्ट
हो गया” इत्यादि धुनियोंद्वारा
परब्रह्मको ही उपाधिकी प्राप्ति
दिखानेकर इस प्रकार उपमहार
किया है कि ब्रह्म निर्विशेष ही है,
उसका जो मापानिबन्धन मेद है वह
जल-सूर्यादिक समान उपाधिके
कारण है ।

इसके सिवा ब्रह्मवेत्ताओंका
अनुभव भी प्रपञ्चका साधक है,
क्योंकि उन्हें निःप्रपञ्च आत्मका
अनुभव रहता है । ऐसा ही यह
धुनि ठनकर अनुभव प्रदर्शित करती
है—“प्रिय स्थितिमें ज्ञानीको सब
मूल आत्मा ही ही ज्ञात हैं, उसमें
उम एकत्वदर्शिके उभये क्या भोक्त
आर क्या माह हो मद्यत्त है”
“जो ही जानकर कोई छेप नहीं
रहता” इत्यादि । इसी प्रकार
निर्वाणत्व भी उपमहा किया है—
“नहीं अन्य-मा हो यहाँ अन्य
अन्यका भाव, किन्तु प्रिय
स्थितिमें इसे सब आत्मा ही हो गया
है तबमें जिसमें नित्ये भाव” ।

“यदसदृश्यते मूर्त्त
 मेतज्ज्ञानात्मनस्तव ।
 भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति
 अगदूपमयागिन ॥
 ये तु ज्ञानविदः शुद्ध
 चेतसस्तऽस्मिन् जगत् ।
 ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति
 स्वरूप पारमेश्वरम् ॥”

(विष्णु १ । ४ । १९-४१)

“निदाघोऽप्युपदेशेन
 तेनाद्वैतपरोऽमबत् ।
 सर्वमूठान्यशेषेण
 ददर्श स तदात्मनः ॥
 तथा ब्रह्म ततो मुक्ति
 मवाप परमां दिवः ॥”

(विष्णु २ । १६ । १९-२)

“अत्रात्मव्यतिरेकेण
 द्वितीयं धो न पश्यति ।
 ब्रह्ममूठः स एवेह
 वेदशास्त्र उदाहृतः ॥”

इत्येवं भ्रुतिस्मृतिपुक्तिषोऽनु

भ्रुतिस्मृति- भ्रुतव्य प्रपञ्चस्य

रूपज्ञाना-वाचित- वाचितस्वादत्यन्त

तत्त्वः- विलक्षणानामसदृश-

रूपाणां मधुरविकृतपीतादीनामपि
 परस्पराभ्यासदर्शनाद्मूर्तेऽभ्यासश्चे
 तत्तमस्मिन्ताभ्यासदर्शनादास्मा-
 दात्मनोरत्यन्तविलक्षणयोर्मूर्ताम्

“यह जा कुछ मूर्त्त जगत्
 निस्वार्थ होता है यह ज्ञानस्वरूप
 अणुका ही रूप है । अज्ञानाभ्यास
 भ्रान्तिज्ञानके कारण इसे जगत् रूप
 दसते हैं । विदु जो शुद्धचित्त
 ज्ञानवान् पुरुष हैं वे इस सम्पूर्ण
 जगत्को आप ज्ञानस्वरूप परमेश्वरका
 ही स्वरूप दसते हैं ।” “अमुके उस
 उपदेशसे भ्रान्त मी अद्वैतपरायण हो
 गया और सब प्राणियोंका सर्वथा आत्म-
 स्वरूप दसने लगा । तथा उसे
 ब्रह्मसाक्षात्कार हो गया । फिर उस
 ब्रह्मणको आस्पन्तिक मोक्ष प्राप्त
 हो गया ।” “इस छोकमें जो पुरुष
 आत्मासे भिन्न अन्य कुछ नहीं
 देखना, उसीको वेद और शास्त्रोंमें
 ब्रह्ममूठ कहा है ।

इस प्रकार भ्रुति स्मृति, युक्ति
 और अनुभवसे भी प्रपञ्च वाचित है
 अत्यन्त विलक्षण और विभिन्नरूपवाले
 मधुर-सिद्ध एव श्वेत-पीतदि पदार्थोंका
 भी परस्पर अभ्यास देखा जाता है और
 अमूर्त्त आकाशमें भी तन्मयिनीतादि
 का अभ्यास देखा गया है,
 इसलिये परस्पर अत्यन्त विलक्षण
 मूर्त्तिमत् और मूर्त्तिहीन अनात्मा एव

तयोरेपि तथा सभवात्स्थूलोऽहं
कृशाऽहमिति देहात्मनोरप्यासानु
भवात् ।

“हन्ता चेन्नन्यत हन्तु

हतश्चन्मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न चिजानीतौ

नार्यं हन्ति न हन्यते ॥”

(क उ २ । २ । ९)

इत्यादिधृतिदण्डनाम् “य

एनं वेत्ति हन्तारम्” (गीता २ ।

१९) “प्रकृतेः क्रियमाणानि”

(गीता ३ । २७) इतिस्मृति

दर्शनाद्याप्यामस्य प्रहत्याया

त्मेकत्वविद्याप्रतिपक्षय उपनिषदा

रम्यत ।

आत्मापर भी अप्यास हाना सम्भव
है तथा (मैं रथूँ हूँ) (मैं कृश हूँ)
इस प्रकार देख आर आरनाके
अप्यासकर अनुभव भी होता ही है,
एवं “यदि मारनेवाला होकर
किसीको मारना चाहता है अपना
मातृ जानेवाला होकर अपनेको मारा
हुआ मानता है—तो वे दोनों ही
आत्माको नहीं जानते, क्योंकि यह
आत्मा तो न मारता है और न
मारा जाता है” इत्यादि धृति
दम्बी जाती है तथा “अहं इसे
मारनेवाला सम्झता है” “प्रकृतिने
गुणोंसे किये जात हुए कर्माकारण”
इत्यादि स्मृति शक्य भी दरा जाते
हैं इसलिये इस अप्यासक नाम
और अज्ञानपरिणताकर बोध कराने
बाल ज्ञानपरि प्राणिक लिये यह
उपनिषद् आरम्भ परी जाती है ।



जगत् कारण ब्रह्मके स्वरूपके विषयमें

ब्रह्मवादी ऋषिओंका विचार

ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्यादि	ब्रह्मवादिनो वदन्ति इत्यादि
श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषत् ।	श्वेताश्वतरशास्त्राकी मन्त्रोपनिषद् है ।
तस्या अल्पग्रन्था इतिरारम्भते—	उसकी यह संहिता टीका आरम्भ की जाती है—

हरि ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता

जीवाम केन क्व च सप्रतिष्ठा ।

अधिष्ठिता केन सुखेसरेषु

वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥

ॐ ब्रह्मवेत्ताछेग कहते हैं—जगत्का कारणमूल ब्रह्म कैसा है ? हम किससे उत्पन्न हुए हैं ? किसके द्वारा जीवित रहते हैं ? कहाँ स्थित हैं ? और हे ब्रह्मविद्गण ! हम किसके द्वारा सुख-दुःखमें प्रेरित होकर मृत्यु (संसारयात्रा) का अनुष्ठीन करते हैं ? ॥ १ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्यादि ।

ब्रह्मवादिनो वदन्ति इत्यादि ।

ब्रह्मवादिनो ब्रह्मवदनशीलाः सर्वे

जो ब्रह्मवादी थे अर्थात् ब्रह्मके

संभूय वदन्ति किं कारणं ब्रह्म

स्वभाव ब्रह्मचर्चा करनेका या ऐसे

किमिति स्वरूपविषयोऽयं प्रश्नः ।

छेग—किं कारणं ब्रह्म (जगत्का

अथवा कारणं ब्रह्माहोस्वित्कालादि

कारणमूल ब्रह्म कैसा है ?) किस

'कालः स्वभावः' इति वाक्यमात्मम् ।

इत्यादि वाक्यसे ब्रह्मके स्वरूपके

विषयमें प्रश्न किया गया है । अथवा

इस जगत्का कारण ब्रह्म है या अज्ञान

स्वभाव वादि वाक्यसे आगे बढ़ने

जानेवाले काल आदि । अथवा ब्रह्म

अथवा किं कारणं ब्रह्म सिद्धिरूपम्
 उपादानमूर्तं किमित्यर्थः । अथवा
 बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं
 ब्रह्मति भृत्यैव निर्वचनाभिहितो-
 पादानयोरुभयोर्वा प्रथमः किं
 कारणं ब्रह्मति । किं कारणं
 ब्रह्माहोस्वित्कालादि ? अथवा
 कारणमेव ? कारणत्वेऽपि किं
 निमित्तमुतोपादानम् ? अथवा
 मयम् ? तदा किंलक्षणमिति
 वक्ष्यमाणपरिहारानुरूपेण तन्त्रे
 णाष्टस्या वा प्रश्नेऽपि संग्रह
 कर्तव्यः; प्रश्नापश्चत्वात्परि-
 हारस्य ।

इतः स जाताः इतो वयं
 कार्यकारणवन्तो जाताः ? स्वरूपेण
 जीवानामुत्पत्त्यायसम्भवात् । तथा
 च भूति — “न जायते म्रियते
 वा विपश्चिद्” (फ० उ० १ । २ ।

[यदि कारण ही तो यह उपादान
 आदि कारणोंमेंसे] कौन-सा कारण ही ?
 यानी स्वतः सिद्ध ब्रह्म क्या जगत्का
 उपादान कारण ही ? अथवा “ब्रह्मा
 ब्रह्मा ही तथा ब्रह्माता ही इसलिये
 परब्रह्म ब्रह्मा ब्रह्माता ही” इस प्रकार
 भूमिगत ही ब्रह्मशब्दकी व्युत्पत्ति
 की जानेके कारण उसके निमित्त
 और उपादान दोनों ही प्रकारके कारण
 होनेके क्रममें ब्रह्म कौन कारण
 ही ऐसा यह प्रश्न है । [उत्तरमें
 यह ही कि] क्या जगत्का कारण
 ब्रह्म ही अथवा कश्चिद्वि ? या ब्रह्म
 कारण ही नहीं ही ? यदि कारण ही
 भी तो निमित्त कारण ही वा उपादान
 अथवा दोनों ? और उसका लक्षण
 क्या है ? आगे इस प्रकार जो
 परिहार कहा गया है उसके अनुसार
 उन सब विरयोंका एक साथ अथवा
 अत्र-अत्र प्रश्नमें भी संग्रह कर
 लेना चाहिये, क्योंकि परिहार ही
 प्रश्नकी अपेक्षा करके ही होता है ।

हम कहेंगे उत्पन्न हुए हैं—
 देह और इन्द्रियसम्पन्न हम लोगोंकी
 विसृष्टे उत्पत्ति हुई है ? क्योंकि
 स्वप्नमें तो जीवोंके जन्म-मर्त्य होने
 मन्मथ हैं नहीं । ऐसी ही ये
 स्थितियाँ भी हैं—“यह मेवाही आत्मा
 न उत्पन्न होता है, न मरता है”

१८) “जीवापेत वात्र किलेद
म्रियते न जीवो म्रियत इति”
(छा० उ० ६।११।३) ।
“अरामृत्यु शरीरस्य” । “अवि
नाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छि-
धर्मा (ष्ट० उ० ४।५।१४) इति ।
तथा च स्मृति — “अत्र शरीर
ग्रहणात्सजात इति कीर्त्यते” इति ।

किं च, जीवाम कन—केन वा
वय सृष्टाः सतो जीवामेति
स्थितिविषय प्रश्न । क्व च
संप्रतिष्ठा प्रलयकाले स्थिताः ?
अधिष्ठिता नियमिता केन सुखे
तरेषु सुन्दरुःसुषु वर्तामह प्रश्न
विदो व्यवस्था इ प्रश्नविदः
सुन्दरुःखेषु व्यवस्था कना-
धिष्ठिता सन्तोऽनुवर्तामह इति
सृष्टिस्थितिप्रलयनियमहेतु कि
मिति प्रश्नसंग्रहः ॥ १ ॥

“जीवसे रहित होकर यह शरीर ही
मरता है जीव नहीं मरता”, “अर-
मृत्यु ये शरीरके घम हैं”, “अ
मैत्रेयि ! यह आत्मा अनिनाशी और
अनुच्छिन्तिधर्मा (कभी उच्छिन्न न
होनेवाण) है ।” ऐसा ही स्मृति
भी कहती है—“यह अजन्म
शरीरग्रहण करनेसे ‘जन्म लेना है’
ऐसा कहा जाता है ।”

इसके सिवा [एक प्रश्न यह
है—] हम किसके द्वारा भीक्षित रहते हैं ?
अर्थात् उत्पन्न होकर हम किसके
द्वारा भीक्षु धारण करते हैं ! इस
प्रश्न यह स्थितिविषयक प्रश्न है ।
तथा कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं—प्रलय-
कालमें किन्तमें स्थित रहते हैं ! और
हे प्रश्ननिर्णय ! किन्तक द्वारा अधिष्ठित
अर्थात् प्रेरित होकर सुखासुख यानी
सुख-दुःखमें व्यवस्था (संसार-यात्रा)
को बर्तते हैं ! अर्थात् हे प्रश्नवेत्ताओ !
हम किसके द्वारा प्रेरित होकर सुख-
दुःखमें व्यवस्था (लोक-यात्रा) का
अनुवर्तन करते हैं । इस प्रश्न
किम् इत्यादि प्रश्नसमूह जगत्की
उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और नियमके
हेतुके विषयमें है ॥ १ ॥

काल, स्वभाव आत्मीय बगल-करणताका लण्डन

इदानीं कालादीनि ब्रह्मकारण
षादप्रतिपक्षभूतानि विचारविषय
त्वेन दर्शयति -

अब श्रुति ब्रह्मकारणत्वके विरोधी
कालादिको विचारके विन्यस्तपसे
प्रदर्शित करती है—

काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा

भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।

सयोग एषां न त्वात्मभावा

दात्माप्यनीश सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

काल, स्वभाव, नियति यदृच्छा, भूत और पुरुष—ये कारण हैं
[या नहीं] इसपर विचारना चाहिये । इनका संयोग भी [अपने घेरी]
आत्माके अधीन होनेके कारण कारण नहीं हो सकता तथा जीवत्मा भी
सुख-दुःखके हेतु [पुण्यपुण्य कर्मों] के अधीन है । [इसलिये वह भी
कारण नहीं हो सकता] ॥ २ ॥

कालः स्वभाव इति । योनि
शब्दः सञ्चयत । कालो योनिः
कारण स्यात् ? काला नाम सर्प
भूतानां विपरिणामहेतुः । स्वभाव ,
स्वभावो नाम पदाधानां प्रति
नियता शक्ति ; अमरौप्यमिव ।
नियतिरविषमपुण्यपापलक्षण कर्म
तदा कारणम् ? यदृच्छाकामिकी

काल स्वभाव इत्यादि । इन सबके
सापेक्षो योनि शब्दका सम्बन्ध है । क्या
काल योनि—कारण हो सकता है ?
संशुभ भूतोंकी रूपान्तर-प्राप्तिमें जो
हेतु हैं उसको काल कहते हैं । इसी
प्रकार क्या स्वभाव कारण है ? पदाधौ-
की नियत शक्तिका नाम स्वभाव है,
जैसे अग्निका स्वभाव उष्णत्व ।
अपना क्या नियति कारण है ? पुण्य-
पापका जो अविषम कर्म है वे
'नियति' कहे जाते हैं । या यदृच्छा—

प्राप्ति । मृतान्याकाशादीनि वा
 योनि ? पुरुषो वा विज्ञानात्मा
 योनि ? इतीत्यमुक्तप्रकारण किं
 योनिरिति चिन्त्या चिन्त्यं
 निरूपणीयम् । केचिद्योनिशब्दं
 प्रकृतिं वर्णयन्ति । तस्मिन्पक्षे
 किं कारणं प्रकृतिं पूर्वोक्तं कारणं
 पदमत्राप्यनुसंधयम् ।

तत्र कालादीनामकारणत्व
 दर्शयति—सयोग
 एयामित्यादिना ।
 अयमर्थ—किं काला-
 दीनि प्रत्येकं कारणमुत तेषां
 समूह । न च प्रत्येकं कालादीनां
 कारणत्वं संभवति, दृष्टविद्व
 त्वात् । देखकालनिमित्तानां सह
 तानामेव ताक कर्षकत्वदर्श
 नात् । न चाप्येषां कालादीनां
 संयोगः समूहः कारणम्,
 समूहस्य सहते परार्थत्वेन
 शेषत्वेन शेषस्य आत्मनो विद्य

आकस्मिक घटना व्यपवा तात्पर्यादि
 मूल कारण हैं ? या पुरुष मानी
 विज्ञानात्मा जगतकर कारण है ? इस
 प्रश्न उपर्युक्त रीतिसे यह विचारना
 पानी बतगना चाहिये कि इसमें
 कौन कारण है ? कोई 'योनि'
 शब्द का अर्थ प्रकृति बतल्यते हैं ?
 उक्त अत्रस्थाने पूर्व मन्त्रमें किं कारण
 मत्स्य' इस प्रश्नमें आये हुए कारण-
 पदकी यहाँ भी अनुवृत्ति कर लेनी
 चाहिये ।

इसपर श्रुति 'संयोग एयाम्' इत्यादि
 वाक्यसे यह प्रदर्शित करती है कि
 काल आदि कारण नहीं है । इसका
 अभिप्राय यों समझना चाहिये—ज्या
 करण, समाप्त आत्मिसे प्रत्येक
 ही कारण है अथवा उन सबका
 समूह ! कलमिसे प्रत्येक तो
 कारण हो गहाँ सकल, न्योक्ति
 ऐसा मानना प्रत्यक्ष-विद्व है । शोकमें
 देहा-कलमि निमित्तोंको परस्पर
 मिळकर ही कार्य करते देख गया
 है । और इन कलमि संयोग
 पानी समूह भी कारण नहीं हो सकल
 है क्योंकि समूह पानी संश्रुति परार्थ
 अर्थात् शेष होती है और उक्तक शेष
 आत्म निषमान है ही । एत सत्यं न

मानत्वात्स्वातन्त्र्यात्सृष्टिसिद्धि-
प्रथमनियमलक्षणकार्यकर्मत्वा
योगात् ।

इनेके कारण यह सृष्टि, स्थिति,
प्रलय और प्रेरणारूप कार्य करनेमें
समर्थ नहीं है ।

आत्मा सृष्टि कारण स्वादे
अज्ञः वात आह—आत्मा
अविद्यमानः प्रवृत्तः सुखदुःख
निराह हेतोरिति । आत्मा
वीथोऽप्यनीथोऽक्षतन्त्रो न कार
णम्, अस्वातन्त्र्यादेव आत्मनो
ऽपि सृष्ट्यादिहेतुत्वं न समव
तीत्यर्थः । कथमनीथत्वम् ? सुख-
दुःखहेतो सुख-दुःखहेतुमूला
पुण्यापुण्यलक्षणस्य कर्मणो विद्य-
मानत्वात्कर्मपरमशस्त्रेणास्वात
न्त्र्याच्च त्रैलोक्यसृष्टिम्यविविनियमे
सामर्थ्यं न विद्यत एवत्यर्थः ।
अथवा सुखदुःखादिहेतुमूला
व्याप्तिसृष्टिमेदमित्यस्य अगतो
ऽनीथो न कारणम् ॥ २ ॥

तब तो आत्मा कारण हो ही
नसकता है, उतरा रहते हैं—
'आत्मान्पनीथः सुखदुःखतो ।'
कारण आत्मा यानी बीच में अनीथ—
अज्ञानत्र है—यह भी सृष्टि आदिका
कारण नहीं है । वात्पय यह है
कि अज्ञानत्राके ही कारण आत्मक
भी सृष्टि आदिमें हेतु होना सम्भव
नहीं है । इसकी असमन्वता कैसे है ?
[सो बताते हैं—] सुखदुःखहेतु—
सुख-दुःखके हेतुमूल पुण्यापुण्यस्य
कर्म निषमान हैं, उन उन कर्मोंके
बधीन होनेसे इसकी अज्ञानत्रा है ।
इसीसे त्रैलोक्यकी सृष्टि, स्थिति और
नियमनमें इसका सामर्थ्य नहीं ही
है—यही इसका अविद्याप है । अथवा
[ये समझना चाहिये कि] आत्मा
सुख-दुःखादिके हेतुमूल व्याप्तिसृष्टि-
कारि केनेत्रने अगतकर ईश—
कारण नहीं है ॥ २ ॥

७ शरीरके जो व्याप्तिसृष्टि आदि में हीकारण अज्ञान आत्माके कथन और इत्यादि
कारण है उतनी वह अज्ञानकारी तब ही क्यों एतन्त्र कोण ?

ध्यानके द्वारा शक्तिमोक्षे कारणभूता

महाशक्ति साक्षात्कर

एवं पद्धान्तराणि निराकृत्य

प्रमाणान्तरागोचर वस्तुनि प्रकृ

रान्तरमपश्यन्तो ध्यानयोगानु

गमेन परममूलकारणं स्वयमेव

प्रतिपेदिर इत्याह —

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।

य कारणानि निखिलानि तानि

कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ ३ ॥

उन्होंने ध्यानयोगकर अनुष्ठान कर अपने गुणोंसे व्याप्यदित परमात्मकी शक्तिकर साक्षात्कर किया, जो (परमात्मा) कि अक्षर ही कालसे लेकर व्याप्यर्षयस्त समस्त कारणोंके अधिष्ठान हैं ॥ ३ ॥

ते ध्यानयोगेति । ध्यानं नाम

चित्तैकाग्र्यं सदस योगो युज्यते-

ऽनेनेति ध्यातव्यस्वीकारोपायः,

तमनुगताः समाहिता अपश्यन्

दृश्यन्तो देवात्मशक्तिमिति ।

ते ध्यानयोगानुगता । इत्यादि ।

ध्यान चित्तकी एकप्रतापने कहते हैं; कही योग है—निरुक्ते द्वारा चित्तकी युक्त किया नाथ इस ध्युत्पत्तिके अनुसार ध्येय वस्तुके प्रवृत्तिकर उपाय ही योग है । उसपर अनुगमन कर वर्षात् समाहित हो उन्होंने देवात्मशक्तिकर दर्शन— साक्षात्कर किया ।

पूर्वोक्तमेव प्रश्नसमुदायपरि
 हारणां सूत्रसुत्तरत्र प्रत्येकं प्रप
 ष्यिष्यते । तत्राय प्रश्नसंग्रह — किं
 ब्रह्म कारणम् ? आहास्विस्फालादि ?
 तथा किं कारण ब्रह्माहोस्विस्कार्य
 कारणविलक्षणम् ? अथवा कारणं
 भाकारण वा ? कारणत्वेऽपि
 किमुपादानमुक्त निमित्तम् ? अथ
 बोधयकारण ब्रह्म किंलक्षणम् ?
 अकारण वा ब्रह्म किं लक्षणम् ? इति ।

प्रश्नसमुदाय और उसके समा-
 धानोका जो सूत्र पहले कहा जा
 चुका है उसीको एक धारो प्रत्येकका
 विस्तार करके कहा जायगा । इनमें
 प्रश्नसमुदाय तो इन प्रकार है—
 क्या ब्रह्म मगत्कार्य कारण है अथवा
 कारणम् ? तथा ब्रह्म कारण है या कारण-
 कारणसे अनीत ? अथवा ब्रह्म कारण है
 या नहीं ? यदि कारण है मी तो
 उपादान कारण है या निमित्त
 कारण ? अथवा दोनों प्रकारका कारण
 होनेपर मी ब्रह्मका लक्षण क्या है ?
 और यदि वह कारण नहीं है तो
 मी उसका क्या लक्षण है ?

तत्राय परिहारः—न कारण
 नाप्यकारण न बोधय नाप्यलु
 मय न च निमित्तं न उपोपादानं
 न चाभयम् । एतदुक्तं भवति—
 अद्वितीयस्य परमात्मना न स्वत
 कारणत्वमुपादानत्वं निमित्तत्वं
 च । यदुपाधिकमस्य कारणत्वादि
 तदेव कारणं निमित्तमुपपाद्य
 तदेव प्रयोक्तव्यं निष्कृष्य दर्श

इस प्रश्नसमुदायका यह उत्तर
 है— ब्रह्म न कारण है, न अकारण
 है न कारणकारण उभयस्वरूप है, न
 इन दोनोंमें मित्त है, न निमित्त
 कारण है, न उपादान कारण है और
 न दोनों प्रकारका कारण है । यहाँ
 कहना यह है कि अद्वितीय परमात्मा-
 का कारणत्व, उपादानत्व अथवा
 निमित्तत्व सब कुछ मी नहीं है ।
 तिस उपाधिक कारण इसका
 कारणत्वादि है उसी कारण यानी
 निमित्तका उपपादन कर और
 उसीको एतदुक्त निमित्त करने

यति—देवात्मशक्तिमिति । देवस्य
घोतनादियुक्तस्य मायिनो मह
शरस्य परमात्मन आत्ममूढाम-
स्वतन्त्रतां न सांख्यपरिकल्पित
प्रधानादिवदृष्यमूढां स्वतन्त्रां
शक्तिं कारणमपश्यन् । दर्शयि-
ष्यति च—“मायां तु प्रकृतिं
विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥
(श्वेता० उ० ४ । १०) इति ।

तथा ब्राह्मे—“एषा चतुर्वि-
ध्वतिभेदभिन्ना माया परा प्रकृति-
स्तत्समुत्था ।” तथा च—“मया
ध्यक्षेण प्रकृतिं स्रजत सधरा
चरम् ॥” (गीता ९ । १०) इति ।

स्वगुणैः प्रकृतिकार्यभूतैः पृथि-
व्यादिभिर्य निगूढां संभूतां का-
र्याकारेण कारणाकारस्थाभिभूत
स्वात्कार्यस्तृष्यस्वरूपेणोपलभ्यु-
मयोग्यामित्यर्थः । तथा च प्रकृ-
तिकार्यस्य गुणानां दर्शयति
ध्यासः—“सत्त्वं रजस्तम इति
गुणा प्रकृतिर्धमवाः ॥” (गीता
१४ । ५) इति ।

‘देवात्मशक्तिम्’ इत्यादि वाक्यसे
दिखाते हैं—उन्होंने देव—
घोतनादियुक्त मायावी महेश्वर—
परमात्माकी स्वरूपमूढा, अस्वतन्त्र
शक्तिको कारणरूपसे देखा,
सांख्यमतद्वारा कल्पना किये हुए
प्रधानादिके समान उससे भिन्न किसी
स्वरूपा शक्तिको नहीं । आगे धृति
यह दिखानेकी भी—“मायाको
प्रकृति जानो और मायावीको
महेश्वर ।”

इसी प्रकार ब्रह्मपुराणमें कहा है—
“यह चौबीस प्रकारके भेदोंवाली माया
परमात्मासे प्रकट हुई उसीकी परा
प्रकृति है ॥” तथा गीतामें कहा
है—“मुझ अधिष्ठानके द्वारा प्रकृति
कारणको उत्पन्न करती है ॥”

[किसी शक्तिको देखा—] जो
अपने गुणोंसे प्रकृतिके कार्यमूल
पृथ्वी आदिसे निगूढ—आच्छादित
थी । क्योंकि कारणका स्वरूप
कार्यके स्वरूपसे दब जानेके कारण,
जो कार्यसे पृथक् अपने स्वरूपसे
उपलब्ध होनेयोग्य नहीं थी । गुण
प्रकृतिके कार्य हैं—यह बात
“सत्त्वं, रज और तम—ये प्रकृतिसे
उत्पन्न हुए गुण हैं” इस वाक्यसे
ध्यासकी भी निश्चयते हैं ।

क्षेत्रज्ञसौ देशो यस्येय विश्व
जननी शक्तिरभ्युपगम्यत इत्य
ब्राह्—यः कारणानीति । मः
कारणानि निखिलानि तानि पूर्वो-
क्तानि कालात्मयुक्तानि कालात्म-
न्यां युक्तानि काठपुरुरूपमयुक्तानि
स्वभावादीनि 'कालः स्वभाव' इति
मन्त्रोक्तान्यधितिष्ठति नियम
यत्येकोऽद्वितीय परमात्मा तस्य
शक्ति कारणमपश्यमिति वा
क्यार्थ ।

अथवा देशात्मशक्ति दद्या-
त्मनेश्वररूपणावस्थितां शक्तिम् ।
तथा च—

“सर्वभूतेषु सधारम

न्या शक्तिरपरा तत्र ।

गुणाधया नमस्तस्यै

छास्वतायै परेश्वर ।”

यावीतागाधरा वाधां

मनसां चाविशेषणा ।

ज्ञानध्यानपरिच्छेद्या

सां धन्दे देवतां पराम्” ॥ इति

प्रपञ्चयिष्यति स्वभावादाना-

यह विश्वको उत्पन्न करनेवाली
शक्ति जिसकी समझी जाती है वह
देव कौन है ? इसपर कहते
हैं—‘य कारणानि’ इत्यादि । जो
एक अद्वितीय परमात्मा पहले घतअये
इएकालात्मयुक्त समस्त कारणोंको—
काठ और आत्मासे युक्त अर्थात् काठ
और पुरुरूपसे संयुक्त स्वभावको, जो
कि, ‘काठ स्वभाव’ इत्यादि मन्त्रमें
वतजाये गये हैं, अधिष्ठित—नियमित
करता है, उसीकी शक्तिको अगात्के
कारणरूपसे देखा—ऐसा इस वाक्यमें
तात्पर्य है ।

अथवा देशात्मशक्तिम्—देशात्मना
अर्थात् ईश्वररूपसे स्थित शक्तिको
देखा ऐसा ही यह वाक्य भी है—
‘महे सर्वेश्वरम् ! आपकी जो गुणोंकी
आधयभूत अथवा शक्ति समस्त
भूतोंमें स्थित है, हे परमेश्वर ! उम
निर्या शक्तिको ममस्वरूप है । जो
एकी तथा मनसे अनीन और अनीश्वर
एवं निर्बिद्येय है तथा ज्ञान और
ध्यामसे निरन्तर मणीर्भूति विभेक
हो सकता है उस परा देवताकी मैं
कन्मा करती हूँ ।” इससे अद्वितीय
शक्ति समझी जगत्के अगमनी है,

मकारणत्वमज्ञानस्यैव कारणत्वं

“स्वभावमक कवया षदति”

(श्वेता० उ० ६ । १) इत्यादि ।

“मायी सृजते विश्वमेतत्”

(श्वेता० उ० ४ । ९) । “एको

रुद्रो न द्वितीयो तस्यु”

(श्वेता० उ० ३ । २) । “एकोऽ

वर्णो बहुधा शक्तियोगात्”

(श्वेता० उ० ४ । १) इत्यादि ।

स्वगुणरीश्वरगुणैः स्रष्टव्यवादि

मिर्बा स्रष्टादिभिर्निगूढां कार्य

कारणविनिष्ठकपूर्णानन्दाद्वितीय

प्रज्ञात्मनैवानुपलम्ब्यमानाम् ।

क्याऽसौ दयः ? यः कारणा

नीत्यादि पूर्ववत् । अथवा दयस्य

परमेश्वरस्यात्ममूर्ता जगदुदय

म्पितृकपदतुमूर्ता प्रद्यविष्णु

त्रिशक्तिमतां शक्तिमिति । तथा

चाक्तम्—

अज्ञान ही कारण है—इस बातका आगे

विस्तारपूर्वक वर्णन करेगी, यथा “ध्वजे

कर्षे विद्वान् स्वभावमेतद् ही जगत्स्य

कारण बतलाते हैं” इत्यादि, “मायी

परमेश्वर इस विश्वकी रचना करता

है”, “एक रुद्र ही है, परमार्थेशी

ब्रह्मवेत्ता दूसरेकी अपेक्षा नहीं

रखते”, “व्यं (जाति) आदि

विभेदोंसे रहित विन एकमात्र—

अद्वितीय परमेश्वरमे अपनी नाना

प्रकारकी शक्तियुक्ति योगसे [अनेकों

वर्णोंकी सृष्टि की है]’ इत्यादि ।

[कैसी शक्तिसे दखा !] अपने

गुणोंसे यानी सर्वशक्ति इत्सीय

गुणोंसे अथवा स्रष्टादि प्रद्यविष्णु

गुणोंसे निगूढ दखा; अर्थात् आ

कर्मकारणभावसे रहित पूर्णानन्दा-

द्वितीय परब्रह्मसे अभिन्न होनेके

कारण उपलब्ध नहीं हो सकती

[एसी शक्तिसे दखा] ।

बहु दय कौन है ? [इसका उत्तर दय

है—] जो सब कारणोंका अविद्यन है—

इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये ।

अथवा दय यानी परमेश्वरकी स्वल्प-

मूर्ता अर्थात् जगत्की उत्पत्ति,

स्थिति और लयकी हेतुमूर्ता प्रज्ञा,

विष्णु और शिवरूपी शक्तियु-

क्ता । एसा ही एसा ही है—

“वृत्तस्यै यस्य देवस्य
ब्रह्मविष्णुशिवशक्तिमकाः” इति ।

“ब्रह्मविष्णुशिवना ब्रह्म
त्रयधाना ब्रह्मशक्तयः ,,
इति च ।

स्वगुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः ।
सत्त्वेन विष्णु रजसा ब्रह्मा तमसा
महेश्वर सत्त्वाधुपाधिसत्त्वधात्स
रूपेण निरुपाधिकपूर्वानन्दादि
वीर्यप्रकारानैवानुपलभ्यमानाः ।
परस्मैव ब्रह्मण सृष्ट्यादिकार्यं
कुर्वन्तोऽवस्थामेदमापित्य शक्ति-
भेदव्यवहारान पुनस्तत्त्वभेदमा-
पित्य । तथा चाक्षुष्—

“सगस्त्रिस्यन्तकरणी
ब्रह्मविष्णुशिवशक्तिमकाः)

स संज्ञां याति मगधा
नेक एव जनार्दन ” इति ।
(विष्णु पु १।२।१६)

प्रलयमीश्वरात्मना मायिरूपे
पाशविष्टं ब्रह्म । स पुनर्मूर्तिं
रूपेण त्रिधा व्यपतिष्ठते । तेन
च रूपेण सृष्टिस्त्रिसंसाररूप
नियमनादिकार्यं करोति । तथा

“त्रिस पक्वति ब्रह्मा, विष्णु और
शिवरूपा शक्तियों हैं” इत्यादि तथा
“हे जनार्न् । ब्रह्मा, विष्णु और शिव—
ये ब्रह्मकी प्रधान शक्तियों हैं
इत्यादि ।

स्वगुणों कर्पात सत्त्व, रज और
तमसे युक्त । सत्त्वादि गुणरूप
उपाधिके कारण ही वह सत्त्वसे
विष्णु, रजसे ब्रह्मा और तमसे महादेव
कहा जाता है, ये सब स्वतः निरु-
पाधिक पूर्वानन्दादिसत्त्व ब्रह्मरूपसे
ता उपलब्ध हो ही नहीं सकते ।
ये परब्रह्मके ही सृष्टि आदि कार्य
करते हैं, इसलिये अवस्थामेदके
व्यवहारपर इनमें शक्तिभेदका व्यवहार
होता है, तास्त्रिक भेदके कारण नहीं ।
एता ही ब्रह्मा भी है— “यद् एक ही
मात्रान जनार्दन उत्पत्ति, स्थिति
और संहारकारिणी ब्रह्मा, विष्णु और
शिवरूप संज्ञाओंको प्राप्त हो
जाता है ।”

परब्रह्म पहले तो ईश्वररूप
मायामयरूपसे स्थित होता है ।
कित्त वह पुरुषरूप होकर त्रिधा
प्रयत्नरूप हो जाता है । उस
त्रिविधरूपसे वह जगत्की उत्पत्ति,
स्थिति, संहार और नियन्त्रादि कार्य
करता है । इसी प्रकार शक्ति भी

व श्रुति परस्य शक्तिद्वारेण
नियमनादिकाय दर्शयति—

“ढोकानीश्वत ईशुनाभि प्ररयद्
वर्नास्तिष्ठति सत्रुकोषान्तकाले
संसृज्य विश्वा सुवनानि गोपाः”

(श्वेता० उ० ३।२) इति ।

ईशुनीभिर्बननीभिः परमशक्ति
मिरिति विशेषणात् । “ब्रह्म
विष्णुशिवा ब्रह्मन्प्रधाना ब्रह्म
शक्तयः” इति स्मृतेः परमशक्ति
मिरिति परदेवतानां ब्रह्मम् ।

अथवा देवात्मशक्तिमिति दे
वभास्मा च शक्तिश्च यस्य परस्य
ब्रह्मणो बस्यामेवास्तां प्रकृति
पुरुषेश्वराणां स्वरूपमूर्तां ब्रह्म-
रूपमत्वमितां परास्परसरां शक्ति
कारणमपश्यमिति । तथा च
प्रयाणां स्वरूपमूर्तं प्रदक्षयिष्य
ति—“भोक्ता भोग्यं प्ररितारं च

शक्तिक द्वारा परमात्माये नियमनादि
कार्य प्ररिहित करती है । “परमात्म
अग्नी ईशानी शक्तियोसे ओकोको
शासन करती है, यह सभी प्राणिकोंके
मीनार विराजमान है । उसने सपत्ता
ओकोको सृष्टि करके उसको रक्षा
करते हुए प्रशुक्ल आनेपर सपको
अपनमें खीन कर लिया” इत्यादि ।
यहाँ ईशानीमि—उपनिषदिकी
परमशक्तियोसे एसा विशेषण दिया
है [इससे जाना जाता है कि ब्रह्म
ही अपनी शक्तियोद्वारा सृष्टि आदि
कार्य करता है] । तथा “भे ब्रह्मन् ।
शवा, विष्णु और महादेव—ये ब्रह्मन्की
प्रधान शक्तियो हैं” इस स्पष्टिके
अनुसार परमशक्तिमि । इस पदसे इन
परदेवताओंका ही प्रमाण होता है

अथवा देवात्मशक्तिम्—देवता,
आत्मा और शक्ति—ये तिस परमात्मके
अवस्थामेद हैं उस प्रकृति, पुरुष और
ईश्वरकी स्वरूपमूर्ता ब्रह्मण्यसे स्मित
परास्पर शक्तिको उन्होंने कारण-
रूपसे देखा; ऐसा ही इन तीनोंके स्वरूपमूर्त ब्रह्मन् “भोक्ता (जीव), भोग्य
(प्राण्य प्रपञ्च) और प्रेरक (अस्त-
र्यामी) इन तीनोंको [परमात्मा]

मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममे-
 तत्” (श्वेता० उ० १।१२) “त्रयं
 यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्” (श्वेता०
 उ० १।९) इति । स्वगुणं ब्रह्म
 परसन्त्र्यं प्रकृत्यादि विशेषणैरुपा-
 धिभिर्निगूढाम् । तथा च दश
 सिष्यति—“एका दश सर्व
 भूतेषु गूढा” (श्वेता० उ० ६।
 ११) इति । “तं दुर्दश गूढ
 मनुप्रविष्टम्” (क० उ० १।२।
 १२) । “यो वेद निहितं
 गुहायाम्” (तै० उ० २।१।१)
 “इहैव सन्तं न विमानति
 देवाः” इति भृत्यन्तरम् । य
 क्षरजानीति पूर्ववत् ।

अथवा देवतमनो घोटना-
 त्मनः प्रकाशस्वरूपस्य ज्योतिषां
 ज्योतीरूपस्य प्रज्ञानघनस्वरूपस्य
 परमात्मना अगदुदयस्थितिलय
 नियमनविषयां शक्ति सामर्थ्य
 मर्यादविशिष्टगुणं स्वप्पष्टिभू-
 तं: सवप्रसर्वैस्त्रिवृत्त्यादिभिर्निगूढां

जानकर फिर तीन भेदोंमें बनाये हुए
 समस्त तत्त्वोंको ब्रह्म ही समझा”,
 तथा “त्रिम सम्य इन तीनोंको ब्रह्म-
 रूपमें अनुभव करता है ।” इन
 वाक्योंसे भुक्ति उन्त्सेख करेगी ।
 [उस शक्तिको] स्वगुणी — ब्रह्मक
 आश्रित प्रकृति आदि विशयगुरुप
 उपाविषोसे व्याप्यदित देला । एसा
 ही “समस्त भूतोंमें छिया हुआ एक
 नेव है” इत्यादि वाक्यसे भुक्ति
 आगे लिखावेगी । तथा इसी अर्थमें
 “उस कठिनप्रसे दीकनेबाय प्रच्छन्न-
 रूपसे अनुप्रविष्टको” “जो बुद्धिरूप
 गुहामें छिय हुए उस देकको जानना
 है” “भूती देहके भीतर विप्रमान
 रहते हुए भी इन्द्रियों उसे नहीं
 जानती” इत्यादि अन्य भुक्तियों भी
 हैं । ५५ करणानि इत्यादि वाक्य
 का अर्थ पूर्ववत् है ।

अथवा दशम—घातनात्मक—
 प्रकाशस्वरूप अर्थात् सनस्त तेषोंक
 तंत्र प्रज्ञानघनमूर्ति परनामाकी
 अगदुदय स्थान पात्र, मंशर आर
 निरुपय परमदश शक्ति अर्थात्
 मानवदश गूढ आ स्वगुणी —
 मर्यादमर्यादित्वादि जान ही
 अगभूत गुणोंमें व्याप्यदित

तच्च द्विवैपरीत्यरूपेणावस्थितत्वात्स्व
रूपेण व्यक्तिमात्रेणानुपलभ्यमा
नाम् । तथा च भानात्तरबधां
शक्तिं दर्शयिष्यति—

“न तस्मात्कारणं च विद्यते

न तत्समव्याप्त्यधिक्यं दृश्यते ।

परास्य शक्तिर्विविधैश्च भ्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥”

(श्लोक उ १।८)

इति । समानमन्वत् ।

कारणं देवात्मशक्तिमिति

प्रश्ने परिहारं च ये ये पञ्चमेदाः

प्रदर्शितास्तैः सर्वैः संगृहीता ।

उत्तरत्र सर्वेषां प्रपञ्चनात्प्रस्तुतस्य

प्रपञ्चनायोगात्प्रश्नोत्तरदर्शनाच्च ।

समाप्तस्यासभारणस्य च विदुषा-

होनेके कारण उन-उन विशेषरूपमें
स्थित रहनेके फलस्वरूप अल्प शक्ति-
मात्र शुद्धरूपसे उपलब्ध नहीं हो
सकती । इसी प्रकार आगे बचकर
शुद्धि उस शक्तिके अन्य किन्हीं
प्रमाणोंसे अल्प ही प्रदर्शित करेगा ।
“उस परमात्माका कोई कार्य
(देह) या कारण (इन्द्रिय) नहीं
है, उसके समान या उससे अधिक
भी कोई नहीं है । उसकी माना
प्रकारकी पदशक्ति और सामाजिक
ज्ञानके प्रमाणसे होनेवाली क्रिया सुनी
जाती है ।” शेष अर्थ पूर्ण है ।

किं कारणम् और देवत्व-
शक्तिम् इस प्रश्न और उत्तरमें
जो-जो पक्षभेद निरूप्ये गये हैं
उन सबका यहाँ श्रुतिमें संक्षेपसे
संग्रह किया हुआ है क्योंकि
आगे इन सबका विस्तारसे निरूपण
किया गया है । तथा अष्टादश विष्णु-
का विस्तार करना उचित नहीं होकर
और [इनके निरूपणमें तो] प्रश्नोत्तर भी
देखे गये हैं ।* इनका संक्षेप और
विस्तारसे जो वर्णन किया गया है

* इसमें भी लिखा होता है कि पूर्वोक्त पद श्रुतिवन्मत ही है क्योंकि नहीं
कितने अष्टादश विष्णुके गये हैं उन सबमें प्रमाणपूर्वक श्रुतिही ही अन्तर्निहित
ही गयी है ।

मिष्टत्वात् । तथा चोक्तम्—“इष्ट
 दि विदुषो लोके समासव्यास
 भाग्यम्” इति । तथा च श्रुत्यन्तरे
 सकृच्छ्रुतस्य गापामितिपदस्य
 व्याख्यामद श्रुत्यैव प्रदर्शितः—
 ‘अपश्यं गोपामिन्याह प्राणा वै
 गापाः’ इति । ‘अपश्य गोपामिस्त्याह
 असौ वा आदित्यो गापा’ इति ।
 ‘अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म’ इत्यारम्य
 ‘बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते
 पर ब्रह्म’ इति सकृच्छ्रुतस्य प्रश्न
 पदस्य निमित्तोपादानरूपेणार्थ
 मदः श्रुत्यैव दर्शितः ॥ ३ ॥

यह तो विद्वानोंको इष्ट होनेके कारण
 है । ऐसा ही कथा भी है—
 “अकस्मै संशय और विस्तारपूर्वक
 विस्मयो निश्चिन करना विद्वानोंको
 इष्ट ही है” इसी प्रकार एक दूसरी
 श्रुतिमें एक बार व्याये हुए ‘गोपाम्’
 इस पदकी व्याख्याकर भेद स्वयं
 श्रुतिने ही दिखाया है । यहाँ
 ‘अपश्य गोपामिन्याह प्राण्य वै
 गोपा’ ऐसा कथा है, और फिर
 दुबारा ‘अपश्यं गोपामिन्याह
 असौ वा आदित्यो गोपा’ ऐसा
 कथा है । इसी प्रकार ‘यह
 ब्रह्म क्यों कहा जाता है ऐसा
 कहकर ब्रह्मा हुआ है और ब्रह्म
 ही इसलिये यह परब्रह्म कहा जाता
 है’ ऐसा कहकर श्रुतिमें एक बार
 व्याय हुए ‘ब्रह्म’ पदका स्वयं श्रुतिने
 ही निमित्त और उपान्नभेदसे अर्थ-
 भेद दिखाया है ॥ ३ ॥

एष तावद् ‘देवतमशक्तिं’ य

इस प्रकार यहाँतक परमात्मन-
 की शक्तिसे देखा और ‘आ

१ मीने गोपा (पावन करनेवाले) का इतना किंचा प्राप्त ही मन्त्र है ।

२ मीने तेषां इतना किंचा बहूँ ही गोपा है ।

कारणानि निखिलानि काला
 स्मना युक्ता यधितिष्ठत्येकः। इत्ये
 कस्वाद्वितीयस्य परमात्मनः स्व
 रूपस्य शक्तिरूपेण च निमित्त
 कारणोपादानकारणत्वं मायित्वे
 नेश्वररूपत्वं देवतात्मत्वसर्वज्ञ
 स्वादिरूपत्वममायित्वेन सत्य-
 ज्ञानानन्दाद्वितीयरूपत्वं च समा
 सेन भुत्पर्याम्याममिदितम् ।
 इदानीं तमेव सर्वात्मानं दर्शयति
 कार्यकारणयोरेतन्न्यस्वप्रतिपादनन।
 “वाचारम्भण विकारो नाम-
 धेय मृत्तिकत्येव सत्यम्” (छा
 उ० ६।१।४) इति निदर्श
 नेनाद्वितीयापूर्वनिपरनेतिनेत्या-
 स्मकवागगोचराश्रनायायसस्पृष्ट
 प्रत्यस्तमितमदधित्सदानन्दब्रह्मा-
 स्मत्वं प्रदर्शयितुमना प्रकृत्यैव
 प्रपञ्चान्ताम्वस्वां प्रासस्य पर
 ब्रह्मण ईश्वरात्मना सर्वज्ञत्वाप
 इतपाप्मादिरूपञ्च देवतात्मना

अकले ही काल और अशक्तके सहित
 सत्त्व अविद्यन है। इन दो धुनिके
 अर्थसे एक ही परमात्मके स्वरूप
 और शक्तिरूपसे निमित्त और
 उपादान कारण होनेका, प्रपञ्च-
 रूपसे ईश्वर, देवता और सबकादि
 होनेका और अमायिकरूप-
 से सत्यज्ञानानन्दस्वरूप एवं
 अद्वितीय होनेका संश्लेषमें बर्णन
 किया गया । अब कार्य
 और कारणकी अकिन्ताका
 प्रतिपादन करती हुई धृति उसीका
 सर्वरूप दिखलाती है । तथा “विकार
 वाणीसे अरम्भ होनेवाला नाममात्र
 है, केवल मृत्तिका ही सत्य है”
 इस उद्यान्तके द्वारा समर्पित जो
 अद्वितीय, कार्यकारणमाकृत्य,
 नेति-नेतिकारूप, वाणिक अविषय,
 शुभादि विकारोंसे अतस्तृप्त, सर्वभेद
 रहित, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मतत्त्व
 है उसे प्रदर्शित करनेकी इच्छासे
 स्वभावसे ही प्रपञ्चरूप भान्ति-
 मयी अवस्थाको प्राप्त हुए परब्रह्म-
 की जो सर्वज्ञत्व और पापशून्यत्वादि
 रूप ईश्वरभावसे, ब्रह्मादिरूप

ब्रह्मादिरूपेण कार्यादिरूपेण
 वैश्वानरादिरूपेण च मोक्षोपे
 क्षितशुद्धयर्थाम् "स यदि पितृ
 लोककाम" (छा० उ० ८ ।
 २ । १) इति विश्वेश्वर्याथाम् "मां
 वा निस्य शङ्कर वा प्रयाति"
 इत्यादिदेवतामायुज्यप्राप्त्यर्था
 वैश्वानरादिप्राप्त्यर्था शोपासना
 मन्त्रेपर्वाङ्किर्वादिऋक्कर्मप्रसिद्धि
 च दद्युपति । यदि कार्यकारण
 रूपेण स्वरूपेण चित्तदानन्दा-
 द्वितीयब्रह्मान्मना च व्यवस्थितं
 न स्यात्तदा भोग्यमाकृष्टनिबन्ध
 भाव ससारमोक्षयारभाव एव
 स्यात् । अधिकारिणाऽभाषन
 साधनमृतस्य प्रपञ्चस्याभावात् ।
 तत्कन्ददातुश्चरस्याभावात् ।
 तथा संसारादिहेतुमृतमीश्वरं
 दर्शयति— "समागमाद्यस्थितिश्च
 हेतु" इति । तथा च ससारमाद्य

देवमात्रसे, [आकाशशक्तिरूप] कार्य-
 मात्रसे और वैश्वानरादिरूपसे
 मोक्षापेक्षित चित्तशुद्धि तथा
 "यदि ब्रह्म पितृलोककी कामनावाला
 होता है" इत्यादि श्रुतिके अनुसार
 सम्पूर्ण ऐश्वर्यप्राप्ति, "यह सब
 मुझ या शङ्करको प्राप्त होता है"
 इत्यादि प्रमाणके अनुसार इष्टदेवसे
 सायुज्यप्राप्ति एवं वैश्वानरादि भोगोपी
 प्राप्तिके लिये उपासना है उसको
 तथा सम्पूर्ण लीबिन्त-दीप्तिक कर्म
 परम्पराको प्रदर्शित करती है । यदि
 परमात्म कार्य-कारणरूपसे और
 स्वरूपतः चित्तदानन्दाद्वितीयब्रह्मरूप-
 से स्थित न होता तो मोक्षा, भाग्य और
 निपन्त्रकर्म जमात्र हो जानेसे संसार
 और मोक्षकर्म भी जमात्र ही जाया
 क्योंकि अविपर्ययक न रहनेसे न तो
 उभयत्र साधनमूल प्रपञ्च रहता है और
 न उसे साधनकर्म फल दानकाय ईश्वर
 ही । तथा "[ईश्वर ही] मन्त्र,
 मन्त्र स्थिति और कर्मकर्म हेतु है"
 यह शाङ्खायन्य संस्कारिके हेतुमूल
 ईश्वरकी सिद्ध करती है । और

योरभाव एव स्यात् । तत्सिद्धयर्थं

प्रपञ्चापवस्थानं दर्शयति—

“एकं पादं नोत्क्षिपति

सलिलाद्भ्रंस उच्यते ।

स चेटाभिन्ददानन्दं

न सस्य नानृत भवेत् ॥”

इति सनत्सुखातोऽप्येकं पादं

नोत्क्षिपतीत्यादि । तथा च

श्रुतिः—“पादोऽस्य विश्वा मृ

तानि त्रिपादस्वामृत दिवि”(छा०

उ० ३।१२।६) इति । तत्र प्रथमेन

मन्त्रेण सर्वात्मानं ब्रह्म चक्रं

दर्शयति द्वितीयेन नदीरूपेण—

ईश्वरके न रहनेपर तो संसार और

मोक्षका अभ्यास ही हो जाना चाहिये

या । अतः उसकी सिद्धिके लिये

सनत्सुखातमी भी “एकं पादं

नोत्क्षिपति” इत्यादि वाक्यसे यह

बतलाते हुए कि “हस (परमात्मा)

जल (संसार) से ऊपर रहते हुए

भी अपना एक पाद नहीं निकालता ।

यदि वह [स्वरूपभूत] आनन्दका

अनुभव करने लगे तो म सस्य

(मोक्ष) ही रहे और न मिय्या

(संसार) ही” ईश्वरकी सिद्धिके

लिये प्रपञ्चादिवी स्थिति दिखलते

हैं । ऐसा ही “सम्पूर्ण भूत परमात्मा

के एक पाद हैं और उसके अप्रत-

म्य तीन पाद पुत्रोक्तमें हैं”

यह श्रुति भी बतलाती है । यहाँ

श्रुति पहले मन्त्रसे सर्वात्मा ब्रह्मके

चक्ररूपसे और दूसरे मन्त्रसे नदी-

रूपसे प्रदर्शित करती है—

परम-ब्रह्म चक्ररूपसे वर्णन

तमेकनेमि त्रिवृतं षोडशान्त

शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।

अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाश

त्रिमासभिर्द्वं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥

उस एक नेमि, तीन वृत्, सोलह अन्त, पचास अरों, बीस प्रत्ययों,
७ अक्षरों, त्रिकल्प एकदाश, तीन मार्गों तथा [पाप-गुण्य] दोनोंके
निमित्तमूल एक मोहवाले कारणको [उन्होंने देखा*] ॥ ४ ॥

तमेकति । य एक कारणानि
निखिलान्मभित्तिष्ठति तमेकनेमि
यानि कारणमभ्याकृतमाकाशं
परमव्योम माया प्रकृति शक्ति
स्तमोऽविद्या छायाज्ञानमनृतम
व्यक्तमित्येषमादिशब्दैरभिलप्य
मानैश्च कारणत्वस्या नेमिरिव
नेमि सर्वाधारो यस्याधिष्ठातुरद्वि
तीयस्य परमात्मनस्तमेकनेमिम् ।
त्रिवृतं त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोभिः
प्रकृतिगुणैर्बृतम् ।

शोढशक्ते विकारः पञ्च मूला-
न्येकदशेन्द्रियाप्यन्तोऽवसानं
विस्तारसमाप्तिर्यस्यात्मनस्तं पोह

स्तमेकनेमिम् इत्यादि । जो
अक्षरम ही सन्तत कारणोंमें अविद्यित
है, उस एक निमित्तलेको [उन्होंने
देखा ।] जो योनि कारण, अन्याइत,
आकाश, परम्योम, माया, प्रकृति,
शक्ति, तम, अविद्या, छाया, अज्ञान,
अनृत और अस्पृक्त इत्यादि शब्दोंसे
बड़ी जाती है वह एक कारणत्वसा
ही जिस अविद्यान्त्र अद्वितीय पर
मात्मायै नेमिके सम्यन नमि अर्थात्
सम्पूर्ण कारणमत्का आकार है
ऐसे उस एक नेमिवाले और
त्रिवृतम्—सत्त्व रज तमरूप
प्रकृतिके तीन गुणोंसे बृत (घिरे
हुए) परमात्माको [कारणरूपसे
देखा] ।

तथा सोलह त्रिकल्प अर्थात् पौंच
मूल और ग्यारह इन्द्रियों—ये त्रिस
अरनाके अन्त-अवसान यानी
विस्तारकी समाप्ति हैं उस सोलह

● अथवा अगले मन्त्रके अन्तर्गत 'अधीम' का अन्वयान्तर करके 'म' बन्तो
है' ऐसा अर्थ कल्प्य जायिये ।

शान्तम् । अथवा प्रज्ञोपनिषदि
 “यस्मिन्नेता षोडशकला प्रम
 वन्ति” (६ । २) इत्यारभ्य
 “स प्राणमसृजत प्राणान्छ्रद्धाम्”
 (६ । ४) इत्यादिना प्रोक्ता
 नामान्ताः षोडशकला भवसानं
 यस्येति । अथवैकनेमिमिति का-
 रणभूताभ्याकृतावभ्याभिहिता ।
 तत्कार्यसमष्टिभूतविराट्प्रद्युम्न
 तदुच्यतेभूतमूरारिषत्तुदश भुव
 नायन्ताऽवसानं यस्य प्रपञ्चात्म
 नावस्थितस्य तं षोडशान्तम् ।

षुतार्धारम् । पञ्चासप्रत्यय
 मेदा विपर्ययाशक्तिरुष्टिसिद्ध्या
 स्या अरा इव यस्य तं षुता
 र्धारम् । पञ्च विपर्ययमेदा —
 तमो मोहा महाभोऽस्तामिस्रा
 क्षधतामिस्र इति । अशक्तिरुष्टा

अन्तर्नाले अपना प्रज्ञोपनिषद्में
 “यस्मिन्नेता षोडशकला प्रमवन्ति”
 यहाँसे लेकर “स प्राणमसृजत
 प्राणान्छ्रद्धाम्” इत्यादि मन्त्रसे कही
 हुई जा [प्राणसे लेकर] नामपर्यन्त
 सोलह कलाएँ हैं वे ही जिसका
 अस्तान हैं, [उस आत्माको कारण-
 रूपसे देखा] । अथवा ‘एकनेमिम्’ इस
 पदसे कारणमूला अम्पाकृतावस्थाका
 वर्णन किया गया है, उसके समष्टि
 कार्यभूत विराट् और सूत्रात्मा ये दो
 और व्यधिकार्यभूत भू अष्टि
 चौदह मुक्कन-ये सोलह जिस प्रपञ्च
 रूपसे स्थित परमाण्वके अन्त हैं उस
 षोडशान्तको [कारणरूपसे देखा] ।

पञ्चास अर्शोनाले—विपर्यय,
 अशक्ति, रुष्टि और सिद्धि नामक
 पञ्चास प्रत्ययमेद जिसके अर्शोके
 सनात हैं उस पञ्चास अर्शोनालेके
 [देखा] । तम, मोह, महाभोऽ,
 तामिस्र और अश्वतामिस्र—ये पौंच
 विपर्ययके भू हैं । अशक्ति अर्शोस

१ प्रज्ञोपनिषद्के पञ्च प्रपञ्चे निम्नलिखित सोलह कलाएँ कही हैं—
 प्राण महा आकाश वसु तेज अथ पृथिवी इन्द्रिय मन अन्न बीजं तप
 मन्त्र कर्म लोक भीर नाम । यहाँ अन्ना अन्नका अर्थ इत प्रफार दे—क अन्न
 क्षीयते आच्छादते वद्य तव कस्य । अथान् किलके हात क (अन्न) क्षीय
 (उका दुग्ध) दे उते कस्य करते हैं । इन्होंने अन्नके पञ्चव्यधिक स्वरूपको उक्त
 रत्ता दे इति अर्थे व कस्य हैं ।

विश्रुतिधा । तुष्टिनवधा । अष्टधा ।
 सिद्धि । एते पञ्चाश प्रत्यय-
 मेधा । तत्र तमसो मेदोऽष्ट
 विध । अष्टसु प्रकृतिष्वनात्म
 स्वात्मप्रतिपत्तिविषयमेदेनाष्टविध-
 त्वप्रतिपत्तः । मोहस्य चाष्ट
 विधा मेदः । अणिमादिशक्ति
 मोहः । दम्भविधा महामाहः ।
 दृष्टानुभविकसत्त्वादिविषयपु प
 अस्तु पञ्चम्वभिनिदर्शो महामोहः ।
 दृष्टानुभविकमेदन तर्पा दम्भवि
 धस्यम् । तामिस्राऽष्टादशविध ।
 दृष्टानुभविकेषु दग्गसु विषयष्वष्ट-
 विधरैः धर्मैः प्रयत्नमानस्य उदसिर्दा
 य क्रोध स तामिस्राऽभिधीयते ।
 अथतामिस्राऽप्यष्टादशविध ।
 अष्टविधधर्मो दग्गसु विषयपु
 भाग्यस्वनोपप्लित्त्वर्धमुक्तपु मु
 स्तुना द्वियमाणस्य यः ग्राहो

प्रकारकी है, तृप्ति नौ प्रकारकी
 और सिद्धि आठ प्रकारकी । ये ही
 पचास प्रत्ययमें हैं । इनमें तमके
 आठ में हैं—आत्ममृत आठ
 प्रकृतियोंमें आत्ममात्र होना यही
 भावोंके विषयभक्त अनुसार आठ
 प्रकारका तम है । मोहका आठ
 प्रकारका भेद है अणिमत्ति आठ
 शक्तियों ही मोह हैं । महामोह दस
 प्रकारका है दृष्ट (कीमिक) और
 धृत (पारलौकिक) दृष्टान्ति पाँच
 पाँच विषयोंमें जो सफलमुखि है
 वही महामोह है, दृष्ट और आनु
 शक्तिय भन्से ब दस प्रकारके हैं ।
 तामिस्र अ राह प्रकारका है । आठ
 प्रकारके पञ्चोदश दश प्रकारके
 दृष्ट और आनुभविक विषयोंके विषये
 प्रयत्न करत हुए उनही प्राप्ति न
 होनपर जो क्रोध होता है वह तामिस्र
 कहलाता है । अथतामिस्र भी
 अठारह प्रकारका है । आठ प्रकारके
 ऐश्वर्य और दशों प्रकारके विषय
 मोह्यस्वपरो उपस्थित रहनपर उहें
 भाग्य भागनेर ही सृष्टिक द्वारा
 जन्मे हुए । विषये जानपर जो ऐसा

१ सांख्यशास्त्रानुसार प्रधान महत्तम अकार और पञ्चतन्मात्रा—ज भांड
 प्रकृतियों हैं—इनमें भा प्रधान कवन प्राप्ति है और महत्तम अकार प्राप्ति रिशक्ति
 है । तथा अकाराग्रीको पूर्ण रूप भवित्ति वातु मायात मन बुद्धि और
 अकारको महत्तमी भवता प्राप्ति कहा है । किन्तु भागे ये प्रकृतियों प्रत्यक्षमें
 भी हैं इतकिये एने पूर्वोक्त सांख्यशास्त्र प्रकृतियों ही समझनी चाहिये ।

आयते महता क्लेशेनैते प्राप्ता न चैते
मयोपमुक्ताः प्रत्यासन्नभार्य मरण
काल इति सोऽन्भवामिस्र इत्युच्यते
विपर्ययमदा व्याख्याताः ।

अशक्तिरथाश्रितिविधोच्यते—एका
दशेन्द्रियाणामशक्तमो मूक
स्वभिरस्वान्धत्वप्रमृतया बाह्या ।
अन्तःकरणस्य पुरुषार्थयोग्यता-
तुष्टीनां विपर्ययेण नवभाशक्तिः ।
सिद्धीनां विपर्ययेणाष्टभाशक्तिः ।

तुष्टिनवधा—प्रकृत्युपादान

कालभाग्याख्यामतसः । विप-
योपरमात्म्यम् । ऋषि-
प्रकृतिपरिज्ञानात्कृतार्थोऽस्मीति
मन्यते । अन्धः पुनः पारि-
ग्रान्यलिङ्गं गृहीत्वा कृता
र्थोऽस्मीति मन्यते । अपरः पुनः
प्रकृतिपरिज्ञानेन किमाभवाद्युपा-
दानेन वा किं बहुना कालेन
अवश्यं मुक्तिर्भवतीति मत्वा परि-
तुष्यति । ऋषिद्युनर्मन्यते विना

शोक होता कि भिन्ने इन्हें बड़ कष्टसे
प्राप्त किया था मैं इन्हें भोग भी नहीं
पाया कि यह मरणकाल उपस्थित हो
गया—इसे अन्धतामिस्र कहते हैं ।

इस प्रकार विषयपके भेदोंकी तो
व्याख्या हो गयी । अशक्ति अर्थात्
प्रकारकी कही जाती है । मूकत्व,
अधिरस्य अन्धत्वानि मरण बाद
अशक्तियों तो इन्द्रियोंकी हैं, पुरुषार्थ-
की योग्यत्वरूप तुष्टियोंसे विपरीत मौ
अशक्तियों अन्तःकरणकी हैं और
बाह्य अशक्तियों तिस्रियोंसे विपरीत हैं ।

तुष्टि मौ प्रकारकी है—अर
तो प्रकृति, उपादान, काल और
भाग्य नामकी तथा पाँच विधियोंसे
उपरति हो जानसे होती हैं । (१)
कोई पुरुष प्रकृतिरहित ज्ञान होनेपर
ही यह मान लेता है कि मैं कृतार्थ हो
गया । (२) कोई संन्यासके विषय
प्रमाण करनेसे ही मैं कृतार्थ हो गया
ऐसा अपनेको मानने लगता है ।
(३) कोई प्रकृतिकर ज्ञान होनेपर
ऐसा मानकर समुत्त हो जाता है कि
अप संन्यासाद्यमात्रि प्रमाण करने-
की क्या आवश्यकता है, बहुत बड़
बीनन्पर अब तो अन्त्य मुक्ति ही
ही जायगी । (४) कोई ऐसा मानने

भाग्येन न किञ्चिदपि प्राप्यते ।
यदि मम भाग्यमस्ति ततो भवत्ये
षाञ्चैव मोक्ष इति परितुष्यति ।
विषयाणामार्जनमक्षयमित्युपरम्य
तुष्यति । शक्यमत द्रष्टुमार्जितु
मार्जितस्य रक्षयमक्षयमित्युपरम्य
परितुष्यति । सातिशयत्वादिदोष
दर्शनेनोपरम्य परस्तुष्यति । वि
षयाः सुतरामेवाभिलाषजनयन्ति
न च तद्भोग्याम्यसे वृत्तिरूप
जायते ।

“न चातु कामः कामाना-

सुपभोगेन धाम्बति ।

हविषा कृष्णवर्त्मैव

भूय एषाभिवर्धते ॥”

(श्रीमद्भा १।११।१४)

इति । तस्मात्प्रसङ्गानेन पुनः पुन
रसन्तोषाधारणोपभोगेनेत्येवसङ्ग-
दोषदर्शनादुपरम्य कश्चित्तुष्यति ।
नानुपहस्य मृतान्युपभोगाः संभ

ख्याता है कि बिना माग्यके कुछ
भी नहीं मिलता, यदि मेरा भाग्य होगा
तो मुझे अवश्य यहाँ मोक्ष प्राप्त हो
जायगा—एसा समझकर वह सन्तोष
हो जाता है । (५) कोई यह मन-
कर कि विषयोंका उपार्जन करना
असम्भव है, उपरत होकर सन्तोष
हो जाता है । (६) कोई यह
सोचकर कि विषयोंका दर्शन और
उपाजन तो सम्भव है, परन्तु उपार्जित
विषयोंकी रक्षा करना सम्भव नहीं है,
उनसे उपरत होकर सन्तोष कर
लेता है । (७) कोई विषयोंमें
न्यूनाधिकतादि दोष देखनेसे उनसे
उपरत होकर सन्तोष हो जाता है ।
(८) विषय तो तत्सम्बन्धी
अभिजायको ही उत्पन्न करते हैं,
उनके पुन-पुन भोगसे कभी तृप्ति
नहीं होती, विषयोंकी इच्छा उनके
भोगसे कभी शान्त नहीं होती, अग्नि
धृतसे अग्निके समान वह और भी बढ़
जाती है । ” वन पुन-पुन
असन्तोषके हेतुमूल इन विषयोंके भोग-
को छोड़ो—इस प्रकार विषयासक्तिमें दोष
देखकर कोई उनसे उपरत होकर
सन्तोष कर लेता है । (९) जीवों-
की जिसा कितने किन्तु भोग मिथ्या

वति । मृतोपधातुभागाच्चाधर्म
अधर्माभरकादिप्राप्तिरिति हिंसा
दोषदर्शनात्कश्चिदुपरम्य तुभ्यति ।
प्रकृत्युपादानकालभात्याधतज्ञः ।
विपयाथामार्जनरक्ष्यविपयदोष
सङ्गहिंसादोपास्यञ्च तुष्टय इति
नव तुष्टयो ऋष्याख्याताः ।

सम्भव नहीं है और जीवहिंसारहित
मोग मोगनेसे अकर्म होय वर
अकर्मसे नरकदिक्षी प्राप्ति होगी ।
इस प्रकार हिंसारूप दोष देखकर
कोई उनसे उपरत होकर सन्तो
कर भेद्य है । इस प्रकार प्राप्ति,
उपादान, काल और मत्कनापक
चार एवं विषयोंके उपार्जन रक्षण,
विस्मयान्तम्यरूप दोष, संग और
हिंसा—इन दोषोंके कारण होनेवाली
पाँच—येसी इन नौ तुष्टियोंकी
ख्यालया कर दी गयी ।

सिद्धयोऽभिधीयन्ते—उद्दः श्र
द्योऽध्ययनमिति विस्रः सिद्धय ।
दुःस्वविषातास्त्रिज्ञः । सुद्वरप्राप्ति
दानमिति मिडि द्वभम् । उद्दस्त
त्वं विद्यासमानस्योपठश्चमन्तरेण
जन्मांतरसंस्कारवशात्प्रकृत्यादि
विषयं ज्ञानमुत्पद्यते सेवमूहो
नाम प्रथमा सिद्धिः । श्रद्धा नामा-
भ्यासमन्तरण भवष्यमात्राद्यन्वा-
नमुत्पद्यते सा द्वितीया सिद्धिः ।
अध्ययनं नाम शास्त्राम्यामाद्य
ज्ञानमुत्पद्यते सा तृतीया सिद्धिः ।

अथ सिद्धियों बतलयी जाती
हैं—तीन सिद्धियों तो उद्दः
शब्द और अध्ययन नामकी हैं
तीन दुःस्वविषात नामकी हैं
और दो सुद्वरप्राप्ति एवं दान हैं ।
उद्दः—सत्त्वविद्यासुको उपदेशके
बिना ही जन्मान्तरके संस्कारसे जो
प्राप्ति आधिके विषयमें ज्ञान उत्पन्न
हो जाता है वह उद्द नामकी प्रथमी
सिद्धि है । बिना अध्यासके केवल
श्रवणमात्रसे ही जो ज्ञान उत्पन्न हो
जाता है वह शब्द नामकी दूसरी
सिद्धि है । शास्त्रके अध्याससे जो ज्ञान
उत्पन्न हो जाता है उसे अध्ययन
कहते हैं, यह तीसरी सिद्धि है ।

आध्यात्मिकस्याधिभौतिकस्याधि-
 दैविकस्य त्रिविधदु स्वस्य व्युदा-
 साच्छीतोष्णादिवन्यदु स्वसहिष्णो-
 स्तितिक्षोपञ्चानमुत्पद्यते तस्य
 आध्यात्मिकादिभेदान्मिदसैवि-
 प्यम् । सुहृदं प्राप्य या सिद्धि-
 र्ज्ञानस्य सा सुहृत्प्राप्तिर्नाम
 सिद्धिः । आचार्यहितवस्तुप्रदानेन
 या सिद्धिर्विद्यायाः सा दान नाम
 सिद्धिः । एवमष्टविधा सिद्धिर्व्या-
 ख्याता ।

एवं विपर्ययाच्छक्तिरुष्टि
 सिद्धपाख्याः पञ्चाशत्प्रत्यय
 भेदा व्याख्याता । एव ब्राह्म
 पुराण कर्त्तव्योपनिषद्भाष्यान्
 प्रदत्ते पण्डितभाष्याये पञ्चाशत्
 प्रत्ययभेदा प्रतिपादिता । अथवा
 "पञ्चाशच्छक्तिरूपिण" इति परस्य
 या "उक्तय" पुराण व्युत्पत्त्यना-
 भिमता पञ्चाशच्छक्तय अग इत्
 यस्य सं शशाधरम् ।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और
 आधिदैविक—इन त्रिविध दु स्वकी
 उपक्षा करनेसे शीतोष्णादिजनित
 दु स्व सहन करनेवाले तिमिन्नु पुरुष-
 को जो ज्ञान उत्पन्न होगा ई वह
 दु स्वविद्या नामकी सिद्धि है
 आध्यात्मिकादि भेदक कारण इस
 सिद्धिके भी तीन प्रकार हैं । किसी
 सुहृदके प्राप्त होनेपर जो ज्ञानकी
 सिद्धि हाती है वह सुहृत्प्राप्ति नामकी
 सिद्धि है । आचार्यक उन्की प्रिय
 वस्तु दान करनेसे जो ज्ञानकी प्राप्ति
 होती है वह दान नामकी सिद्धि है ।
 इन प्रकार आठ प्रकारकी सिद्धियों-
 की भी व्याख्या की गयी ।

इस तरह यह विषय, अशक्ति, तुष्टि
 और सिद्धि नामक पचास प्रत्ययभेदकी
 व्याख्या हुई । ब्राह्मपुराणमें कल्या
 पनिशुकी व्याख्याक प्रसङ्गमें साठवें
 अध्यायमें पचाम प्रत्ययभेदकी इसी
 प्रकृत व्याख्या की गयी है । अथवा
 "पञ्चाशच्छक्तिरूपिण" इस पुराण-
 भाष्यमें परमात्मकी त्रिन शक्तियोंक
 उन्के स्वरूपरूपमें क्या विद्या है
 वे ही त्रिमते अर्थात् मन्त्र हैं तम
 "उक्तय" (पचाम अर्थात्) को
 [ब्रह्मरूपमें देना] ।

विद्यतिप्रत्यराभि । विद्यति
प्रत्यरा दशेन्द्रियाणि तेषां च
विषया सुन्दस्यश्चरूपरसगन्ध
वचनादानबिहरणोत्सगानन्दाः ।
पूर्वोक्तानाम्प्रायां प्रत्यरा ये प्रवि
विधीयन्त कीलका भगणा दा
र्थाय ते प्रत्यरा इत्युच्यन्ते ।
तैः प्रत्यरैर्युक्तम् । अष्टकै पृथुभि
युक्तमिति पोजनीयम् ।

“भूमिरापोऽनला वायु

स्व मनोभृद्विरेव च ।

अहकार इतीव म

मिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥”

(गीता ०।५)

इति प्रकृत्यष्टकम् । स्वप्नधर्म
मांसरुधिरमेढ्रोऽस्त्रिमज्जाशुक्राणि
वात्वष्टकम् । अग्निमाद्यैश्वरा
ष्टकम् । धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्मा-
ज्ञानावैराग्यान्तैश्वर्याश्वर्यामावाह-
कम् । ब्रह्मप्रजापतिदेवगर्ध्वयक्ष
राक्षसपितृपिशाचा देवाष्टकम् ।
अष्टावात्मगुणा श्रियाः, दया
सप्तभूतेषु धान्तिरनस्रया शौच-

वीस प्रत्यरोंसे युक्त । दश इन्द्रियों
और उनके विषय शब्द, स्पर्श,
रूप, रस, गन्ध, वचन, वापन
(प्लवण), गति, त्याग और अन्नद
---ये बीस प्रत्यर हैं । जो पूर्वोक्त
करके प्रति करे—जैसेकी दृष्टिके
स्थिमे जो शब्दकारणें लगयी जाती हैं
वे प्रत्यर कहलाते हैं । उन प्रत्यरोंसे
युक्त तथा छ अष्टकोसे युक्तको
[कारणरूपसु दशा]—ऐसी योजना
करनी चाहिये । “भूमिणी, अह,
अग्नि, वायु, अकिश, मन, बुद्धि
और अहकार—एक मेरी आठ भेदों-
वाली प्रकृति हैं” यह गीतार्थ
प्रकृत्यष्टक है, त्वचा, धर्म, मांस,
रुधिर, मेद, अस्त्रि, मज्जा और शुक्र
यह भास्वष्टक है अग्निमादि ऐश्वर्याष्टक
है; धर्म, ज्ञान वैराग्य, एश्वर्य, अधर्म,
अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—यह
मावाष्टक है ब्रह्मा, प्रजापति, देव,
गर्ध्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और
पिशाच—यह दशाष्टक है, और अष्ट
जिन्हें अहमाके गुण समझना चाहिये,
वे समस्त प्राणियोंके प्रति दया,
अन्य अनासूया (निन्दा न बहना),

१ अग्निमा मद्भिमा गरिमा अपिम्य प्राप्ति शश्वर्य इतिव और
पतित्व—ये आठ वैश्वर्य हैं ।

मनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहति
गुणाष्टकं पष्ठम् । एतै पद्वि-
र्युक्तम् ।

विश्वरूपैकपाशस्वर्गपुत्राभाषा
दिविपयमेवादिश्वरूप विश्वरूपो
नानारूप एक कामारूप पाशो
ऽस्येति विश्वरूपैकपाशम् । धर्मा-
धर्मज्ञानमार्गमदा अस्येति त्रि
मार्गमेदम् । द्वयो पुष्पपापयो
निमित्तैकमाहो देहेन्द्रियमनोबुद्धि
ज्ञात्यादिष्वनात्मस्वात्माभिमाना-
ऽस्येति द्विनिमित्तैकमाहम् । अप
श्यन्निति क्रियापदमनुवर्तत ।
अधीम इत्युत्तरमन्त्रसिद्ध वा
क्रियापदम् ॥ ४ ॥

शीघ्र, अनायास, मङ्गल, अकृपणता
और अस्पृहा—ये छठ गुणाष्टक हैं,
इन छ अष्टकोसे युक्तको [कारण-
रूपसे देखा] ।

विश्वरूप एक पाशवालेको—
स्वर्ग, पुत्र एवं अनाद्य आदि विश्वमेदसे
कामनामक एक ही विश्वरूप—अनक
प्रकारका पाश है तिसका उस
विश्वरूप एक पाशवालेको धम,
अवम और ज्ञानरूप तिसके मगमेद
हैं उस तीन मर्गभेदवालेको, तथा
पाप-पुण्य—इन दोनोंका एक ही
निमित्त मोह यानी गह, इन्द्रिय, मन,
बुद्धि एवं ज्ञानि आदि अनात्मजोर्मि
तिसका जन्माभिमान है ऐसे उस
दोके [मोहरूप] एक ही निमित्त-
वालेको [उन्हेनि कारणरूपसे देखा]
इस प्रकार यहाँ सूचन्यकी
क्रिया 'अधीम' की अनुवृत्ति होती
है, अर्थात् अगठ मन्त्रक क्रियापद
'अधीम' (जानत हैं) का
अध्याहार करना चाहिये ॥ ४ ॥

शायकक मदीरूपसे बयन

पूर्य चक्ररूपेण दर्शितमिदानीं
नदीरूपेण दशयति—

पहले त्रिमे चक्ररूपसे प्रदर्शित
क्रिया है उसीको अब धुनि नदी-
रूपसे प्रिउत्रात्री है—

पञ्चस्रोतोऽम्बु पञ्चयोऽन्युग्रवकां

पञ्चप्राणोर्मि पञ्चबुद्ध्याविमूलाम् ।

पञ्चावतां पञ्चदुःखौघवेगां

पञ्चाशद्भेदां पञ्चपञ्चमधीम ॥ ५ ॥

पाँच स्रोत जिसमें जल्दिये धाराएँ हैं, पाँच उद्गमस्वानोंके कारण जो बड़ी उग्र और कक (टेढ़ी) है, जिसमें पञ्चप्राणरूप तरङ्गें हैं, पाँच प्रकारके ज्ञानोंका मूल जिसका कारण है, जिसमें पाँच भास्वर्ण (भेद) हैं, जो पाँच प्रकारके दुःखरूप ओघबगव्यधी है और जो पाँच पञ्चोवासी है उस पचास भेदोंवाली [मदी] को हम जानते हैं ॥ ५ ॥

पञ्चस्रोतोऽम्बुमिति । पञ्च स्रोतोऽसि चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाण्यम्बुस्वानानि यस्यास्तां नदीं पञ्चस्रोताऽम्बुम् । अधीम इति सर्वत्र सपच्यते । पञ्चयोनिभिः कारणभूतैः पञ्चभूतैरुर्मा वकां च पञ्चयोऽन्युग्रवक्राम् । पञ्च प्राणा कर्मेन्द्रियाणि बाह्याभ्यां दयो बार्मयो यस्यास्तां पञ्चप्राणोर्मिम् । पञ्चबुद्धीनां चक्षुरादि अन्यानां ज्ञानानामादिः कारणं मन । मनाश्चित्तरूपत्वात्सर्वज्ञानानां मनो मूर्त्तं कारणं यस्यां संसारसरित्स्थाम् । तथा च

‘पञ्चस्रोतोऽम्बुम्’ इत्यादि । पाँच स्रोतरूप चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों ही जिसके जलस्वात हैं उस पाँच स्रोतरूप जलवाली नदीको [हम जानते हैं] । यहाँ ‘अधीम (जानते हैं)’ क्रियापदका सबका साथ सम्बन्ध है । पाँच योनियों अर्थात् कारणभूत पाँच भूतोंसे जो उग्र और कक है उस पञ्चयोऽन्युग्रवक्राको, पाँच प्राण अर्थात् बाह्य, पाणि, पत्न्याणि पाँच कर्मेन्द्रियों जिसकी तरङ्गें हैं उस पञ्चप्राणोर्मि-को पाँच बुद्धियों अर्थात् चक्षु आदिसंज्ञितवाले पाँच ज्ञानोंका वाणि यानी कारण मन है, क्योंकि समस्त ज्ञान मनोश्चित्तरूप है वह मन जिस संसाररूप नदीका मूल—कारण है

मनसः सर्वहेतुत्वं दर्शयति—

“मनाविसृम्भित सर्व
 चत्किंचिच्चराचरम् ।

मनसा धमनीमाव
 ईत नैवापलम्पत ॥”

इति । पञ्च धन्दादया विषया
 आश्रयस्थानीयास्तपु विषयेषु प्रा-
 णिना निमज्जन्त्याति यस्यास्तां
 पञ्चावताम् । पञ्च गर्भदु स्वप्न
 दु स्वप्नरादु न्वभ्याधिदुःखमरण
 दु न्वान्येवापचगो यस्यास्तां पञ्च
 दु सौषवगाम् । अविद्यामिथा
 रागद्वेषाभिनिवशा पञ्च कल्प
 मेदा पञ्च पर्वाण्यस्यास्तां पञ्च
 पयामिति ॥ ५ ॥

उच्यते । तथा मन ही सकल हेतु है—
 यह हम वाक्यसे दिखाते हैं—
 “वितना कुछ आधार प्रगम है वह
 सब मनका ही विभक्त है । मनक
 मन्तनशून्य होनेपर ईतकी उपलब्धि
 ही नहीं होती । ‘ शष्पाणि पौष
 विषय आकृत्यप है, उन विषयोंमें
 प्राणों डूब जाते हैं, इसलिये वे
 विसर आकृत हैं उस पौष आश्रय-
 वासीक, गर्भदु उ जानदु उ, मरु
 दु म, व्याधिदु उ और मरणदु स-
 ये पौष विसरक ओषवेग (अध्यायिके
 प्रकृत) हैं उस पौष दु स्वरूप
 आश्रयस्थानीयों तथा अविद्या,
 अस्मिन् राग, द्वेष और अभिनिवश-
 ये पौष कल्प ही विसरे पौष पूर्व
 है उस पौष पर्वाण्य संसारस्थानीयों
 [हम जानते हैं] ॥ ५ ॥

जीवक संसार-रूपन और साङ्ख्य कारणच मिथ्या

एवं तावन्नदीरूपेण ब्रह्म
 चक्ररूपेण च फलयकारणान्मर्क
 प्रसप्त सप्रवक्ष्यमिहाभिहितम् ।
 इदानीमस्मिन्प्रकरणेणान्मर्क-
 प्रसप्तचक्र एव सा सुगति एव

इस प्रकार यहलोक ता मर्क
 रूपे और सप्रवक्ष्यरूपसे ब्रह्म
 गतिन कारणकारणरूप ब्रह्मरूप एव
 विस्त गत । ज इव एव
 कारणरूप ब्रह्मरूपने विस्त एव
 ॥ ५ ॥ संसार प्रवि लार्थ ५ ॥

वा मुष्पत इति संसारमोक्ष-
हेतुप्रदर्शनायाह—

किस साधनसे यह मुक्त होता है इस प्रकार संसार और मोक्षका हेतु दिखानेके लिये श्रुति कहती है—

सर्वाजीवे सर्वसस्थे वृहन्ते

अस्मिन्हसो भ्राम्यते ब्रह्मचके ।

पृथगात्मान प्रेरितार च मत्वा

जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

जीव अपनेको और सर्वनियन्त्र परम्परमाको ब्रह्म-ब्रह्मा मानकर इस समस्त भूतोंके जीवननिर्वाहक (भोगभूमि) और सबके वाद्यभूत (प्रलयस्थान) महान् ब्रह्मचक्रमें भ्रमता रहता है और जब उससे अभिन्नरूपसे सेवित होता है तब अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

सर्वाजीव इति । सर्वेषामाजी-
वनमस्मिन्निति सर्वाजीवे । सर्वेषां
संस्था समाप्तिः प्रलयो यस्मि
न्निति सर्वसंस्थे । वृहन्तेऽस्मि
न्सो जीवः । इन्ति गच्छत्यन्वा-
न्मिति हंसः । भ्राम्यतेऽनात्म-
भूतदहादिमात्मानं मन्यमान
सुनरतिर्यगादिभेदभिन्नानापो-
न्निषु । एवं भ्राम्यमाण परिवर्तत
इत्यर्थः ।

‘सर्वाजीवे’ इत्यादि । जिसमें समस्त भूतोंका जीवन है उस सर्वाजीव तथा जिसमें सबकी संस्था—समाप्ति यानी प्रलय होश्री है उस सर्वसंस्थ वृहन्त (महान्) ब्रह्मचक्रमें हंस-जीव, संसारभागमें हनन—गमन करता है इसलिये जीव हंस कहा जाता है, भ्रमता रहता है अर्थात् अनारमभूत देहादिको आत्मा मानता हुआ देवता, मनुष्य एवं तिर्यगादि भेदोंवाली अनेकों योनियोंमें भ्रमण करता है । इसी प्रकार भ्रमण करता हुआ सब ओर भ्रमणता रहता है— ऐसा इसका तात्पर्य है ।

केन हेतुना नानाभोनिषु
परिवर्तते ? इति तत्राह—पृथगा
त्मानं प्ररितार च मत्वेति । आ
त्मानं जीवान्मानं प्ररितार चेश्वर
पृथग्भेदेन मत्वा ह्यत्वा 'अन्योऽसा-
वन्योऽहमस्मि' इति जीवेश्वरभेद
दर्शनेन संसारं परिवर्तत इत्यर्थः ।

केन मुच्यते ? इत्याह— शुद्ध
सेवितस्तेनेश्वरेण चित्तदानन्दा
द्वितीयब्रह्मात्मनाहं ब्रह्मास्मीति
समाधानं कृत्वेत्यर्थः । तेनेश्वर
सेवनादमृतत्वमेति । यस्तु पूर्णा
नन्दब्रह्मरूपेण्यारमानमवगच्छति स
मुच्यते । यस्तु परमात्मनोऽन्य-
मात्मानं जानाति स बध्यते इति ।
तथा च वृहदारण्यके भेदद्वयन
स्य संसारहेतुस्य प्रदर्शितम्—
“य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स
इदं सर्वं भवतीति तस्य ह न
उवाच नामृत्या इत्यतः । आत्मा

किञ्च कारणसे अनेको योनियोर्मि
धूमता है । इसका उत्तरमें कहते हैं—
‘पृथगात्मानं प्रेरितार च मत्वा’ इति ।
आत्मा अर्थात् जीवात्मा और प्ररक-
ईश्वरको पृथक्—विमिश्रणसे मान-
कर उत्तरपर्यं यह है कि ‘यह अन्य
है और मैं अन्य हूँ’ इस प्रकार जीव
और ईश्वरका भेद देखनेसे यह
संसारमें धूमता है ।

किञ्च उपायसे यह मुक्त होता है,
सो बतलाते हैं—उस ईश्वरसे शुद्ध—
सेवित होनेपर अर्थात् सच्चिदानन्द
मय ब्रह्मसे अभिन्न ब्रह्मस्वरूपसे मैं
ब्रह्म ही हूँ—ऐसा समाधान (समाधि)
करनेपर । इस समाधिप्राप्त ईश्वरका
सेवन करनेसे यह मुक्त हो जाता
है । जो कोई भी अपनेको पूर्णानन्द
ब्रह्मस्वरूपसे अनुभव करता है वही
मुक्त होता है और जो अपनेको
परमात्मासे भिन्न जानता है वह
बध्यता है । इसी प्रकार वृहदारण्यक-
में भी भेदद्वयिको संसारका हेतु
दिखाया है—“जो ऐसा जानता
है कि मैं ब्रह्म हूँ वह सर्वरूप हो
जाता है देवता भी उसके सर्वरूपक
ब्रह्ममयका प्रारम्भमें बाधा पहुँचानेको
समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका

द्वेषां स भवत्यथ योऽन्यां
 वेषतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहम्
 सीति न स वेद यथा पशुरेव
 स देवानाम्" (बृह० उ० १ ।
 ४ । १०) इति ।

तथा च श्रीविष्णुधर्मै—

“पश्यत्यात्मानमन्यं तु
 पाश्र्वै परमात्मनः ।

तान्त्संभ्राम्यत सन्तु
 मोहितो निबकर्मणा ॥

संश्लिष्याश्चपकर्मां तु
 परं मय प्रपश्यति ।

अभेदेनत्मनः शुद्धं
 शुद्धत्वाद्भवो भवेत्” ॥६॥

धरमा ही हो जाता है । किन्तु जो
 किसी अन्य देवताकी पक्ष अन्य है
 और मैं अन्य हूँ ऐसे मन्त्रसे
 उपासना करता है वह नहीं जानता
 [अर्थात् वह कहानी है] वह पशु
 जैसे समान देवताओंका पशु है ।”

ऐसा ही विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें
 भी कहा है—“जीव जन्तक अपने
 को परमात्मासे मिस देखता है
 तन्तक वह अपने कर्मोंद्वारा मोहित
 करके मन्त्रया जाता है । किन्तु
 जब उसके समस्त कर्म क्षीय हो
 जाते हैं तो उसे शुद्ध परब्रह्म
 अपनेसे अभेदरूपसे साक्षात्कर
 होता है और शुद्धस्वरूप हो जानके
 कारण वह अमर ही जाता है” ॥६॥

परब्रह्मकी प्राप्तिसे मुक्तिका कथन

ननु तमेकनेमिमित्वादिना
 सप्रपञ्चं ब्रह्म प्रतिपादितम् । तथा
 च सत्यं ब्रह्मासीति ब्रह्मस्म
 प्रतिपद्यापि सप्रपञ्चसैव ब्रह्मण
 आत्मत्वेनावगमात् “तं यथा
 यथोपासते सदेव भवति” इति
 सप्रपञ्चब्रह्मप्राप्तिरेव स्यात् । तत्र

स्वमेकनमिम् इत्यादि वाक्यसे
 सप्रपञ्चक ब्रह्मका प्रतिपादन किया
 गया है; ऐसी स्थितिमें मैं ब्रह्म हूँ
 इस प्रकार ब्रह्मसत्यकी प्राप्ति
 होनेपर भी सप्रपञ्चक ब्रह्मको ही
 अन्तमस्वरूपसे जाना जायगा,
 इससे “उसकी जो जिस प्रकार
 उपासना करता है विसा ही हो जाता
 है” इस सिद्धांतके अनुसार सप्रपञ्च
 ब्रह्मकी ही प्राप्ति होगी । और तब

प्रपञ्चस्यापरिस्वागात् मोक्षसिद्धिः

तत्र च क्षुष्टस्तवस्तेनामृतत्वमेती-

तिमाद्योपदस्योऽनुपपन्न एषेत्या

शङ्कया—

प्रपञ्चका त्याग न होनेसे मोक्षकी भी प्राप्ति नहीं होगी । इसलिये स्वस्ते अभिन्नरूपसे संकित होनेपर अमरत्व प्राप्त करता है । इस प्रकार जो मोक्षका उपदेश किया है वह अनुपपन्न ही है—ऐसी आशङ्का करके छुट्टि करती है—

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म

तस्मिन्मय सुप्रतिष्ठाक्षर च ।

अत्रान्तर ब्रह्मविदो विदित्वा

लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ता ॥ ७ ॥

प्रपञ्चसे पृष्णरूपसे कर्णन किया गया यह ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट ही है । उसमें [मोक्षा, श्रेय्य और नियन्ता—ये] तीनों स्थित हैं । यह इनकी सुप्रतिष्ठा और अविनाशी है । इसमें प्रवेशाद्वार पाकर ब्रह्मवेत्ताजगत् ब्रह्ममें लीन हो समाधिनिष्ठमें स्थित हुए जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

उद्गीतमिति । सप्रपञ्चं ब्रह्म
यदि स्वात्ततो भवत्येष मोक्षा-
भावः । न त्वेवदस्ति । कस्मात् ?
यस उद्गीतसुवृष्टस्य गीतसुपदिष्टं
कार्यकारणफलज्ञात्प्रपञ्चाद्देदान्तैः ।

“अन्यदव तद्विदितादयो अवि
दितादधि” (के० उ० १ । ३) ।

उद्गीतम् इत्यादि । यदि ब्रह्म
प्रपञ्चयुक्त होता तब तो [उक्तकी
प्राप्तिमें] मोक्षका अभाव हो सकता
था । किन्तु ऐसी बात है नहीं ।
कैसे नहीं है ? क्योंकि वेदान्तोंने
इसका कार्य-कारणत्व प्रपञ्चसे
अलग करके गान पानी उपदेश
किया है । तात्पर्य यह है कि “यह
विदितसे भिन्न है और अविदितसे

“तदेष ब्रह्म त्व विद्धि नेदं यदि
दमुपासते” (के० उ० १।४)।

“अस्पृलम्” (षु० उ० ३।

८।८) “असम्भ्रमस्पर्शम्” (क०

उ० १।३।१५)। “स एव

नेति नेतीति।” “ततो यदुत्तर

तरम्” (श्वेता० उ० ३।१०)।

“अन्यत्र धर्मात्” (क० उ० १।२।

१४)। “न सन्न वासन्धिम एव

केवलः” (श्वेता० उ० ४।१८)।

“तमसः परः।” “यथा वाचो

निर्वर्तते।” (सै० उ० २।४।१)

“यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति

नान्यद्रिजानाति स भूमा” (छा०

उ० ७।२४।१) “योऽस्य

नायापिपासे शोर्क मोहं भयं अरा-

मत्प्रेति” (षु० उ० ३।५।

१)। “अप्राणो धमनाः श्नुओ

धधरात्परतः परः” (सु० उ० २।

१।२)। “एकमवादितीत्यम्।”

(छा० उ० ६।२।१) “वाचा-

रम्भर्ण विक्ररो नामधेयम्” (छा०

उ० ६।१।४) “नेह जानास्ति

किञ्चन” (षु० उ० ४।४।१९)।

“एकवैबानुवृष्टम्” (षु० उ०

४।४।२०)। इत्येषमादिषु प्रपञ्चा

स्पृष्टमेष ब्रह्मात्मगम्यत इत्यर्थः।

भी परे है”, “यु उसीको ब्रह्म जान,

निसक्की सोक इदंमनसे उपासना

करता है वह ब्रह्म नहीं है”, “यह

स्पृल नहीं है”, “शम्ररहित है

और स्पर्शरहित है”, “यह ब्रह्म यह

(कारण) नहीं है, यह (कर्म)

नहीं है”, “जो उससे भी बगो

है”, “यह धर्मसे परे है।” “य

सय है न असय, वह पुत्र

समाप्त एवं अधिष्ठाजनित विक्रमसे

शून्य है”, “यह अज्ञानसे परे है”,

“जहाँस वाणी कौट जाती है”,

“जहाँ न अन्य कुछ देखता है, न

अन्य कुछ जानता है वह भूमा है”,

“जो मूस-प्यास तथा शोक, मोह,

भय और वृद्धापत्वासे परे है”, “जो

प्राण और मनसे रहित, पुत्ररूप

और पर अम्याहृतसे भी परे है”,

“ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय है”

“विक्रम वाणीसे वारम्भ होनिबाल

नाम्मात्र है”, “यहाँ नाना कुछ

नहीं है। तथा “उसे एकत्त्व ही

देखना चाहिये। इत्यादि मन्त्रोंमें

ब्रह्म प्रपञ्चते वस्तु ही जाना

जात्य है—ऐसा इत्यत्र तत्पर्य है।

क्योंकि इन प्रकार ब्रह्म प्रपञ्चके

धर्मोंमें रहित है, इनलिये वह

यत एव प्रपञ्चधर्मरहित

ब्रह्मात् एव परमं तु ब्रह्म।

तुल्यदोषधारणे । परममेवोक्त
 एमेव । संसारधर्मानास्क्रन्दित-
 स्वात् । उद्गीतत्वेन ब्रह्मण
 उक्तत्वात् । “सं यथा यथो
 पासते” इति न्यायेनोक्त ए ब्रह्मो
 पासनादुक्त एमेव फल मोक्षारम्भं
 भवत्येषेत्यभिप्राय ।

न धेव तर्हि ब्रह्मण प्रपञ्चा
 मात्रस्य संसृष्टत्वे प्रपञ्च
 लक्षणस्य सापि ब्रह्माससर्गा-
 न्यस्यत्वात् त्वास्वबाद् इष
 प्रपञ्चस्यापि पृथक्सिद्धत्वेन स्व-
 तन्त्रत्वाद् “वाचारम्भर्षं विकारो
 नामधेयम्” (छा० उ० ६।१।४) इति
 पारतन्त्र्याभ्युपगमेन मिथ्यात्वोप-
 देशपूर्वकमद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनाप
 देशोऽनुपपन्नमेत्याशङ्क्याह—

तस्मिन्स्यमिति । यद्यपि ब्रह्म
 प्रपञ्चार्मसृष्टं स्वतन्त्र च तथापि
 प्रपञ्चो न स्वतन्त्र । अपि तु
 तस्मिन्नेव ब्रह्मणि त्रय प्रतिष्ठितं
 भाक्ता भोग्यं प्रतितारमिति

सर्वोत्पद्य ही है । मूलमें तु शब्द
 निश्चयार्थक है । परममेव अर्थात्
 सर्वोत्पद्य ही है, क्योंकि यह समस्त
 सांसारिक धर्मोंसे अनाक्रान्त है ।
 उद्गीतरूप होनेसे ब्रह्म उक्त है ।
 “उसे जो जिस प्रकार उपासना करता
 है” इस न्यायसे उक्त ब्रह्मकी
 उपासना करनेसे मोक्षरूप उक्त
 फल ही होता है ऐसा अभिप्राय है ।

एसा होनेपर तो यदि मन्त्र
 प्रपञ्चसे उत्पन्न है और ब्रह्मण भी
 प्रपञ्चसे कोई भोग नहीं है तो
 सांख्यशास्त्रके समान प्रपञ्च भी पुरुष
 सिद्ध होनेके कारण स्वतन्त्र होनेसे
 “विचार शक्तिमे कारण होनेपर
 नाममात्र है” इस वाक्यके अनुसार
 प्रपञ्चकी परतन्त्रता स्वीकार कर
 उसका मिथ्यात्व कल्पते हुए
 अद्वितीय ब्रह्मरूपसे उपदेश करने
 अनुचित ही होगा—ऐसी व्याख्या
 करके हृति रहती है—

‘तस्मिन्स्यम’ इत्यादि । यद्यपि ब्रह्म-
 का प्रपञ्चमे भोग नहीं है और वह
 स्वतन्त्र है तथापि प्रपञ्च स्वतन्त्र नहीं
 है; अपि तु मोक्षा, भोग्य और प्रेरित-
 ऐसा ब्रह्मण त्रिनयन आगे पर्यन्त

वक्ष्यमाण भोग्यभोक्तनियन्तु
 लक्षणम् । “अत्रा बोक्ता भोक्त
 भोग्यार्थयुक्ता” इति वक्ष्यमाणं भोक्तृ-
 भोग्यार्थरूपं चायदेदं श्रुतिसिद्धं
 विराट्प्राग्भ्यां कृतं नामरूपकर्म-
 विश्वतैजसप्राज्ञ आप्रत्स्वमसुप्ति
 रूपस्वरूपं प्रतिष्ठितं रज्ज्वाभिव
 सपः । यत एतन्निसर्वं मो-
 क्त्रादिलक्षणं प्रपञ्चरूपं प्रति-
 स्थितम्, अत एवास्य मोक्त्रादि
 त्रयात्मकस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्म सुप्र-
 तिष्ठा शोभनप्रतिष्ठा । ब्रह्मणो
 ऽन्यस्य चलनात्मकत्वाच्चलप्रति-
 ष्ठान्यत्र । ब्रह्मणोऽचलत्वादप्रा-
 चलप्रतिष्ठा ।

किया है वे भोक्ता, भोग्य और नियन्त्र-
 तीनों उस ब्रह्ममें ही स्थित हैं
 अथवा “अत्रा बोक्ता भोक्तृभोग्य-
 युक्ता” इस वाक्यसे यह ज्ञान
 भोक्ता, भोग्य और भोग, नि-
 श्रुति-प्रतिपादित विराट् और तैज-
 सगर्भद्वारा रचे हुए नाम, रूप
 कर्म अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ
 नाप्रत्, सप्त एवं सुप्ति-ये
 उसमें स्वरूपमें सर्कित समस्त प्रति-
 हैं । क्योंकि इसमें भोक्ता
 सत्ता प्रपञ्च प्रतिष्ठित
 इसीसे ब्रह्म इस भोक्तादि प्र-
 पञ्चकी सुप्रतिष्ठा अर्थात्
 आश्रयस्वामि है । ब्रह्मसे भिन्-
 न्त ब्रह्माश्रयमान (अस्यापी
 इसक्रिये अन्य सब चक्षुःप्रति-
 ब्रह्म अवल है, इसक्रिये इसमें
 अवल प्रतिष्ठा है ।

नन्वेवं तद्धि विष्कारमूढ

प्रपञ्चाथपत्वन परि
 नाभिम्बादभ्यादिव
 दनित्य स्यादि
 स्यात्तद्गुणाद्—अधरं चेत्ति ।
 यद्यपि विष्कारः प्रपञ्चाथय
 स्तथाप्यधरं न धरतीत्यधरम् ।

यदि ऐसा है तब तो वि-
 प्रपञ्चकर आश्रय होनेसे
 होनेके धरत दधि आदिके
 ब्रह्म भी अनित्य भिन्न होगा-
 आश्रय धरते धृति ब्रह्म
 'अधरं च ।' पद्यति ।
 आश्रय ऐसा विष्कार है तब
 अधर है या ग्राह्यते
 होता, उसे अधर कहने

अन्वन्दोऽवधारण्य अग्निनाश्वेव
 ब्रह्म, मायात्मकत्वाद्ब्रह्मकारस्य ।
 विकाराभयत्वोऽप्यविनाश्वेव कूट
 स्पर्शं ब्रह्मावतिष्ठत इत्यभिप्राय ।
 मायात्मकत्व च प्रपञ्चस्य पूर्वमेव
 प्रपञ्चितम् । तस्मात्सर्वत्मक-
 त्वेऽपि ब्रह्मण प्रपञ्चस्य मिथ्या
 त्वकत्वन ब्रह्मण्य* प्रपञ्चासंसर्गा-
 त्पूणानन्दब्रह्मात्मान पश्यतो
 मोक्षास्प्यः परमपुरुषार्थो भवती-
 त्स्पर्ध ।

यहाँ 'व' शब्द निश्चयार्थक है अर्थात्
 ब्रह्म अग्निनाशी ही है क्योंकि विक्रम
 मायिक है । अभिप्राय यह है कि
 विकारका आश्रय होनेपर भी कूटस्थ
 ब्रह्म अग्निनाशी ही रहता है ।
 प्रपञ्चकत मय्यात्म्य होना तो पहले
 ही विचारसे कर्तव्य किया गया है ।
 अतः तात्पर्य यह है कि ब्रह्म यद्यपि
 सत्स्वरूप है तथापि प्रपञ्च मिथ्या
 होनेसे ब्रह्मसे प्रपञ्चकत कोई सम्बन्ध
 नहीं है । अतः पूर्णानन्दस्वरूप
 ब्रह्मण्यमप्यकार दर्शन करनेवाले
 पुरुषको मोक्षरूप परम पुरुषार्थकी
 प्राप्ति होती है ।

कथं तस्मात्मान पश्यतो
 मोक्षसिद्धिरित्यत
 पूर्वकम्
 ब्रह्मण्यम्
 पश्यतो मोक्ष-
 सिद्धिरित्यत*
 अत्राशिक्ष-
 नमयाद्यानन्दमया-
 न्ते दहे विराडाद्यन्याकृता ते वा
 प्रपञ्च पूर्वपूर्वोपाधिप्रविलयेनोच-
 रोचरमप्यनानायाद्यसंभ्यूष्ट वाचा-
 मगोचर ब्रह्मविदो विदिस्वा
 लीना ब्रह्मणि विश्वाद्युप
 संहारमुखान त्वयं गता अर्ह
 ब्रह्मास्मीति ब्रह्मरूपेणैव च्युता

अत्र मुनि मह ब्रह्मज्ञाती है कि
 उस आत्मज्ञानको किन्तु प्रकार मोक्ष-
 की प्राप्ति होती है ? यहाँ—अज्ञान
 कोशसे केवल आनन्दमय कोशपयत्त
 इस देहमें अपना विराट्से केवल
 अस्याहृतपर्यन्त प्रपञ्चमें पूर्व-पूर्व
 उपाधिकरूप सत्य करते हुए उत्तरोत्तर
 सुभादिके संसृष्टि शून्य शरी-
 के अनिरपभूत ब्रह्मको जानकर
 ब्रह्मब्रह्मयोग ब्रह्ममें लीन हो—
 विश्वस्विया उपसंहार करते हुए ब्रह्ममें
 ही लयको प्राप्त हो 'मै ब्रह्म हूँ'
 इस प्रकार ब्रह्मण्यसे हा स्थित हो

इत्थर्यः । उत्पराः समाधिपराः किं
 क्वृन्ति योनिमुक्ता भवन्ति गर्भ-
 बन्मन्वराभरणसंसारभयान्मुक्ता
 भवन्तीत्यर्थः ।

तथा च योगियाङ्गवत्कथो
 क्त्वा च लक्ष्मि- प्रज्ञा मनैर्बाधम्यित
 प्रकल्पसंभवा समाधि दर्शयति—

“यदर्थमिदमद्वैतं

मारूपं सर्वकारणम् ।

आनन्दममृतं नित्यं

सर्वभूतप्यभ्यमितम् ॥

उद्देशानन्यधीः प्राप्य

परमात्मानमात्मना ।

तस्मिन्प्रलीयते त्वात्मा

समाधिः स उदाहृत ॥

इन्द्रियाणि षष्ठीकृत्य

यमादिगुणसयुतः ।

आत्ममध्ये मन कुर्या-

दात्मान परमात्मनि ॥

परमात्मा स्वयं भूत्वा

न किञ्चिन्तयेत्ततः ।

तदा तु लीयते त्वात्मा

प्रत्यगात्मन्यस्त्वष्टिते ॥

प्रत्यगात्मा स एव स्या

दित्युक्तं ब्रह्मवादिभिः ॥”

इति ॥७॥

जाते हैं । और तब पर कर्क
 समाधिपरलक्षण होकर क्या बने
 हैं ।—योनिमुक्त हो जाते हैं, कर्क
 गर्भस्त, जन्म, जरा और मरण
 संसारके भयसे मुक्त हो जाते हैं

इसी प्रकार योगी याज्ञिकस्यः
 ब्रह्मात्म्यप्रवसे स्थित होनेको ।
 समाधिप्रवसे प्रविष्ट करते हैं—
 “यह जो सबका कारणरूप जी
 तत्व है प्रकृशस्वरूप, आनन्द
 अमृत, नित्य और समस्त भू
 खोलेप्रोत है । अनन्यविषय पुरुषः
 परमात्माको ही आत्मस्वरूपसे प्र
 वर उसीमें लीन हो जाता है ।
 समाधि कहलक्ष्मी है । इन्द्रिये
 अपने बशमें कर यमादि गु
 सुस्पष्ट हो यन्त्रके अङ्गमें स
 और अस्वप्ने परमात्मामें ।
 स्वयं परमात्मनाप्रवसे स्थित हो
 भी चिन्तन न करे । तब यह
 ब्रह्मण्ड प्रत्यगात्मामें लीन हो
 है । षष्ठी प्राप्तरूपा है—
 ब्रह्मवादिपेनि ब्रह्म है ॥ ७ ॥

व्यावहारिक भेद और ज्ञानद्वारा मोक्षका प्रदर्शन

नन्वद्वितीये परमात्मन्यभ्यु
पगम्यमाने जीवेश्वरयोरपि
विभागामावास्तीना ब्रह्मणीति
जीवानां ब्रह्मैकत्वपरा लयश्रुति
रनुपपन्नैवत्याशङ्क्य व्यवहारा-
वस्यायां जीवेश्वरयोरुपाधितो
विभागं दक्षयित्वा तद्विज्ञानाद्
मृतत्व दर्शयति—

किन्तु परमात्माको अद्वितीय
माननेपर तो जीव और ईश्वरका भी
विभाग न रहनेसे 'छिना ब्रह्मणि
कृपय योनिमुक्ता ' यह जीवोंका ब्रह्ममें
लय वक्तव्यनेवाली श्रुति अस्तंगत ही
होगी—ऐसी आशङ्का करके व्य-
वहारवस्थामें उपाधिकर जीव और
ईश्वरका विभाग दिखडाकर श्रुति
परमात्माके विज्ञानसे अमृतत्वकी
प्राप्ति प्रदर्शित करती है—

सयुक्तमेतत्क्षरमक्षर

च

व्यक्ताव्यक्त भरते विश्वमीश ।

अनीशश्चात्मा चक्षते भोक्तृभावा

ज्ज्ञात्वा वेद्य मुच्यते सर्वपाशै ॥ ८ ॥

परस्पर मिले हुए इस क्षर-अक्षर अथवा व्यक्तान्यक्तरूप विश्वका
परमात्मा पोषण करता है । मयावीन जीव भोक्तृमात्रके कारण उसमें बंधता
है और परमात्मका ज्ञान होनेपर समस्त पाशोंसे मुक्त ही जाता है ॥ ८ ॥

संयुक्तमेतदिति । व्यक्त वि
क्षरमातमव्यक्तं क्षरम् तदुभयं
क्षरमक्षरं च व्यक्तं क्षरं विनाश्व-
व्यक्तमक्षरमविनाश्वि तदुभयं
परस्परसंयुक्तं कार्यक्षरमात्मक
विश्वं भरते विमर्शीश ईश्वरः ।

संयुक्तमेतत् इत्यादि । व्यक्त-
विक्षरसमूह और अव्यक्त कारण
ये ही दोनों क्षर और अक्षर हैं ।
व्यक्त—क्षर यानी विनाशी है और
अव्यक्त—अक्षर यानी अविनाशी
है । परस्पर मिले हुए कार्य-
कारणरूप विश्वरूप इन दोनोंका
परमात्म पोषण करता है ।

तथा चाह भगवान्—

“धरः सर्वाणि भूतानि
कूटस्योऽधर उच्यते ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः
परमात्मस्युदाहृतः ॥

यां लोकत्रयमाविश्य
विमर्त्यभ्यस ईश्वरः ॥”

(गीता १५ । १४ १७)

इति ।

न केवलमीश्वरो व्यक्ताव्यक्तं
भरतेऽनीश्वानीश्वरश्च स आत्मा
विद्यातस्कायंमृतदेहेन्द्रियादिभि
र्ष्यते भोक्तृभावात् । एतदुक्तं
भवति—परस्परसंपुक्तो व्यष्टि
समष्टिरूप ईश्वरः । तद्व्यष्टिमृत-
देहेन्द्रियात्मकोऽनीशो जीवः । एवं
समष्टिव्यष्ट्यत्मकत्वेन जीव
परयोरोपाधिकस्य मेदस्य विद्य-
मानत्वाद्यदुपाधुपासनद्वारम् नि
रुपाधिकमीश्वर इत्याद्या सुख्यत
इति भोक्तृत्वार्थक्यवादे नानुपपन्नं
किञ्चिद्विद्यत इति ।

ऐसा ही भगवान्ने कहा भी
है—“सम्पूर्ण मृत (प्रकृत विकार)
धर हैं और कूटस्य प्रकृति
(भगवान्की मायाशक्ति) धर
कही जाती है । इन दोनोंसे उत्पन्न
वस्तुष्ट पुरुष [अर्थात् पुरुषोत्तम]
तो अस्य ही है, जो परमात्मा कहा गया
है, तथा जो अविनाशी ईश्वर ही
होकर उतको धारण
करता है ॥” इत्यादि ।

परमात्मा केवल व्यक्तव्यक्तरूप
विश्वको भरण ही नहीं करता, अष्टि
जीव अनीश—अस्तत्त्र भी है और
यह भोक्तृत्वे कारण अविद्या और
उत्तम कर्ममृत दह एवं इन्द्रियद्विसे
बँध जाता है । यहाँ कहना यह है
कि ईश्वर परस्पर मिले हुए समष्टि
व्यष्टिरूप है । उनमें व्यष्टि देह एवं
इन्द्रियोपाध्या मयार्थीन जीव है । इस
प्रकार समष्टिव्यष्टिरूपसे जीव और
परमात्माका औपाधिक मे- विद्यमान
रहनेसे उस उपाधिमयित उग्रसनाके
द्वारा निरुपाधिक ईश्वरका ज्ञान होने-
पर जीव मुक्त हो जाता है । अतः
भोक्तृ जीव और परमात्माका एकात्म
माननेवाले सिद्धान्तमें अस्तंगत कुछ
भी नहीं है ।

तथा औपाधिकमेव मेदं
केरको- दर्शयति भगवान्
शनिश्चरन् याज्ञवल्क्य —

“आकाशमेकं हि यथा
घटादिषु पृथग्भवेत् ।
तथात्मैका जनेकश्च
सलाधारष्विवांशुमान् ॥”
(भा. ३।१४५)

तथा च श्रीविष्णुधर्मे—
“परात्मनोर्मनुष्यन्त्र
विभागोऽज्ञानकल्पितः ।

क्षये तस्यात्मपरयो-
विभागाभास एव हि ॥

आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञोऽयं
सयुक्तः प्राकृतेर्गुणैः ।

तैरेव विगतः ह्यदः
परमात्मा निगद्यते ॥

अनादिसर्वध्वत्त्या
क्षेत्रज्ञोऽयमविद्यया ।

युक्तः पश्यति मेदेन
ब्रह्मत्वान्मनि सम्वितम् ॥”

तथा च श्रीविष्णुपुराण—

“विमेदजनकऽज्ञाने
नाशमास्यन्तिकं गत ।

आत्मना ब्रह्मणो मेद
ममन्तं क करिष्यति ॥”

(१।७। १)

इसी प्रकार मतान् याज्ञवल्क्य
भी इनका औपाधिक मेद ही
दिखाते हैं—“त्रिस प्रकार भयति
में एक ही आकाश भिन्न-भिन्न हा
जाता है उसी प्रकार एक ही व्यक्त
अव्यक्तोंमें सूर्यके समान भिन्न-भिन्न
प्रतीत हो रहा है ।”

श्रीविष्णुधर्मोत्तरमें भी ऐसा ही
कहा है—“राजन्, परमात्मा और
जीवात्माका भेद अज्ञानकल्पित है,
अज्ञानका नाश हो जानेपर व्यक्त
और परमात्माके भेदका अभाव ही
सिद्ध होता है । यह क्षेत्रज्ञसंज्ञक
जीवात्मा प्रकृतिके गुणोंसे युक्त है
और उन्हेंसे रहित होनेपर यह शुद्ध-
स्वरूप परमात्मा कहा जाता है ।
यह क्षेत्रज्ञ अपनेसे अनादिकालसे
सम्बन्ध रखनेवाली अविद्यासे युक्त
होनेसे ही अपनेमें स्थित ब्रह्मको
मेदमात्रसे देखता है ।”

तथा श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा
है—“जीव और ब्रह्मका मं उत्पन्न
करनेवाले अज्ञानका आस्यन्तिक माश
हो जानेपर व्यक्त और ब्रह्मका
विषय भेद वंम करण ॥”

तथा साह भगवान्—

“धरः सर्वाणि भूतानि
कूटस्त्रोऽधर उच्यते ।

उच्यतेः पुरुषस्त्वन्यः
परमात्मत्पुदाहृतः ॥

यो लोकायमाविष्ट्य
विभर्त्यभ्यम ईश्वरः ॥”

(गीता १५ । १६ १७)

इति ।

न केवलमीश्वरो व्यक्ताव्यक्तं
भरतेऽनीश्वरानीश्वरश्च स आत्मा-
विद्यावत्कायभूतदेहेन्द्रियादिभि
र्भ्यते भोक्तृभावात् । एतदुक्तं
भवति—परस्परसयुक्तो व्यष्टि-
समष्टिरूप ईश्वर । तद्व्यष्टिभूत-
देहेन्द्रियात्मकोऽनीशो जीवः । एवं
समष्टिव्यष्ट्यात्मकत्वेन जीव
परयोरापाधिकस्य भेदस्य विद्य-
मानत्वात्तदुपाध्युपासनद्वारण नि-
रुपाधिकमीश्वर शात्वा मुख्यत
इति भोक्तृभ्यवाद् नानुपपन्नं
किञ्चिद्विद्यत इति ।

ऐसा ही भगवान्ने कहा है—
“सम्पूर्ण भूत (प्राकृत विकृत)
धर हैं और कूटस्थ प्रभु
(मग्नान्ती मायाशक्ति) वह
कही जाती है । इन दोनोंसे व्यक्त
अकृत पुरुष [वर्षात् पुरुषोत्तम
तो अभ्य ही है, जो परमात्मा कहा ग
है, तथा जो अकिनाशी ईश्वर ही
अभ्योर्मे व्याप्त होकर उनको धर
करता है ।’ इत्यादि ।

परमात्मा केवल व्यक्तव्यक्तरूप
निरुपाय मरण ही नहीं करता, अपि
जीव अनीश—अस्तन्त्र मे है और
वह माकृतक कारण अविद्य और
उसके कर्मभूत देह एवं इन्द्रियविते
में ब्रता है । यहाँ कहना यह है
कि ईश्वर परस्पर मिले हुए समष्टि-
व्यष्टिरूप है । उनमें व्यष्टि देह एवं
इन्द्रियोक्त्या मायाधीन जीव है । इस
प्रकार समष्टिव्यष्टिरूपसे जीव और
परमात्माका औपातिक भेद विद्यमान
रहनेसे उभू उपाधिव्रनित उपासनके
द्वारा निरुपाधिक ईश्वरका ज्ञान होने-
पर जीव मुक्त हो जाता है । ज्ञा
भोक्तृ जीव और परमात्माका एकात्म
मायनवाले सिद्धान्तमें अतन्त्र कुत
भी नहीं है ।

तथा औपाधिकमेव मेद
मेरु- दर्शयति भगवान्
शशिष्ण्वर याज्ञवल्क्य —

“आकाशमेकं हि यथा
पनादिषु पृथग्भवेत् ।
तथात्मका अनेकम्
बलाधारेष्विवांशुमान् ॥”
(वाक ३।१४४)

तथा च श्रीविष्णुधर्म—

“परात्मनोर्मनुष्येन्द्र
विभागोऽज्ञानकल्पितः ।
एवे तस्यात्मपरयो
विभागाभाव एव हि ॥
आत्मा क्षेत्रज्ञसङ्घोऽयं
संपुक्तः प्राकृतैर्गुणै ।
सैरेव विगतः सूक्ष्मः
परमात्मा निगद्यते ॥
अनादिसंबन्धवत्या
क्षेत्रज्ञोऽपमविषया ।
युक्तः पश्यति मेदन
ब्रह्म स्वात्मनि संमितम् ॥”

तथा च श्रीविष्णुपुराणे—

“त्रिमेदजनकऽज्ञाने
नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो मेद
मयन्त कः करिष्यति ॥”

(१।७।६)

इसी प्रकार भगवान् याज्ञवल्क्य
भी इनका औपाधिक मेद ही
दिखाते हैं—“जिस प्रकार बट्टा
में एक ही आकाश भिन्न-भिन्न हो
जाता है उसी प्रकार एक ही आत्मा
जलाशयोंमें सूर्यके समान भिन्न-भिन्न
प्रतीत हो रहा है ।”

श्रीविष्णुधर्मोत्तरमें भी ऐसा ही
कहा है—“राजन्, परमात्मा और
जीवात्माका मेद अज्ञानकल्पित है;
अज्ञानका नाश हो जानेपर आत्मा
और परमात्माके मेदका अभाव ही
सिद्ध होता है । यह क्षेत्रज्ञसंघका
जीवात्मा प्रकृतिमें गुणोंसे युक्त है
और उहाँसे रहित होनेपर यह शुद्ध-
स्वरूप परमात्मा कहा जाता है ।
यह क्षेत्रज्ञ अपनेसे अनादिकालसे
सम्बन्ध रखनेवाली अविषयसे युक्त
होनेसे ही अपनेमें स्थित ब्रह्मको
मेदमात्रसे देखता है ।”

तथा श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा
है—“जीव और ब्रह्मका मेद उत्पन्न
करनेवाले अज्ञानका आत्यन्तिक नाश
हो जानेपर आत्मा और ब्रह्मका
मिथ्या मेद करनेवाला ॥”

तथा च वासिष्ठे योगशास्त्रे
प्रह्लपूर्वकं दक्षितम्—

“यद्यात्मा निर्गुणः शुद्ध
सदानन्दाऽखरोऽमरः ।
ससृति कस्य तावत्सा
मोघो वा विषया विभा ॥

धेशनाश कथं तस्य
श्रायते भगवन्पतः ।

यथावत्सर्वमेतन्ने
यक्तुमर्हसि साम्प्रतम् ॥”

वासिष्ठः—

“तस्यैव नित्यशुद्धस्य
सदानन्दमयारमनः ।

अवच्छिन्नस्य जीवस्य
संसृति कीर्त्यते भुवैः ॥

एक एव हि भूतात्मा
भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव
दृश्यते बलचन्द्रवत् ॥

भ्रान्त्यास्तु स एवात्मा
जीवसंत सदा भवत् ॥

तथा च ब्राह्मणपुराण परस्यै

कारैरीश्वरिणः
शक्तिभ्यां
स्वयंभुवः
तस्यै च
मदन एवमुक्त्यादिव्यवस्था ?

वाँपाधिकं जीवादि
मद दशपति—
कथ तदापाधिक

वासिष्ठ योगशास्त्रमें भी [राम-
चन्द्रजीके] प्रह्लपूर्वक यही बात
दिखायी है। [राम—] “यदि अस्मि
निर्गुण, शुद्ध, नित्यानन्दस्वरूप,
जरारूप्य और अमर हैं तो हे विभो !
यह संसार कित्ने प्राप्त होता है !
अथवा ज्ञानसे किस्कर मोक्ष होगा !
और हे भगवन् ! [ज्ञानीके महा-
प्रयाणके समय] उत्तर सिद्धमह
होता कैसे जाना जाता है ! इस
समय ये सब बातें आप मुझे व्यर्थ
रीतिसे बतल दीजिये ॥”

वासिष्ठ—“मनीरिगण उस नित्य-
शुद्ध, नित्यानन्दमय आत्माके ही
वेदावच्छिन्न जीवभावकी प्राप्ति होनेपर
संसारकी प्राप्ति बतलते हैं। प्रत्येक
जीवमें एक ही भूतात्मा (सत्य
आत्मा—परब्रह्म) स्थित है। यही
जबमें प्रतिविम्बित चन्द्रमाके समान
एक और अनक रूपसे देखा जाता
है। अविषाधीन होनेपर यही
परमात्मा सबदा जीवसंज्ञावाच्य हो
जाता है ॥”

इसी प्रकार ब्रह्मपुराणमें भी
परमात्मा ही औपाधिक जीवति
भेद निरूपित है। यही यह
शब्दा परके हि ऐसी आत्मानमें
औपाधिक भेदसे ही कथ-मोक्षाधिकी
व्यवस्था कने हो सकती है। उनही

इत्याशङ्क्य दृष्टान्तपूर्वकं व्यवस्थां दर्शयति—

दृष्टान्तपूर्वकं व्यवस्थां दिशताते हैं—

“एकस्तु सूर्यो बहुधा
बलाधारेषु दृश्यते ।
आभाति परमात्मा च
सर्वोपाधिषु संमितः ॥
प्रज्ञा सर्वशरीरेषु
बाह्य चाम्यन्तरे स्थिताम् ।
आकाशमिव सूतेषु
बुद्धात्पारमानन्दान्यथा ॥
एष सति यथा बुद्ध्या
दहोऽश्मिति मन्यते ।
अनात्मन्या मताम्रान्त्या
सा स्यात्संसारबन्धिनी ॥
सर्वैर्धिकस्यैहीनस्तु
शुद्धो बुद्धाऽजरोऽमरः ।
प्रशान्तो न्योमवबुध्यापी
चैतन्यात्मा सकृत्प्रम ॥
शृमात्प्रभृतिभिर्मयोम
यथा न मलिनायते ।
प्राकृतैरपरामृष्टो
विकारैः पुरुषस्तथा ॥
यथैकस्मिन्वट्यकाष्ठे
बलैर्धुमादिभिर्बुधे ।
नान्ये मलिनतां यान्ति
द्रव्या कुत्रचित्कचित् ।

“जिस प्रकार एक ही सूर्य विभिन्न बलाधारोंमें अनेकरूप दिखायी देता है उसी प्रकार समस्त उपाधियोंमें स्थित परमात्मा भी अनेकवत् भासता है । वह परमात्मा समस्त शरीरोंके बाहर और भीतर भी स्थित है । जिस प्रकार आकाश पञ्चभूतोंमें ओतप्रोत है उसी प्रकार समस्त बुद्धियोंमें एक ही आत्मा अनुस्यूत है, और किसी प्रकार नहीं । ऐसी स्थितिमें अनात्मामें आत्मत्वकी भांति हो जानेसे वैसी बुद्धिके द्वारा वह जीव जो ऐसा मानने लगता है कि मैं देह हूँ यह मति ही उसे संसारमें बाँधने-वाली है । किन्तु इन समस्त विकल्पोंसे रहित वह शुद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, अप्रकृत शान्त, आकाशके समान व्यापक, चैतन्य-स्वरूप और नित्यज्योति स्वरूप है । जिस प्रकार भूमि, मघ और घृति आदिसे आकाश मज्जिन नहीं होता उसी प्रकार पुरुष प्राकृतिक विकारोंसे अमग है । जिस प्रकार एक घट-कटाव कल या भूमिमें कुछ दानस उतसे दूर रहनेवाला अन्य सब घटकका कभी किसी भी

तथा इ द्वैरनेकैस्तु
 बीषे च मलिनीकृते ।
 एकस्मिन्नापरे बीषा
 मलिनाः सन्ति कश्चित् ॥”

तथा च शुक्रशिष्यो गौड
 पादाचार्य —
 “यथैकस्मिन्पत्राकाशे
 रजोषूमादिभिर्धुते ।
 न सर्वे सप्रयुन्यन्ते
 तद्वस्तीषा सुखादिभि ॥”

(मान्दू का ३।५) इति ।

तस्माद्वितीये परमात्मन्यु
 पाधितो बीषेश्वर
 याद्रीवानां च मेद
 व्यवस्थायाः सिद्ध
 त्वाभिविशुद्धमन्त्रोपाधेरीश्वरस्वा-
 विशुद्धोपाधिबीषगताः सुख-
 दुःखमाहाङ्गानाद्यः । तथा च
 मगवान्पराशरः—

“ज्ञानात्मकस्यामलसर्वराशु-
 रपेतदोपस्य सदा स्फुटस्य ।
 किं वा जगत्पन्थि समस्तपुसा-
 मग्रातमस्यास्ति हृदि मितस्य ॥”
 (विष्णु १।१०।३२) इति ।

नापि जीवान्तरगतमुत्तमदुःख

स्यान्में मन्त्रिन नहीं होते उसी प्रकार
 एक जीवके अनेकों इन्द्रोंसे अभिमृत
 होनेपर भी अन्य जीव कहाँ भी
 मन्त्रिन नहीं हो सकते ।”

इसी तरह शुक्रनेत्रजीके शिष्य
 श्रीगौडपादाचार्य कहते हैं—“जिस
 प्रकार एक घटाकाशके धूम्रि और
 धूम्रिसे युक्त होनेपर अन्य सब
 बटाकाश उनसे युक्त नहीं होते, उसी
 तरह [एक जीवके] सुखदिसे सब
 जीव भी युक्त नहीं होते ।”

अतः अद्वितीय परमात्ममें उपाधि-
 से ही जीव, ईश्वर और जीवोंके
 पारस्परिक भेदकी व्यवस्था सिद्ध
 होनेसे विशुद्ध सत्त्वमयी उपाधिवाले
 ईश्वरको अशुद्ध उपाधिवाले जीवोंके
 सुख, दुःख मोक्ष एवं अज्ञानादि प्राप्त
 नहीं हो सकते । ऐसा ही मगध्व
 पराशरजी कहते हैं—“समस्त
 जीवोंने अन्तःकरणमें स्थित ज्ञान-
 स्वरूप विशुद्ध सत्त्वराशि, सर्वदोष-
 निर्मुक्त और नित्य प्रकाशस्वरूप
 परमान्मको समझमें यौन बन्ध
 अज्ञान है !

इसके सिवा चित्ती बन्ध या मुक्त
 जीवान्तरगत चित्ती अन्य जीवोंके

मोहादिना जीवा

न्तरस्य बद्धस्य

सुक्तस्य चामेव च,

उपाधितो व्यवस्थाया संभवात् ।

अत एव सुक्तौ सर्वसुक्तिरिति

यद्बद्धस्य चोद्यस्मान्न

काश ॥ ८ ॥

सुख, दुःख या मोहादितो मे फर्से सम्भव नहीं है, क्योंकि उपाधि के कारण ऐसी व्यवस्था होनी सम्भव है । अतः कारण इस वाक्य के लिये कि एकही सुक्ति हमेशा सभी जीवोंकी सुक्ति हो जानी चाहिये कोई व्यवस्था नहीं है ॥ ८ ॥

ईश्वर जीव और प्रकृति की विलक्षणता तथा उनके
तत्त्व ज्ञानसे मोक्ष का कथन

किञ्चेद्मपर
त्पाद—

वैतल्यमपि

इसके लिये एक दूसरी विच्छिन्नता
यह भी है—

जाज्ञौ

द्वावजात्रीशनीशा

वजा क्षोका भोक्त्रभोग्यार्थयुक्ता ।

अनन्तमात्मा विभ्ररूपो ह्यकर्ता

अथ यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥

ये [ईश्वर और जीव स्वयम्] सर्वज्ञ और ब्रह्म तथा सबसमर्थ और असमर्थ हैं, वे दोनों ही अत्रन्ता हैं । एकत्रान्त्र अत्रा प्रकृति ही श्रेष्ठा (जीव) के लिये योग्यसम्पान्त्रमे नियुक्त है । निरन्तर्य अत्रा तो अनन्त और अकर्ता ही है । जिस समय इन [ईश्वर, जीव और प्रकृति] तीनोंके सम्पर्क अनुभव करता है [उस समय जीव ब्रह्मरूप हो जाता है] ॥ ९ ॥

शाश्वत् भाषिति । न क्वचिद् । भाषा ही शपाति । ईश्वर व्यक्त
व्यक्ताव्यक्तं भरत इशा नाप्य । और अव्यक्तस्य अन्तर्गत पापण

असर्वात्मा जीवः, विश्वेश्वर्य
 आत्मकमः परमेश्वरः, अत्यै
 श्वयोऽनासकामो जीवः, "सर्वत
 पाणि०" (श्वेता० उ० ३।१६)
 "सहस्रशीर्षा" (श्वेता० उ० ३।
 १४)। "नित्यो निस्थानाम्"
 (श्वेता० उ० ६।१३) इत्या-
 दिना जीवेश्वरयोर्विलक्षणम्यव-
 हारसिद्धिः स्यात्। न तु मोक्षत्रा-
 दिप्रपञ्चसिद्धिरस्ति स्वतःकृतस्या-
 परिणाम्यद्वितीयस्य वस्तुनोऽभे-
 दत्रादिरूपत्वात्। नापि परता
 ब्रह्मप्यतिरिक्तस्य मोक्षत्रादि-
 प्रपञ्चहेतुमूतस्य वस्तुन्तरस्याभा-
 वात्। वस्तुन्तरसद्भावेऽद्वैत-
 हानिरित्याद्युच्यते—अत्राद्येका
 भक्तुभाष्याथंपुक्तति।

भवेदयमीश्वराद्यविभागः यदि

नास्त्य प्रपञ्चासिद्धिरव स्यात्।

द्वितीयस्य

अथवा सिध्यत्यव प्रपञ्च।

द्वि यस्मादर्धे। यस्माद्वा प्रकृतिर्न

आपत इत्यत्रा सिद्धा वस्तु

जीव सबकु आमा नहीं है,
 परमेश्वर सर्वेश्वरसम्पन्न और पूर्ण-
 काम है, जीव अल्पस्वयच्छन् है और
 पूर्णकाम भी नहीं है, तथा "उसके सब
 आर हाथ हैं" "वह सहस्र मस्तक-
 वाला है" "वह नित्योक्त नित्य है"
 इत्यादि वाक्योसे जीव और ईश्वरके
 भेदम्यब्रह्मकी सिद्धि हो सकती है।
 किन्तु मोक्षत्रादि प्रपञ्चकी सिद्धि स्वत-
 थो हो नहीं सकती, क्योंकि कृतस्य,
 अपरिणामी अद्वितीय वस्तु
 अभावादिरूप है तथा परत (किसी
 अन्यसे) भी उसकी सिद्धि नहीं
 हो सकती है, क्योंकि ब्रह्मसे
 अतिरिक्त मोक्षत्रादि प्रपञ्चके हेतुमूत
 किसी अन्य वस्तुकी सत्ता ही नहीं
 है। कारण किसी अन्य वस्तुकी सत्ता
 स्वीकार करनेपर तो अद्वैत ही सिद्ध
 नहीं हो सकता। ऐसी शङ्का होनेपर
 मुनि कहती है—मोक्षत्राके योग्य
 सम्पन्नमें एकनात्र अत्रा (प्रकृति)
 ही नियुक्त है।

यदि प्रपञ्च सिद्ध न होता तो
 यह ईश्वरादिक्र विभाग न होना
 सम्भव था, किन्तु प्रपञ्च तो सिद्ध
 होता है। मूत्रमें 'द्वि' शब्द
 क्योंकि के अर्थमें है। क्योंकि
 अत्रा—प्रकृति, जो उत्पन्न न होनेसे
 कारण अत्रा है. प्रकृतिर्निति किन्तु ३।

धर्मिणी। “अजामेकाम्” (श्वेता० उ० ४।५)। “मायां तु प्रकृतिं विद्यात्” (श्वेता० उ० ४।१०)। “इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते” (पृ० उ० २।५।१९)। “माया परा प्रकृतिः” “संभवाभ्यास्ममायया” (मीमांसा ४।६)। इत्यादि श्रुतिस्मृतिसिद्धा विश्वजननी देवदारमशक्तिरूपैका स्वविकार मृतभोक्तभोगभोम्यार्थप्रयुक्तेष्वर निकटवर्तिनी किंजुर्वाणावशिष्टे। तस्मात्सोऽपि मायी परमेश्वरो मायोपाधिसंनिधेस्तद्दानिष कर्ष्य मूर्तदेहादिभिस्तद्गदेव विभक्तैर्वा विभक्त ईश्वरादिरूपेषावशिष्टे। तस्मात्कस्मिन्नेकरसे परमात्मन्यभ्युपगम्यमानेऽपि जीवेश्वरादि सर्वभौतिकवैदिकसर्वमदव्यवहारसिद्धिः। न च तयोर्वस्त्वन्तरस्य सद्भावाद्द्वैतवादप्रसक्तिः। मायाया अनिर्वाच्यत्वेन वस्तुत्वा योगात्। तथाह—“एषा हि भगवन्माया सदसद्रूपक्तिवर्जिता” इति।

अर्थात् “एक अजाको”, “अप्युक्तो तो प्रकृति जानो”, “इन्द्र मायासे अनेकरूप होकर चेटा कर रहा है”, “माया परा प्रकृति है”, “मैं अपनी मायासे जन्म लेता हूँ” इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंसे सिद्ध होनेवाली भगवान्की आत्मशक्तिरूपा जगज्जननी एक माया अपने विकार मृत भोक्त, भोग और भोग्यके सम्पादनमें निपुण होकर ईश्वरकी निकटवर्तिनी किंजलीरूपसे विद्यमान है। अतः यह मायी परमेश्वर भी मायारूप उपाधिकी सन्निधिसे अणु-अणु-सा हो अपने कर्ष्यमृत देहादि विभक्त फार्पणके कारण उन्हींके समान ईश्वररूपसे विभक्त इच्छा-सा स्थित है। अतः परमेश्वरको एक और एकरस शीकर करनेपर भी जीवेश्वरादि भेदरूप समस्त भौतिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध हो सकना है और उन अन्य वस्तुओंके रहनेसे ईतनादकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनिर्घर्षनीय होनेके कारण माया कोई वस्तु नहीं है। ऐसा ही कहा भी है—“यद् भगवान्की माया सदमज्ञात्से उच्यते” इत्यादि।

यस्मादवैश भोक्त्रादिरूपा
सस्मात्सस्वीकृतस्य मिथ्यासिद्ध
वस्तुत्वसंभवादनन्तमात्मा । च-
शब्दोऽवधारणे । अनन्त एवा-
त्मा । अस्यान्त परिच्छेदो
देशतः कालतो वस्तुतो वा न
विद्यत इति । विश्वरूपो विश्व
मस्यैव रूपमिति परस्वाविश्व
रूपत्वात् । “वाचारम्भणं विकारो
नामधेयम्” इति रूपस्य रूपि-
व्यतिरकेणाभावादिश्वरूपत्वाद-
प्यानन्तर्यसिद्धमित्यर्थः । इति शब्दो
यस्मादर्थे । यस्माद्विश्वरूपवैश्वरूप्य
सञ्चयं परमात्मन इत्येवमादिभि-
रात्मना विश्वरूपत्वमित्यर्थः । यत्

क्योक्तिः अत्र—प्रकृति ही
श्रीकादिरूप है इसलिये उसका
कल्पना किया हुआ प्रपञ्च मिथ्या
और अस्तव्यक्त होनेसे अत्रफ तो
अनन्त ही है । मूलमें 'वा' शब्द
निश्चयार्थक है, अर्थात् आत्मा अनन्त
ही है, देश, काल या वस्तु
किसीसे भी इसका अन्त—परिच्छेद
नहीं है । विश्वरूप अर्थात् विश्व
इसीका रूप है, क्योंकि परमात्मा
सब तो विश्वरूप है नहीं [अर्थात्
विश्वरूपमें उसका परिणाम नहीं
होता] । “विकार वाण्यसे आरम्भ
होनेवासा नाममात्र है” इस श्रुतिके
अनुसार रूप व्यक्तज्ञानसे भिन्न नहीं
होता, इसलिये विश्वरूप होनेसे भी
इसकी अनन्तता ही सिद्ध होता है ।
यहाँ 'इति' शब्द 'क्योक्ति' अर्थमें है ।
क्योक्ति विश्वरूप बहुकल्पना परमात्मा-
पर ही अक्षुण्ण है, इसलिये तापय यह
है कि इन सब बातोंसे भी आत्माका
विश्वरूपत्व सिद्ध होता है । क्योक्ति

• तात्पर्य यह है कि यद्यपि आत्मा अस्मात्कः विश्वरूप नहीं है क्योंकि
एक माननेसे दो वर साक्षर और परिणामी सिद्ध होगा) तद्यपि विश्व अन्तमें भिन्न
भी नहीं है । अपर्यवर्तनपरतपनी मायाही मरिच्योने निगूढ आत्मनामें ही
विश्वरूपधाम्नि होती है । अत्र आत्मने रूपम् विश्वही मत्ता न होनेसे उसकी
अनन्ततामें बर्त अनन्त मरी धात

एवानन्तो विश्वरूप आत्मात् कर्त्ता कर्त्तृत्वादिसंसारधर्मरहित इत्यर्थः ।

अद्वैतमनन्तो विश्वरूपः कर्त्तृत्वादिसकलसंसारधर्मवर्जितो मुक्त पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मरूपेणैवावतिष्ठते । इत्यत्राह—अयं यदा विन्दत ब्रह्ममेतदिति । अयं भोक्तृभोगभोग्यरूपम् । मायारमकत्वादधिष्ठानभूतब्रह्मस्वप्तिरकेण नास्ति किन्तु ब्रह्मैवति यदा विन्दते तदा निवृत्तनिखिलविश्वरूपपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्माकर्त्तृत्वादिसकलसंसारधर्मवर्जितो धीतश्लोकः कृतकृत्याऽवतिष्ठत इत्यर्थः । अथवा क्षमाजात्मकभीवेश्वरमकृतिरूप अयं ब्रह्म यदा विन्दते उमत तदा मुष्यत इति । ब्रह्ममिति मन्वा रात्तं ब्रह्ममेतु मां मधुमेतु माम् इतिप्रच्छान्दसम् ॥ ९ ॥

आत्मा अनन्त और विश्वरूप है इसी-स्थिते यह कर्त्ता अर्थात् कर्त्तृत्वादि संसारके धर्मोत्ति रहित है ।

आत्मा इस प्रकार अनन्त विश्वरूप, कर्त्तृत्वादि सम्पूर्ण सांसारिक धर्मोत्ति रहित, मुक्त और पूर्णानन्द-अद्वितीय ब्रह्मरूपसे ही कब स्थित होता है । ऐसा प्रश्न होनेपर धृति कहती है—अयं यदा विन्दते ब्रह्म-मेतत् अर्थात् भोक्तृ, भोग और भोग्यरूप मय्यामय होनेसे अपने अधिष्ठान ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है—ऐसा जिस समय अनुभव करता है उस समय जीवात्मा सम्पूर्ण विश्वको निवृत्त हो जानेसे पूर्णानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूप होकर कर्त्तृत्वादि सकल संसार-धर्मोत्ति रहित, शोकहीन और क्लेशरूप होकर स्थित होता है—ऐसा इसका तत्पर्य समझना चाहिये । अथवा ऐसा जानो कि कम्पना यह ह, जह और अभास्य ईश्वर, जीव एवं प्रकृति इन तीनोंको यह ब्रह्मरूपसे प्राप्त (अनुभव) कर लेता है । उस समय यह मुक्त हो जाता है । मूत्रमे ब्रह्मम् यह मकररत्न प्रयोगे ब्रह्ममनु म्मम् मधुमनु माप इत्यादिके समान धर्मिक है ॥ • ॥

प्रधान और परमेश्वरकी विसृष्टता तथा उनके
तरङ्गनामसे मोक्षका कथन

सीवेश्वरयोर्विभागं दर्शयित्वा ।
तद्विज्ञानादमृतत्वं दर्शितम् ।
इदानीं प्रधानेश्वरयोर्वैलक्षण्य
दर्शयित्वा तद्विज्ञानादमृतत्व
दर्शयति—

जीव और ईश्वरका मे दिखकर
उनके विज्ञानसे अमृतत्व सिद्ध
दिया । अब श्रुति प्रधान और
ईश्वरके विच्छेदता लिखकर उनके
विज्ञानसे अमृतत्व प्रदर्शित करती है—

क्षर प्रधानममृताक्षर हर

क्षरात्मानावीशते देव एक ।

तस्याभिष्यानाद्योजनास्त्रस्वभावा

द्भ्यस्मान्ते विश्वमायानिमृत्ति ॥ १० ॥

विनाशशील प्रधान और अविनाशी जीवात्माके हरमहक एक देव
नियमित करता है । उसके चिन्तनसे उममें मनोपाग करनेसे और उसके
तत्त्वकी भावना करनेसे प्रारंभकी समाप्ति होनेपर विश्वरूप मायाकी निवृत्ति
हो जाती है ॥ १० ॥

क्षर प्रधानममृताक्षर हर इति ।

अविषादेहरणात्परमेश्वरो हर ।

अमृत च तदक्षरं चामृताक्षरममृतं

ब्रह्मेश्वर इत्यर्थः । स ईश्वर

क्षरात्मानां प्रधानपुरुषावीशत इष्ट

द्वय एकमित्सदानन्दाद्वितीय

परमात्मा । तस्य परमात्मनाऽभि

ष्यानात्, कथम् ? योजनानीकान्तं

‘क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर’
इत्यादि । अविषादिके हरके कथन
परमेश्वर हर हैं । जो अमृत और
अक्षर है उसे अमृताक्षर कहा है,
वह अमृत ब्रह्म ही ईश्वर है । यह
एक रूप ईश्वर अर्थात् सच्चिदानन्द-
द्वितीय परमात्म क्षर और अक्षर—
प्रधान और पुरुषनियमन करता
है । उस परमात्मके अभिष्यानसे,
रित्य प्रकरणके अभिष्यनमे ।—
योजनामे अर्थात् योजनानामे

परमात्मसंयोजनानाम्भवात् 'अहं
ब्रह्मास्मि' इति मूयभासकृद्देते
प्रारम्भकमान्ते यद्वा स्वात्मज्ञाननि-
ष्पत्तिरन्तस्तस्मिन्स्वात्मज्ञानोदय
वेलायां विश्वमायानिबृत्तिः । सुख-
दुःखमोहात्मकप्रपञ्चरूप
मायानिबृत्तिः ॥ १० ॥

जीवका योग करनेसे तथा तत्काल-
से यामी मैं ब्रह्म हूँ ऐसी भावनासे
मूय — पुन-पुन ऐसा होनेपर
अन्तमें अर्थात् प्रारम्भकर्मकी सम्पत्ति
होनेपर अथवा आत्मज्ञानकी प्राप्ति
ही अन्त है उसके होनेपर अर्थात्
आत्मज्ञानके उदयकालमें विश्वमायकी
निबृत्ति होती है । यानी सुख, दुःख
एवं मोहन्य नमपूर्ण प्रपञ्चरूप ममात्मी
निबृत्ति हो जाती है ॥ १० ॥

ब्रह्मके ज्ञान और ध्यान-अवस्था फलोंमें भेद

इदानीं तद्विदस्तद्व्यापिनश्च
सन्धानध्यानकृतं फलभेदं
दर्शयति —

अब धृति ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्म-
ध्यामीके ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मध्यानसे
हीमेंवाले फलोंका भेद दिखवाती है—

ज्ञात्वा देव सर्वपाशापहानि

क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।

तस्माभिध्यानात्तृतीयं ब्रह्मभेदे

विद्वैश्वर्यं क्वचल आप्तकाम ॥ ११ ॥

परब्रह्मज्ञान होनेपर अविद्या संपूर्ण क्लेशोंका नाश हो जाता
है और क्लेशोंका क्षय हो जानेपर जन्म-मृत्युकी निबृत्ति हो जाती है ।
तथा उन्मत्त ध्यान करनेसे शरीरपातके अनन्तर [विद्युत् और विरूपवर्णकी
अपेक्षा करणब्रह्मत्वं सर्वैश्वर्यमपी तृतीयं अपस्याकी प्राप्ति होती है और
द्विज ज्ञानरूप होनेपर वैश्वर्यरूप प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

मात्वति । ज्ञात्वा देवम् 'अय
महमस्मि' इति, सनपाशापहानि
पाशरूपाणां सर्वेषामविद्यादीना
मपहानि । धीर्णरविद्यादिभिः
हृद्यैस्तत्कार्यभूतसंममृत्पुप्रहाणि
र्जननमरणादिदुःखदुःखविनाशः ।
ज्ञानफलप्रदर्शितम् ।

ज्ञात्वा देवम् इत्यादि ।
परमात्मको जानकर अर्थात् 'यह मैं
हूँ' ऐसा अनुभव करके सम्पूर्ण
पाशोक्त नाश यानी पाशरूप सम्पूर्ण
अविद्यादि क्लेशोक्त नाश हो जाता
है । तथा क्षीण हुए अविद्यादि क्लेशो-
क्तों का यही उनके कल्पभूत जन्म-
मृत्यु आदिनाश हो जाता है,
अर्थात् जन्म-मृत्यु आदि दुःखों
हेतुओंका अन्त हो जाता है । यह
ज्ञानकर पद लिखाया गया ।

ध्यान किञ्चित्कममुक्तिरूपं
पिशपमाह—उस परमेश्वरस्या-
भिप्पानादहमद् शरीरपाठापर
कालमचिरादिना दशयानपथा
गन्वा परमेश्वरसायुज्यं गतस्य
तृतीयं विराट्-पापघयाभ्याकृत
परमप्योमकारणपरावर्त्यं निर्व्यं
श्वर्यनघणं फल भवति । म
बदनुभूय तत्रैव निर्विशपमान्मानं
ज्ञाना केवला निगमममम्वंरय
बहुपाभिप्रित्तिरिभ्याहृत्परमप्योम
कारणेश्वरमममृतीपावर्त्यं रि

अब ध्यानमें कममुक्तिरूप कुछ
विलक्षणता बतानी जानी है—
उस परमेश्वरसे ध्यानसे देहभे-
दानी शरीरगत अनन्तर अर्थात्
ध्यान-मार्गसे जाकर परमात्मासे
साथ सायुज्यको प्राप्त हुए पुनरपके
नियन्त्रणकी अपेक्षा अप्याहन परम-
प्योमरूप करणक्रममें स्थित सम्पूर्ण
पदार्थरूप तृतीय पद प्राप्त होता
है । उसका अनुभव कर कर उसी
जगत् जानको निर्दिष्ट जगत्कर,
बलत ही जगत् है जगत् सम्पूर्ण
देहपर और उससे साथ एतद्वदी
सिद्धिः स्वगत्, पनी अन्यगत
पदार्थ-मय पदार्थ इत्येव

श्वैश्वर्यं हित्वात्तकाम आत्मकामः
पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मरूपोऽवति
ष्ठते ।

एतदुक्तं भवति—सम्यग्दृष्ट
नस्य तथाभूतवस्तुविषयत्वेन नि
र्विषयपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मविषय
त्वाद्विज्ञानानन्तरमविद्यातत्कार्य
प्रहाणेन पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मस्वरू
पुपोऽवतिष्ठते । ध्यानस्य पुन
सहसा न निराकार बुद्धिः प्रवर्तते
इति सविशेषब्रह्मविषयत्वात् “तं
यथा यथोपासते ”इति न्यायेन
सविशेषविश्वैश्वर्यलक्षणब्रह्मप्राप्त्या
विश्वैश्वर्यमनुभूय निर्विशेषपूर्णा
नन्दब्रह्मात्मानं ज्ञात्वा केवलारम्भ
रूपोऽवाप्ताशेषपुमर्थो मुक्तो
भवति ।

तथा शिवधर्मोत्तरे ध्यानज्ञान
योर्विश्वैश्वर्यलक्षणं केवलारम्भकामा-
सकाममध्यां च कर्तुं दर्शयति—

तृतीय अवस्थाके सम्पूर्ण ऐश्वर्यको
छोड़कर आत्मपरम और आत्मकाम
हो पूर्णानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूपसे
स्थित हो जाता है ।

यहाँ यह कहा गया है कि
सम्पूर्णज्ञान तो यथार्थ वस्तुको शिथिल
करनेके कारण निर्विशेष पूर्णानन्दा-
द्वितीय ब्रह्मविषयक होना है जल
ब्रह्मज्ञानके अनन्तर जलिया और
उनके कार्यकी निवृत्ति हो जानेमे
विश्वान् पूर्णानन्दाद्वितीय ब्रह्मस्वरूपसे
ही स्थित हो जाता है । किन्तु
ध्यानमग्न बुद्धि सहसा निराकार
ब्रह्ममें प्रवृत्त नहीं होती, अतः यह
सन्निराय ब्रह्मविषयक होनेसे “उसकी
त्रिस-त्रिस प्रकार उपासना करता
है उसी प्रकार कुछ मित्रता है” इस
ग्यायसे सर्वेश्वररूप सन्निवेश ब्रह्मकी
प्राप्तिसे यह सम्पूर्ण ऐश्वर्यका अनुभव
कर फिर निर्विशेष पूर्णानन्दस्वरूप
ब्रह्मको आत्मरूपसे जानकर केवल
आत्मकामी हो सम्पूर्ण पुनर्गर्भको
प्राप्त करके मुक्त हो जाता है ।

इसी प्रकार शिवधर्मोत्तरमें भी
ध्यान और ज्ञानके क्रमसे विश्वैश्वर्य-
रूप और केवल आत्मकाम एवं
आत्मकामरूप पर दिशाये है—

“अनादैश्वर्यमसु-
 मैश्वर्यस्तुल्यमुत्तमम् ।
 ज्ञानेन तत्परित्यज्य
 निवेदो मुक्तिमाप्नुमात् ॥” इति ।
 तथा च ब्रह्मादिसविशेष-
 सगुणोपासकानां “स यदि पितृ
 लोककामो भवति संकल्प्यादेवास्य
 पित्रः सद्बुधिष्ठन्ति” (छा० उ०
 ८।२१) इत्यादिना विश्वैश्वर्य
 लक्षण फल दर्शयति । तथा च
 प्रश्नोपनिषदि “यः पुनरेत विमात्रे
 षोमित्येतेनैवाश्वरेण परं पुरुष-
 मभिध्यायीत स तेजसि स्वर्गे
 सवधा” (प्र० उ० ५।५) इत्यादिना
 परं पुरुषमभिध्यायताऽर्धिरादिमा
 गौपदेशपूर्वकं “स एतस्माज्जीव
 षनात्परान्पर पुरिश्चर्यं पुरुष-
 मीक्षते” (प्र० उ० ५।५) इति ब्रह्म
 उक्तं गतस्य तत्रैव सम्यग्दर्शन-
 समर्पदर्शयित्वा “तमोहारेणैवाय
 तननान्नेति विद्वान्यत्तच्छा तमज्जर-
 म्मृतममय परं चेति” (प्र० उ०
 ५।७) इति सम्यग्दर्शनेन मोक्ष

“अनान्ते अस्तित्वे ऐश्वर्यं मिच्छता है
 और ऐश्वर्यसे उत्कृष्ट सुखकी प्राप्ति होती
 है । ज्ञानसे उनका त्याग करके मोक्ष-
 भिमानसे रहित हो मोक्ष प्राप्त करे ॥”
 इसी प्रकार ब्रह्मदि सविशेष
 और सगुण ब्रह्मकी उपासना करने
 वालेको मुनि “यह यदि पितृलोक-
 की कामना करता है तो उसके
 संकल्पसे ही पितृगण उपस्थित हो
 जाते हैं” इत्यादि वाक्यसे विश्वैश्वर्य-
 रूप फल ही दिखाती है । तथा
 प्रश्नोपनिषद्में “जो तीन मात्रावाले
 उ० इस अक्षरसे परम पुरुषका ध्यान
 करता है वह तेजोमय सूर्यमण्डलको
 प्राप्त होकर” इत्यादि वाक्यसे परम
 पुरुषका ध्यान करनेवाले पुरुषको
 अर्धिरादिमार्गका उपदेश करके
 “यह इस जीवन (शिष्यवर्ग)
 से उत्कृष्टतर सम्पूर्ण गरिमें स्थित
 परम पुरुषको देखता है” इस प्रकार
 ब्रह्मलोकमें गये हुए पुरुषको उसी
 ब्रह्म सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति सिद्ध
 कर “विद्वान् उस ब्रह्मरूप
 अक्षरध्वनके द्वारा ही उस शान्त,
 अजर, अनृत और अमररूप
 परमब्रह्मको प्राप्त हो जाता है” इस
 वाक्यसे सम्यग्दर्शनक द्वारा मोक्षका

उपदिष्टः । “तमर्षं विद्वानमृत
इह भवति” (नृ० पू० ता० १ ।
६) इति विदुषोऽर्षिरादिगमनं
विनेहैवामृतत्वप्राप्तिं दर्शयति
“अथाकामयमानः” इत्यारभ्य “न
तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति प्रह्वैव
सन्प्रक्ष्माप्येति” (षृ० उ० ४।४।६)
इत्यादिना विनैवोत्क्रान्तिं विदुषो
माद्य उपदिष्टः । “उदक्ष्मात्प्राणा
क्रामन्त्यहो नेति नेति होवाच
याध्वपुरुषः” (षृ० उ० ३ । २ ।
११) इति प्रभपूर्वकमुत्क्रान्त्य
भावा दर्शितः ।

तथा च ब्राह्म पुराणे जीव
मुक्तिं गत्यभावं च दर्शयति—
“यस्मिन्काले स्वमात्मानं
यागी जानाति कथं तम् ।
तस्मात्कालात्प्रमात्मानं
जीवमुक्ता भवद्मौ ॥
मोक्षस्यैव किञ्चिन्मया
दन्यत्र गमनं क्वचित् ।
म्यानं पराप्यमरं
यत्र गच्छन्ति यागिन ॥

उपदेश किया है । तथा “उसे
इस प्रकार जाननेवाला यहाँ अमर हो
जाता है” इस वाक्यसे विद्वान्को
अर्षिरादि मार्गसे विना गये यहाँ
अमृतत्वकी प्राप्ति दिखायी है ।
और “जो कामन्तारहित है” यहाँसे
लेकर “उसके प्राण उत्क्रमण नहीं
करते, वह ब्रह्मस्वरूप हुआ ही
ब्रह्ममें लीन हो जाता है” यहाँसे
उत्क्रमणके बिना ही विद्वान्को मोक्ष
का उपदेश किया है । तथा “इसके
प्राण उत्क्रमण करते हैं या नहीं ?
इसपर यादृक्कल्पने कहा, नहीं” इस
प्रकार बृहदारण्यक मुक्तिप्रसन्नपूर्वक
विद्वान्को उत्क्रमणका अभाव
दिखाया है ।

इसी प्रकार ब्राह्मपुराणमें भी
जीवमुक्ति और उत्क्रान्तिपर अमर
ये दोनों सिद्धाये गये हैं—“त्रिस
समय योगी आत्माको शुद्धस्वरूप
जान लेता है उमी समयसे वह
जीवमुक्त हो जाता है । तिस परार्ध
स्वायी [मन्त्रयोगरूप] का
स्वान्तर ज्ञानयोगी जाते हैं, उनके
मोक्षके लिये ठेके तिसी स्वान्तर
जानकी आत्मापरम मनी होती ।

अज्ञानवधमेदस्तु

मोक्षो ब्रह्मलयस्त्विति ॥”

तथा लैङ्ग विदुषो जीवन्मुक्तिं
दर्शयति—

“इह लोक परे चैव
कर्तव्यं नास्ति तस्य वै ।
जीवन्मुक्तो यतस्तस्माद्
ब्रह्मवित्परमार्थतः ॥”

शिवधर्मोत्तरे—

“वाञ्छात्ययेऽपि कर्तव्यं
किञ्चिदस्य न विद्यते ।
इहैव स विमुक्तः स्यात्
संपूर्णः समदक्षनः ॥”

तस्माद्गुणसक्तो देहादुरक्रम्या
बन्धन- विरादिना दबया
मिदुत्प्रेक्ष- नेन विवैशय्य ब्रह्म
संसारः प्राप्य विवैशय्यमनु
भूय तत्रैव क्वचिदं प्रत्यक्षमित
मदपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्म मान
मान्या क्वचिनात्मस्यमो मुक्ता
भवति । विद्याभिविद्यपपूर्णानन्दा
दितायप्रप्रविद्यानादापगन्धुगन्ध

अज्ञानरूप बन्धनकी निवृत्ति और
ब्रह्ममें लीन हो जाना—यही उसका
मोक्ष है ।’

तथा शिबपुराणमें भी ज्ञानीकी
जीवित रहते हुए ही मुक्ति दिखायी
है—“क्योंकि ब्रह्मवेत्ता परमायत
जीवित रहते हुए ही मुक्त हो जाता
है, इसलिये उसके लिये इस लोक
और परलोकमें कुछ भी कर्तव्य नहीं
रहता ।”

शिवधर्मोत्तरमें कहा है—“ज्ञानीकी
समस्त कामनाएँ निवृत्त हो जाती
हैं, इसलिये उसके कुछ भी कर्तव्य
नहीं रहता । वह पूजाकर्म और सम-
दर्शी होनेसे इसी लोकमें मुक्त हो
जाता है ।”

जब उपासक का देहसे उक्तमग
कर विरहित देहयानमात्मे सरे
स्वपूर्णे कारणब्रह्मका प्राप्त हो सब
प्रकारका एकाय भोगनक अनन्तर
वही समूह भ्रमे रहित पूजानन्द
सम्पन्न अद्वितीय कवच शुद्ध ब्रह्मका
आमकारसे जानकर केवल अन्त-
र्बन्धी हाकर मुक्त हो जाता है ।
ता- गिन्तु निर्दिष्ट दू-निन्त-
ि-तीर कवच-भ्रम-दा-गन्ध-गन्ध-

व्यगमनादिभेदप्रत्यस्तमयादिनैवो-
 स्कान्तिं देवयानं च ब्रह्म
 ज्ञानसमनन्तरं जीवन्मुक्तो ब्रह्म
 ज्ञानसमनन्तरं ब्रह्मानन्दमनुभूय
 आत्मरतिरात्मवृत्त आत्मनैवान्त
 मुक्तोऽन्तरारामोऽन्तर्न्योऽतिरात्म-
 क्रीड आत्मरतिरात्ममिथुन
 आत्मानन्द इहैव स्वारस्ये
 मूर्ध्नि स्वे महिष्यन्मृतोऽजसिष्ठते ।
 तद्वदन्वाह्याहविषयपत्नित्यागेन
 प्रहृष्टाभाय बाधानाकायनिष्पार्थ
 भौतसार्वलक्षण कर्म कृत्वा
 त्रिभुवसन्तो योगारूढा भूत्वा
 समादिसाधनसंपन्न ।

“योगी युञ्जीत सतत
 मात्मान गृह्णति स्थितः ।
 एककीर्णं भवविधात्मा
 निराशीरपरिग्रहः ॥
 एवं युञ्जन्सत्मात्मान
 यागी विगतकल्मषः ।
 मुखेन ब्रह्मसंस्पृष्ट
 मत्पन्त मुम्बमन्नुते ॥

गन्तव्य और गमनादि सम्पूर्ण भद्रकी
 निवृत्ति हो जानेसे उद्वहन्ति और
 देवयानमार्गके विना ही ब्रह्मज्ञानके
 अन्तर जीवन्मुक्त हो जाता है ।
 वह ब्रह्मज्ञानक पश्चात् ब्रह्मानन्दका
 अनुभव कर आत्मरति और आत्मवृत्त
 हो अपने आत्मानमें ही आन्तरिक
 सुख, रमण एवं प्रकाशका अनुभव
 करता हुआ आत्मक्रीड, आत्मरति,
 आत्ममिथुन और आत्मनन्द होकर
 इसी एकमें स्वारस्य बर्षात अपनी
 सात्वभौम महिमामें अप्रसन्नरूपसे स्थित
 हो जाता है । वह वाह्य निर्व्योक्तके
 त्यागकर मन, वाणी और शरीरसे
 होनेवाले सम्पूर्ण श्रेयस-स्मार्तकर्मोंके
 ब्रह्मापण कर्मके अनुष्ठान करता हुआ
 शुद्धचित्त और योगारूढ़ होकर
 गमादि साधनोंसे सम्पन्न हो जाता
 है, क्योंकि ये ही साधन ब्रह्मज्ञानकी
 प्राप्तिक हेतु हैं ।

“य्यनयोगीक एकात्मने जकने
 ही स्थित हो सब प्रकारकी वाच्य और
 परिभ्रुकृत्याग कर शरीर और मनका
 निष्कृत करते हुए निरन्तर योगका
 अभ्यास करना चाहिये । इस प्रकार
 सदा यागसाधनमें लब्ध हुआ वह
 पार्थिव योगी सुगमनासे ही ब्रह्म-
 साक्षात्काररूप अकन्त उत्कृष्ट सुख

सर्वभूतस्यमात्मानं
 सर्वभूतानि चात्मनि ।
 ईक्षत योगयुक्तात्मा
 सर्वत्र समदर्शन ॥”
 (गीता १।१ २८ २९)
 “सर्वं पश्यन्दि सर्वत्र
 समवस्थितमीश्वरम् ।
 न हिनस्त्यात्मनात्मानं
 ततो याति परां गतिम् ॥”
 (गीता ११।१८)
 इति स्मृते ॥ ११ ॥

प्राप्त कर लेता है । जिसकी सर्वत्र
 समदृष्टि है वह योगयुक्त पुरुष
 अपने अत्माके सम्पूर्ण भूतमें और
 सम्पूर्ण भूतोंके अपने आत्मामें स्थित
 देखता है । “भूम प्रकार सर्वत्र समान
 भावसे स्थित ईश्वरको समानरूपसे
 देखना हुआ वह स्वयं अपना घात
 नहीं करता, और फिर परमगतिको
 प्राप्त होता है ।” इत्यादि स्मृतिशक्य
 इसमें प्रमाण हैं ॥ ११ ॥

ब्रह्मकी सातम्बता

यस्मान्ज्ञानानन्तर परमपुरुषा-
 र्थसिद्धिस्तस्मात्—

क्योंकि ज्ञानके पश्चात् परम
 पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, इसलिये—

एतज्ज्ञेय नित्यमेवात्मसरथ

नात पर वेदितव्य हि किञ्चित् ।

भोक्ता भोग्य प्रेरितार च मत्वा

सर्वं प्रोक्त त्रिविध ब्रह्ममेतत् ॥ १२ ॥

अन आत्मामें स्थित इस ब्रह्मको मरदा ही जानना चाहिये । इसमें
 वेदकर और मर दाता व पण्य नहीं है । भोक्ता (जीव) भोग्य
 (जगत्) आर प्रेरक (ईश्वर)—यह तीन ब्रह्ममें मरदा हुआ पूरा ब्रह्म
 है—आत्मा जानना चाहिये ॥ १२ ॥

एतद्व्यक्त सत्तामात्मन
 ब्रह्मरूपं निर्गुणं नियमनं ब्रह्मम् ।

इस व्यक्त सिद्ध अज्ञानरूपब्रह्म
 ब्रह्मको नियम—निश्चल ज्ञान

द्विमवान्यसंस्पर्शं न स्वात्मसंस्पर्शं
 क्षयं नानात्मनि बाधे । धूयते
 च—“तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति
 धीरास्तेषां शान्तिः श्लाघ्यती
 नेतरैषाम्” (क० उ० २ । २ ।
 १२) इति ।

तथा च शिवधर्मोत्तरे योगि
 नामात्मनि स्थितिः—

“शिवमात्मनि पश्यन्ति
 प्रतिमासु न योगिनः ।
 आत्मस्थ यः परित्यज्य
 बहिः स्वं यजते शिवम् ॥
 हस्तस्यं पिच्छमुत्सृज्य
 लिङ्गात्कूर्परमात्मन ।
 सर्वत्रावस्थितं शान्तं
 न पश्यन्तीह शङ्करम् ॥
 ज्ञानचक्षुर्बिहीनत्वा
 दन्धं सूर्यं यथोदितम् ।
 यः पश्यत्सर्वगं शान्तं
 तस्याप्यात्मस्थितं शिवः ॥
 आत्मस्थ यः न पश्यन्ति
 तीर्थे मागन्ति तं शिवम् ।

बाधिये । क्या यह किसी अन्यमें
 स्थित है ? नहीं, इसे अपने आत्ममें
 ही स्थित जानना बाधिये, किसी
 बाध अन्तरमार्गमें नहीं । मुनि भी
 कहती है—“जो बुद्धिमान् आत्ममें
 स्थित उस परब्रह्मको देखते हैं, उन्हें
 ही निष्प शान्ति प्राप्त होती है,
 दूसरोंको नहीं ।”

तथा शिवधर्मोत्तरेमें श्री फोर्निस्को-
 की आत्ममें ही स्थिति दिखायी है—
 ‘ध्यायित्वा शिवक्य आत्ममें ही
 दर्शन करते हैं, प्रतिमासोंमें नहीं ।
 जो पुरुष आत्ममें स्थित शिवक्य
 परित्याग कर बाध शिवक्य पूजन
 करता है वह मानो हाथका प्रस
 निष्ठाकर केवल अपनी हथेली चाटता
 है । जिस प्रकार कन्धा आदमी ऊपर
 हुए सूर्यको नहीं देख सकता उसी
 प्रकार ज्ञाननेत्रोंसे रक्षित होनेके
 कारण भोग सर्वत्र विद्यमान शान्त-
 स्वरूप शिवक्य दर्शन नहीं कर
 पाते । जो पुरुष सर्वगत आत्ममूर्ति
 शिवक्य दर्शन करता है उसके लो
 क्त कारणमें ही शिव विराजमान
 है, किन्तु जो आत्मस्थ शिवक्ये नहीं
 देख सकते वे ही उन्हें लोभपात्रमें

आत्मस्थं तीर्थं ह्यस्तृण्य

बहिस्तीर्थादि यो व्रजेत् ॥

कर्मस्य स महारत्नं

त्यक्त्वा कानं विमार्गति ॥”

अथर्वतद्यदपरोक्ष प्रत्यगात्म-
न्व तमित्यमबिनासि स्वे महिम्नि
स्थित ब्रह्मैव ज्ञयम् । कस्मात् ?
हि क्षरदो यस्मादर्थे । यस्मात्मात
परं वेदितव्यमस्ति किञ्चिदपि ।
श्रूयते च बृहदारण्यक—“तद
तत्पदनीयमस्य सर्वस्य यन्ममा-
त्मा” (६० उ० १।४।७) इति ।

कथमेतन्नीयम् ? इत्याह—भोक्ता

जीवा मत्स्यमितरत्सर्बं प्रेरितात्
र्यामी परमधर । तदेतत्त्रिविध
प्राक्त प्रवैवति । माफत्रायन्नप
भेदप्रपञ्चरिन्नापनर्नव निविन्नप
प्रदारमानं जानीयादिग्यर्थ ।

खोजते हैं । जो पुरुष आत्मस्थ
तीर्थको त्यागकर बाह्य तीर्थदिमें
जाता है वह मनो अपने हाथकर
महारत्न मिराकर कर्षण हूँकण
निरता है ।”

अपना [इसका यह भी तात्पर्य
हो सकता है कि] यह जो अपरोक्ष
प्रत्यगात्मा है उसे अपनी महिम्नमें
स्थित नित्य और अकिनादी ब्रह्म ही
जानना चाहिये । क्यों ?—यहाँ ब्रह्म
शब्द 'यस्मात् (क्योंकि)' अर्थमें
है—क्योंकि इससे बढ़कर और
कुछ भी जाननेपाय्य नहीं है ।
बृहदारण्यकश्रुतिमें भी ऐसा ही है—
“यह जो आत्मा है वही समस्त
जीवोंका गन्तव्य स्थान है ।”

इसे किन्तु प्रकार जानना चाहिये ?
सो श्रुति बतलाती है—जीव भोक्ता
है, भोक्ता और अन्तर्प्राप्तिसे
अतिरिक्त और सब भोग्य है तथा
अन्तर्प्राप्ति परमधर प्रेरिता है—यह तीन
प्रकारसे कहा हुआ अर्थ ही है इस
प्रकार [जानना चाहिये] । तात्पर्य यह
है कि भोक्ता मत्स्य भोग्य परम-
धर ग्य करके ही निर्विशेष मत्स्य
आत्मरूपमें जानना चाहिये ।

तथा चोक्तं काण्डपयगीतायाम्—
“त्वक्त्वा सर्वविक्लवांश्च

स्वात्मस्य निश्चल मनः ।
कृत्वा घान्तो मधयोगी
दग्धे घन इवानल ॥”
तथा च श्रीविष्णुपुराणे—
“सस्यैव कल्पनाहीन
स्वरूपप्रद्वर्ण हि यत् ।
मनसा ध्याननिष्पाद्य
समाधि सोऽभिधीयते ॥”
(६।१।१२)

इति ॥ १२ ॥

ऐसा ही काण्डेय गीत्रमें भी
कहा है—“योगी सम्पूर्ण विक्लवां-
को त्यागकर मनको अपने व्यापारों
निश्चलरूपसे स्थिर कर जिसका ईश्वर
जल धुका है उस अग्निज सयान
शान्त हो जाता है ।”

तथा श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—
“उस ध्येय परमेश्वरका ही जो मन्के
द्वारा ध्यानसे सिद्ध होनेयोग्य
कल्पनाहीन (ध्यान, ध्यान और
ध्येयके मोलसे रहित) अरूप
प्राण किया जाता है उसे ही समाधि
कहते हैं ॥ १२ ॥

प्रणवचिन्तनस्य अक्ष-साक्षात्कारस्य इष्टान्तोद्धारस्य समर्पण

इदानीम् “ओमित्येतेनैवाध-
रणं परं पुरुषमभिध्यायीत” (प्र०
उ० ५।५) । “ओमित्यात्मानं
युञ्जीत” (महानारा० २४।१) ।
“ओमित्यात्मानं ध्यायीत” इति
श्रुतेरात्मानमन्विष्य परामिध्याने
प्रणवस्य नियमादभिध्यानाङ्गत्वेन
प्रवर्धं वर्धयति—

अथ “ॐ” इस अक्षरसे ही परम
पुरुषका ध्यान करना चाहिये” “ॐ”
इस अक्षरके द्वारा ही आत्मचिन्तन
करना चाहिये” “ॐ” इस अक्षरके
द्वारा ही आत्मका ध्यान करना
चाहिये” इत्यादि श्रुतियोंसे आत्म-
न्वेषण करके उसका ध्यान करनेमें
प्रणवचिन्तनका नियम होनेसे श्रुति
प्रणवको आत्मचिन्तनके अङ्गरूपसे
प्रदर्शित करती है—

वक्ष्ये रथया योनिगतस्य मूर्ति

नैव दृश्यते नैव च लिङ्गनाश ।

नीयः प्रणवेनोत्तरारणिस्थानीयेन | उत्तरारणिस्थानीय प्रणवके द्वारा मनन-
मननावृणुषते देहेऽधरारणिस्था- | से अक्षरारणिस्थानीय देहमें प्रणव
नीये ॥ १३ ॥ | किया जा सकता है ॥ १३ ॥

तदेष प्रपञ्चयति—

अब मृत्ति उस (मन्थन) का
ही निष्कारसे वर्णन करती है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणव चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यासादेव पश्येन्निरूढवत् ॥ १४ ॥

अपने देहको अरणि और प्रणवको उत्तरारणि करके ध्यानरूप
मन्थनके अभ्याससे सप्रकाश परमात्माको छिपे हुए [अग्नि] के समान
देखे ॥ १४ ॥

स्वदेहमिति । स्वदेहमरणिं | 'स्वदेहम्' इत्यादि । अपने देहको
कृत्वाधरारणिं ध्यानमेव निर्मथनं | अरणि—नीचेका कण्ठ करके, तथा
तस्य निर्मथनस्याभ्यासादेवं ध्या- | ध्यान ही निर्मथन है, उस निर्मथन-
तीरूपं प्रपश्येन्निरूढवत् ॥ १४ ॥ | के अभ्याससे देह—अप्येतिसरूप
परमात्माको छिपे हुए अग्निके समान
देखे ॥ १४ ॥

उक्तसार्थस्य द्रष्टृभिर्नो दृष्टान्तान् | उपर्युक्त अर्थकी पुष्टिके लिये
बहून्दर्शयति— | दृष्टि बहुत-से दृष्टान्त दिखाती है—

तिलपु तैल दधनीव सर्पि

रापः स्रोत स्वरणीषु चाग्नि ।

एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ

सत्येनैव तपसा याऽनुपश्यति ॥ १५ ॥

बिच प्रकार तिअमें तैउ, दहीमें घी, सोखमें जल और काछमें धुनि देखे जाते हैं उसी प्रकार जो पुरुष सत्य और तपके द्वारा इसे बारम्बार देखनेका प्रयत्न करता है उसे यह अज्ञाना अज्ञानमें हो दिखानी देता है ॥१५॥

तिलेष्विति । यन्त्रपीडनेन
तैल गृह्यते । दधनि मथनेन
सर्पिरिव । आपः स्रावतु नदीषु
मूखननेन । अरणीषु चाग्निर्मथ
नन । एवमात्मात्मनि स्वात्मनि
गृह्यतेऽसौ मननेनात्मभूतदेहादि
ष्वभययाद्यज्ञेषोपाधिप्रविलापनेन
निर्विशेष पूजानन्द स्वात्मन्येवा
वगन्वत् इत्यर्थः ।

कन तर्हि पुरुषपात्मन्येव
गृह्यते ? इत्यत आह—सत्येन
यथाभूतहितार्थवचनेन भूत
हितेन । “सत्यं भूतहितं प्रोक्तम्”
इति स्मरणान् । तपसेन्द्रियमन-
यामकप्रयत्नद्वयान् । “मनसं

‘तिलेषु’ इत्यादि । बिच प्रकार
यन्त्रसे पीरनेपर तिअमें तैउ दिखानी
देता है, मथन करनेपर दहीमें घी
देखा जाता है, पृथिवी खदनेपर
स्रोत—कन्त स्रोता नदियोंमें जल
दिखानी देता है और मथन करनेपर
काछमें धुनिकी उपलब्धि होती है
उसी प्रकार मनसे अज्ञानमें—अपने
अन्तरात्मानमें ही इस अज्ञानकी
उपलब्धि होती है, अर्थात् अज्ञानभूत
देहादिमें जो अज्ञानादि सम्पूर्ण
उपाधियाँ हैं उनका उभ करनेपर
अपने निर्विशेष पूजानन्दस्वरूप
आत्मामें ही इस (परमात्म) का
अनुभव होता है ।

अथ तौ कित्त पुरुषको आत्म-
में ही इस अज्ञानकी उपलब्धि होती
है, सा अत्र यत्प्रकृतेः—सत्यसे
अर्थात् परार्थ और प्रागिमात्रके त्रिषु
हितकर सम्भारगते, क्योंकि “जो
प्रागिर्गोके त्रिषु हितकर हो उसे सत्य
कहते हैं” ऐसी सृष्टि है तथा मन
आर इन्द्रियोंकी एकजगत्प्रकार तपसे
क्योंकि सृष्टि कर्ता है “मन और

न्द्रिबाष्पां च देहप्रार्थं परम तपः”
इति स्मरणात् । एनमात्मानं
योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंकी एकप्रकार ही परम तप है।”
अतः इन सत्य और तपके द्वारा जो
इस आत्मको देखता है [उसे
इसकी उपलब्धि होती है] ॥ १५ ॥

कथमेनमनुपश्यति ? इत्यतः
आह—

इस परममात्रके किस प्रकार
देखता है ? सो बताते हैं—

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवापितम् ।

आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥

तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ १६ ॥

जो आत्मविद्या और तपके मूल है तथा जिसमें परम ज्ञेय आश्रित
है उस सर्वव्यापी आत्मको रूपमें विषमयन घृतके समान देखता है ॥ १६ ॥

सर्वव्यापिनमिति । सर्वं प्रकृत-
स्यादिविश्वपान्तं व्याप्यावम्बित-
न देहेन्द्रियाद्यप्यारममात्रावस्ति-
समात्मानं क्षीरे सर्पिरिष सारत्वेन
निरन्तरतयात्मत्वेन सर्वेष्वपि
मात्मविद्यातपोमूलं कारणम् ।
भूयतं च—“एष एव साधुकर्म-
कारयति।” (श्रीषी उ० ३।८)
“ददामि बुद्धियोगं तं येन
माप्सुषयान्ति ते” (गीता १०।
१०) इति ।

‘सर्वव्यापिनम्’ इत्यादि । जो
केवल देहेन्द्रियादि अप्यात्ममात्रमें
ही स्थित नहीं है—अपि तु प्रकृतिसे
केवल पञ्चमूलपर्यन्त सबको व्याप्त
करके स्थित है, उस आत्मको रूपमें
साररूपसे स्थित होनेके समान सबमें
अखण्ड आत्ममयनसे विषमयन तप
आत्मविद्या और तपके मूल यानी
कारणरूपसे देखते हैं । श्रुति भी
कहती है—“एषीं शुभं कर्म करतव्यं
है”, तथा [श्रुति कहती है—] “मैं
उन्हें वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे
वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं ।”

अथवारमविद्या च तपस्य
 यस्यात्मलाभे मूलं हेतुरिति ।
 तथा च धृति — “विद्ययामृत
 मश्नुते” (ई० उ० ११) । “तपसा
 ब्रह्म विविज्ञासस्व” (तै० उ० ३ ।
 २ । १) इति च । ब्रह्मोपनिषत्प
 रमुपनिषत्प्रामस्मिन्पर श्रेय इति ।
 यः सत्यादिसाधनसमुक्तः स एव
 सर्वभ्यापिनमात्मानं धीरे सर्पि
 रिवापितमात्मविद्यातपोमूलं तद्
 क्षोपनिषत्परमनुपश्यति । सर्वगतं
 ब्रह्मात्मदृष्टिनात्मन्यथ गृह्यते ना
 सत्यादियुक्तन परिच्छिन्नब्रह्मान्न
 मयाधारमना । भूयते च—
 “सत्येन उभ्यस्तपसा ह्यथ आत्मा
 सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
 न येषु विद्यमनृतं न माया च”
 (प्र० उ० १ । १६) इति । द्विर्वचन
 मन्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १६ ॥

अथवा ऐसा भी व्य हो सकता
 है—आत्मविद्या और तप ये जिस
 आत्माकी प्राप्तिके मूल मानी कारण
 हैं, वैसे कि धृति कहती है—
 “अनते अमृतकी प्राप्ति होती है”
 “तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा
 करो” इत्यादि । ब्रह्मोपनिषत्परम्—
 जिसमें परम श्रेय उपनिषत् (आश्रित)
 है । तात्पर्य यह है कि जो सत्यादि
 साधनसम्पन्न है वही जो दूसरे पृथक्
 समान सवगत और आत्मविद्या एव
 तपका मूल है तथा जो ब्रह्मोपनिषत्पर
 है उस सर्वभ्यापी आत्माको देखता
 है । अर्थात् आत्मदर्शी पुरुष इस
 सवगत ब्रह्मका आत्मामें ही देखता
 है, जो असत्यादियुक्त और अन्ध-
 म्यादिरूपसे परिच्छिन्न रहने ही
 आत्मयुक्ति करनवाला है उसे ब्रह्मकी
 उपलब्धि नहीं होती । धृति भी
 कहती है—“यह आत्मा सवगत
 सत्य तप, सम्पन्न और ब्रह्मचर्य-
 के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है
 तथा जिनमें कुटिलता, असत्य और
 कसट नहीं होता वे ही इसे प्राप्त कर
 सकते हैं ।” यहाँ ‘ब्रह्मोपनिषत्परम्’
 इसका दो बार पाठ अप्यपस्ये
 समाप्ति सूचित करने में किये हैं ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्राज्जिन्मग्नसूत्र्यादिशाङ्ख्यपरम्परारिवाचकशंखायधीमन्त्र
 भाष्यप्रणिते इत्याद्यतपनिषत्प्राम्ये प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

ध्यानकी सिद्धिके लिये सवितासे अनुज्ञा-प्रार्थना

ध्यानमुक्तं ध्याननिर्मधनाभ्या-
 साहेबं पश्येन्निगूढ-
 तन्मन्त्रोत्तमं वदिति परमात्म-
 दर्शनोपायत्वेन । इदानीं तदपेक्षि-
 तसाधनविधानार्थं द्वितीयोऽध्याय
 आरम्भ्यते । तत्र प्रथमं तस्मिन्प्रथमं
 सवितारमाशास्ते—

[प्रथम अध्यायमें] ध्यान-
 निर्मधनाभ्यासाहेबं पश्येन्निगूढवत्
 इत्यादि मन्त्रसे परमात्माके साक्षात्कार
 के उपायरूपसे ध्यान यत्नया गया ।
 अब उसके लिये अपेक्षित साधनोंके
 विधान करनेके लिये द्वितीय अध्याय
 आरम्भ किया जाता है । उसमें
 पहले उसकी सिद्धिके लिये सक्ति
 देवतासे प्रार्थना करते हैं—

युञ्जान प्रथम मनस्तास्त्राय सविता धिय ।

अग्नेज्योतिर्निधाव्य पृथिव्या अध्याभरत ॥ १ ॥

सविता देवता हमारे मन और अन्य प्राणोक्तों परमात्मामें उपाते हुए
 अग्नि आदि [इन्द्रियाभिमानि देवताओं] की ज्योति (बाह्यविषयकासन्-
 तान्मय) का अन्वेषण कर सत्त्वधनके लिये उसे पृथिवी (पार्थिव प्राणों)
 से ऊपर [शरीरस्य इन्द्रियोर्मि] स्थापित करे ॥ १ ॥

युञ्जान इति । युञ्जानः प्रथमं
 मन प्रथमं ध्यानारम्भे मन
 परमात्मनि संयाजनीयं धिय
 इतरानपि प्राणान् । “प्राणा वै

‘युञ्जान’ इत्यादि । प्रथम मनको
 नियुक्त करते हुए अर्थात् पहले—
 ध्यानके आरम्भमें परमात्मामें उपाते
 जाने योग्य मन और धियो—अन्य
 प्राणोंका भी [प्रवृत्त करते हुए]

धिय " इति श्रुतेः । अपवाधियो
 बाह्यविषयज्ञानानि । किमर्थम् ?
 तत्त्वाय सत्त्वज्ञानाय सविता
 धियो बाह्यविषयज्ञानाद्गनेज्योति
 प्रकाश निषाय्य ह्युप पृथिव्या
 अन्यस्मिन्धरीर आभरदाहरत् ।

सक्ति दक्ष्य अग्नि आदि इन्द्रिया-
 भिमानी देवताओंके नियमप्रकाशन-
 सामर्थ्यका अवलोकन कर उसे
 पृथिवीसे ऊपर इस शरीर [शरीर
 रूप इन्द्रियों] में स्थापित करे ।
 किस्त लिये ?—तत्त्व अर्थात् तत्त्व-
 ज्ञानके लिये । यहाँ "प्राण ही
 भी है" इस अन्य शक्तिके अनुसार
 'धिय' का अर्थ प्राण किया गया
 है । अर्थात् 'धिय' का अर्थ बाह्य-
 नियमप्रकाशन भी हो सकता है ।

एतदुक्त भवति—ज्ञाने प्र
 हृतस्य मम मनो
 बाह्यविषयः
 बाह्यविषयज्ञानादुप
 सङ्घस्य परमात्मन्येव संपादयितु
 मनुग्राहकदेशतारमनामन्यादीनां
 यत्सर्वं वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यं तत्
 सर्वमज्ञागादिषु संपादयेत्
 सविता यत्प्रसादाद्भाष्यते योग
 इत्यर्थः । अग्निशब्द इतरासामर्थ्य-
 नुग्राहकदेशतानामुपलक्षणार्थः ॥१॥

यहाँ यह कहा गया है कि
 जिसकी हृत्पासे योगकी प्राप्ति होती
 है, वह सक्ति देवता ज्ञानमें प्रहृत
 हुए मेरे मनको बाह्य विषयोंके
 प्रकाशनसे रोककर परमात्ममें ही
 ज्ञानके लिये इन्द्रियानुग्राहक अग्नि
 आदि देवताओंकी जो समस्त वस्तुओं-
 को प्रकाशित करनेकी शक्ति है उस
 सक्ति हमारी बाह्यदि इन्द्रियोंमें
 स्थापित करे । यहाँ 'अग्नि' शब्द
 अन्य इन्द्रियानुग्राहक देवताओंको
 भी उपलक्षित करानेके लिये है ॥१॥

युक्तेन मनसा वय देवस्य सवितु सवे । सुवर्गे
 याय शक्त्या ॥ २ ॥

सक्ति देवताकी अनुमति हानपर उन्हींकी प्ररणसे परमभ्रममें छोड़ कर मनके द्वारा हम यथाशक्ति परमरक्षाशक्तिके हेतुमूल ध्यानकर्मके लिये प्रयत्न करेंगे ॥ २ ॥

युक्तेनेति । यदा तच्चाय मना
 योवयधनुग्राहकदेवताशक्त्याभा-
 नेन वेदन्त्रियदाढर्यं करोति तदा
 युक्तेन सवित्रा परमात्मनि संयो-
 धितेन मनसा वर्षं तस्य देवस्य
 सवितुः सवऽनुज्ञायां सत्यां सुव-
 र्गेयाय स्वर्गप्राप्तिहेतुमूलाय ध्यान
 कर्मण मथासामर्ष्यं प्रयतामह ।
 परमारमवचनोऽत्र स्वर्गशुब्दः ।
 तत्प्रकरणोपस्यैव सुखरूपत्वात्-
 दंष्टत्वाच्चेतरस्य सुखस्य । तथा
 च श्रुतिः—“एतस्यैवानन्दस्या-
 न्यानि भूतानि मात्राणुपजीवन्ति”
 (५ उ०४।३ । ३२) इति ॥२॥

‘युक्तेन’ इत्यादि । जिस समय
 तत्त्वज्ञानके लिये मनोनिग्रह करते
 हुए अनुग्रहक देवताओंके शक्ति-
 सञ्चारक द्वारा [सक्ति] देह और
 इन्द्रियोंकी इच्छा कर देण उस
 समय युक्त—सक्ति देवताद्वारा
 परमभ्रममें उगाये हुए मनके द्वारा
 हम उस देवता सब प्राप्त होनेपर
 अर्थात् उनकी अनुज्ञा विद्यनेपर
 सुखोन्म—स्वर्गप्राप्तिके हेतुमूल ध्यान-
 कर्मके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे ।
 यहाँ ‘स्वर्ग’ शब्द परमात्मशब्दी है,
 क्योंकि परमरक्षाक ही यहाँ प्रकरण
 है, वही सुखस्वरूप है तथा अन्य
 सब सुख भी उसीके अन्तर्गत हैं । ऐसी
 ही यह श्रुति भी है—“इसी
 आनन्दकी सूक्ष्मतर मात्राके आत्म-
 से अन्य सब जीव जीवित रहते
 हैं” ॥ २ ॥

युक्त्वाप्येति पुनरपि सोऽप्येवं
 करोत्विति प्रार्थना—

‘युक्त्वाय’ इत्यादि मन्त्रसे, फिर
 भी वह ऐसा करे—ऐसी प्रार्थना
 करते हैं—

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम् ।

दृष्ट्वा ज्योति करिष्यत सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥

पूर्णानन्दस्वरूप परमात्माकी ओर जाते हुए तथा सम्पददर्शनके द्वारा ज्योति स्वरूप ब्रह्मका प्रकाशन करते हुए मनके सहित इन्द्रियोंको परमात्मासे संयुक्त कर वह सवितृदेव उन्हें अनुज्ञा (सामर्थ्य) प्रदान करे ॥ ३ ॥

युक्त्वाय योजयित्वा देवान्
मनआदीनि करणानि तेषां
विशेषणं सुवः स्वर्गं सुखं पूर्णा-
नन्दब्रह्म, यत इति द्वितीयाबहु
वचनं पूर्णानन्दब्रह्म गच्छतो न
सम्पदादिविषयान् ।

पुनरपि विशेषणान्तरं धिया
सम्पददर्शनेन विषय घोटन-
स्वभावं चैतन्यैकरसं दृष्ट्वा मह
द्वयं न्यातिः प्रकाशं करि
ष्यतः पूर्णानन्दब्रह्मादिष्करिष्य
तः । अत्र द्वितीयाबहुवचनम् ।

वेक्ताओं, मन आदि इन्द्रियोंको
[परमात्मामें] युक्त—संयोजित
कर—उन इन्द्रियोंका विशेषण
है 'सुवर्यत' सुव—अर्थात् सुख
—सुख यानी पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्म-
के प्रति यत—जाती हुई [इन्द्रियों-
को] । यहाँ 'यत' यह शब्द द्वितीया
का बहुवचन है । तात्पर्य यह है
कि पूर्णानन्द ब्रह्मकी ओर जाती
हुई इन्द्रियोंको [परमात्मामें संयोजित
कर] शब्दादि विषयोंकी ओर जान-
वाली इन्द्रियोंको नहीं ।

[इन्द्रियोंके लिये] पुन एक दूसरा
विशेषण भी दिया जाता है—जो
'धिया' यानी सम्पददर्शनके द्वारा
दिक्म्—घोटनस्वभावं चैतन्यैकरसं
दृष्ट्वा—महत् अर्थात् ब्रह्मको ज्ञाति
—प्रकाशित करेगी, अर्थात् पूर्ण-
ानन्द ब्रह्मका प्रादुर्भाव—अनुभव
करेगी [उन इन्द्रियोंको]—यहाँ
'करिष्यत' में द्वितीयाका बहुवचन है—

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्षतो धिया दिवम् ।

वृहज्ज्योति करिष्यत सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥

पूर्णानन्दस्वरूप परमात्माकी ओर आते हुए तथा सम्पद्दर्शनके द्वारा ज्योति स्वरूप ब्रह्मका प्रकाशन करते हुए मनके सहित इन्द्रियोंको परमात्मासे संयुक्त कर वह सवितादेव उन्हें अजुहा (सामर्थ्य) प्रदान करे ॥ ३ ॥

युक्त्वाय योवयित्वा देवान्

मनसादीनि करणानि तेषां

विश्लेषण सुव स्वर्गं सुखं पूर्णा-

नन्दब्रह्म, यत इति द्वितीयाबहु

वचनं पूर्णानन्दब्रह्म गच्छतो न

शब्दादिविषयान् ।

पुनरपि विश्लेषणान्तरं धिया

सम्पद्दर्शनेन दिव द्योतन-

स्वभावं चैतन्यैकरसं वृहन्मह

ब्रह्म ज्योतिः प्रकाशं करि

ष्यतः पूर्णानन्दब्रह्मादिष्करिष्य

तः । अत्र द्वितीयाबहुवचनम् ।

देवत्वो, मन आदि इन्द्रियोंको

[परमात्मामें] युक्त—संयोजित

कर—उन इन्द्रियोंका विशेषण

है सुवर्षत सुव—अर्थात् स्वर्ग

—सुख यानी पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्म-

के प्रति यत—जाती हुई [इन्द्रियों-

को] । यहाँ 'यत' यह शब्द द्वितीया

का बहुवचन है । तदप्य यत् है

कि पूर्णानन्द ब्रह्मकी ओर जाती

हुई इन्द्रियोंको [परमात्मामें संयोजित

कर] शब्दादि विषयोंकी ओर जान-

वाली इन्द्रियोंको नहीं ।

[इन्द्रियोंके लिये] पुन एक दूसरा

विश्लेषण भी दिया जाता है—जो

'धिया' यानी सम्पद्दानके द्वारा

दिकम्—द्योतनस्वभाव चैतन्यैकरस

वृहत्—महत् अर्थात् ब्रह्मको ज्योति

—प्रकाशित करेंगे, अर्थात् पूर्ण-

ानन्द ब्रह्मका प्रादुर्भाव—अनुभव

करेंगे [उन इन्द्रियोंको]—यहाँ

'ष्करिष्यत' में द्वितीयाका बहुवचन है—

सविता प्रसुवासि तान्करमानि ।
यथा करणानि विपयेभ्यो निष्पृषा-
न्यात्सामिमुस्मान्यात्मप्रकाशमव
हृषुस्तथानुजानातु सवितेत्पर्यः ॥ ३ ॥

उन इन्द्रियोंको सवितृदेव अनुज्ञा देव
है । तत्पर्य यह है कि इन्द्रियों
विषयोंसे निष्पृष हो आत्ममिमुस्मी
होकर जिस प्रकार आत्माको ही
प्रकाशित करें वैसे अनुज्ञा (सामर्थ्य)
उन्हें सवितादेवका प्रदान करे ॥ ३ ॥

तस्यैवमनुजानतो महीती परि
ष्टुतिः कर्तव्येत्साह—

इस प्रकार अनुज्ञा देनेवाले उस
देवकी महीती स्तुति करनी उचित है
—इस अध्यायसे स्तुति महीती है—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो

विप्रा विप्रस्य बृहतो विप्रश्चित ।

वि होत्रा वधे वयुनाविदेक

इन्मही देवस्य सवितृ परिष्टुतिः ॥ ४ ॥

जो निष्ठाग मन और इन्द्रियोंको परमात्मामें जगते हैं उनके चाहिये
कि जिस एक प्रधानित्ने होतुसाध्य [यथासि] क्रियार्थका विधान किया
है उस महान्, सर्वज्ञ और विप्र (विशेषरूपसे व्यापक) सवितृदेवकी
महीती स्तुति करें ॥ ४ ॥

युञ्जते इति । युञ्जते योज-
यन्ति य विप्रा मन उत युञ्जते
धिय इतराप्यपि कर्णानि । धी
हेतुत्वात्करण्यां धीशब्दप्रयोगः ।
तथा च श्रुत्यन्तरम्—“यदा
पञ्चासतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा

‘युञ्जते इत्यादि । जो विप्र—
ब्राह्मण, मन एवं अन्य इन्द्रियोंको
परमात्मामें जगते हैं । इन्द्रियों बुद्धि
जनित हैं इसलिये उनके लिये ‘धी’
शब्दका प्रयोग किया गया है । ऐसा
ही एक दूसरी श्रुति भी कहती है
—“जब मनके सहित पाँच ज्ञान

सह" (क०ठ० २।३।१०) इति ।
विप्रस्य विशेषेण व्याप्तस्य पृहतो
महतो विपश्चितः सर्षपस्य
दवस्य सवितुर्मही महती परिष्पुतिः
कर्तव्या । कैर्विप्रैः ।

पुनरपि तमेव विधिनष्टि—

वि होत्रा दधे होत्राः क्रिया यो
विदधे षयुनावित्प्रज्ञावित्सर्वज्ञाना-
स्ताधिभूत एकोऽद्वितीयः । य
विप्रा मनत्रादिकरणानि विपयेभ्य
उपसंहृत्यात्मन्येव योजयन्ति तै
विप्रस्य पृहतो विपश्चितो महती
परिष्पुतिः कर्तव्या । होत्रा विदध
षयुनाविदध सविता ॥ ४ ॥

(ज्ञानेन्द्रियो) रुक जाती है
इत्यादि । विप्र—विशेषरूपसे
व्यापक, पृहत्—महान् एवं
विपश्चित्—सब सक्तिदेवकी महती
स्तुति करनी चाहिये । किन्हें
करनी चाहिये ?—ब्राह्मणोंको ।

किर भी उस सक्तिदेवके ही
विशेषण दिये जाते हैं—'मि होत्रा
दधे' जिसने होत्रा यानी यज्ञक्रियाओं-
का निधान किया है और जो षयुना-
वित्—प्रज्ञावित् अर्थात् सब कुछ
जाननेके कारण साक्षिस्वरूप है, यह
[सक्ति देवता] एक—अद्वितीय है ।
अर्थात् जिसने यज्ञक्रियाओंका निधान
किया वह प्रज्ञानवान् सक्ति एक ही
है । अतः जो ब्राह्मण मन आदि
इन्द्रियोंको विषयोसे हटाकर आत्मामें
ही लगाते हैं उन्हें इस महान् एव
सर्षप विप्र (विशेषरूपसे व्यापक)
सक्तिदेवकी महती स्तुति करनी
चाहिये ॥ २ ॥

क्रिय—

| तथा—

युजे वां ब्रह्म पूव्य नमोभि

विश्लोक येतु पश्येव सुरे ।

मृष्यन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा

आ ये घामानि दिव्यानि तरु ॥ ५ ॥

[हे इन्द्रियवर्ग और इन्द्रियाभिष्टातृ देवगण !] मैं तुमसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरातन ब्रह्ममें नमस्कार (चित्त-प्रणिधान आदि) द्वारा मन ल्याता हूँ । सम्मार्गमें विद्यमान विद्वान्की भौति मेरा यह कीर्तनीय श्लोक (स्तुतिपाठ) लोकमें विस्तारको प्राप्त हो । जिन्होंने सब धोरसे दिव्य धामोंपर अधिकार कर रखा है वे अमृत (हिरण्यगर्भ) के पुत्र विश्वेदेवाग प्रकण करें ॥ ५ ॥

युजे वामिति । युजे वां समा
 वचे वां युवयो करणानुब्राह्मणयोः
 सप्तन्धि प्रकण्डित्वेन तत्प्रकाशितं
 ब्रह्मत्यर्थः । अथवा वामिति बहु
 वचनार्थे युष्माकं करणभूत ब्रह्म
 पूर्व्यं पूर्वं चिरन्तनं समादध ।
 नमोभिनमस्कारैश्चित्तप्रणिधाना-
 दिभिः ।

एष एषं समादधानस्य मम
 श्लाकं कीर्तितस्य एतु विविधमेतु
 पथ्यव छत्रेः पथि सम्मार्गे ।
 अथवा पथ्या कीर्तिरित्यतद्राफ्यं

‘युजे वाम्’ इत्यादि । इन्द्रिय और उनके अनुब्राह्मण देवगण ! तुम दोनोंके द्वारा प्रकणशनीय होनेके कारण तुमसे सम्बन्ध रखनेवाले ब्रह्ममें मैं मनको नियुक्त—सम्बद्धित करता हूँ, तात्पर्य यह है कि ब्रह्म इनके द्वारा प्रकणशित है । अथवा ‘वाम्’ इस शब्दका यदि बहुवचनमें अर्थ किया जाय तो ‘युष्मद्वारे करणभूत पूर्वतन—चिरकालीन ब्रह्ममें मैं चित्त सम्बद्धित करता हूँ’ ऐसा अर्थ होगा । [किस प्रकार चित्त सम्बद्धित करता हूँ !] नमस्कारोंद्वारा अर्थात् [चित्त-प्रणिधान (मनोनियोग) आदिक द्वारा ।

इस प्रकार चित्तसम्बद्धित करने-वाले मेरा कीर्तितस्य श्लोक (स्तोत्र-पाठ) सम्मार्गमें विद्यमान विद्वान्के समान विविधरूप (विस्तारको प्राप्त) हो जाय । अथवा [पथ्या इति एसा पथ्यव करक] पथ्यावर अर्थ कीर्ति करना चाहिये । अर्थात्

प्रार्थनारूपं स्पृशन्तु विश्वेऽमृतस्य
 ब्रह्मणः पुत्रा सुरात्मनो हिरण्य
 गमस्य । के ते ? ये धामानि
 दिव्यानि दिवि भवान्यावत्स्यु
 रधितिष्ठन्ति ॥ ५ ॥

[विद्वान्की कीर्तिकी भौति मेरु श्लोक
 विद्वारको प्राप्त इति—] इस प्रायनारूप
 शक्यको अमृत—ब्रह्म यानी
 हिरण्यगर्भके सूर्यरूप समस्त पुत्र
 सुनें । ये कौन हैं ?—जिन्होंने
 सम्पूर्ण दिव्य—दुखोकांतगत धामों-
 पर अधिकार कर रखा है ॥ ५ ॥

सवितास्ये अनुज्ञाके विना ह्यग्नि

पुञ्जान प्रथमं मन इत्यादिना
 सवित्रादिप्रार्थना प्रतिपादिता ।
 यस्तु पुनः प्रार्थनामकृत्वा तैर
 ननुज्ञातः सन्योगे प्रवर्षते स
 भागहती कर्मण्येव प्रवर्षत
 इत्याह—

पुञ्जान प्रथमं मन इत्यादि
 मन्त्रसे सविता आग्नि प्रार्थना कही
 गयी । किन्तु जो पुरुष उनकी
 प्रार्थना न करके उनकी अनुज्ञाके
 बिना ही योगमें प्रवृत्त होकर है
 उसकी भोगके हेतुमत् कर्मों ही
 प्रवृत्ति हो जाती है—यह बात अब
 धृति कल्पवृत्ति है—

अग्निर्यत्राभिमथ्यते

वायुर्यत्राधिरुध्यते ।

सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सजायते मन ॥ ६ ॥

जहाँ (जहाँ अग्न्याधानादि कर्मों) अग्निपर मन्थन किया जाता है,
 जहाँ वायुपर अधिरोध होता है और जहाँ सामरस्य अभिव्यक्त होती है
 उन कर्मों ही [उसका] मनकी प्रवृत्ति होती है ॥ ६ ॥

अग्निर्यत्राभिम-
 थ्यत आधानादी । वायुर्यत्राधि

‘अग्निपर’ इत्यादि । जहाँ अग्न्या-
 धानादिमें अग्निपर मन्थन किया जाता
 है, जहाँ प्रकम्पा (वायुकी स्तुति

रुच्यते प्रवर्ग्यादौ । सवित्रा प्रेरितः
शब्दमभिव्यक्तं करोति । सामो
यत्र दशापवित्रात्पूयमानोऽति-
रिच्यते तत्र क्रतौ संजायत मन ।

अग्निर्यत्राभिमन्थ्यत इत्यत्रापरा

व्याख्या—अग्निः परमात्मा,
अविद्यातत्कार्यस्य दाहकस्वात् ।
उक्तं च—“ ... अहमज्ञानार्ध-
तमः । नाशयाम्यात्मभावस्यो
ज्ञानदीपेन भास्वता” (गीता
१० । ११) इति । यत्र
यसि पुरुष मन्थ्यत स्वदेह
मरणिं कृष्वेत्यादिना पूर्वो-
क्तज्ञाननिर्मथनेन वायुयत्राधि-
रुच्यते शब्दमभिव्यक्तं करोति
रश्चकादिकरणात् । सामो यत्रा
तिरिच्यतेऽनकत्र मसंषया तत्र
तस्मिन्पञ्चदानतप प्राणायामसमा-
धिविशुद्धान्त करण संजायत

आदि) में वायुका अधिरोध होता है
अर्थात् जहाँ सवितासे प्रेरित हम्बर
वायु शब्दको अभिव्यक्त करता है
और जहाँ दशपवित्र (छाननेक
कक्ष) से पवित्र किये (छाने हुए)
सोमरसकी अधिकता होती है उस
यज्ञकार्यमें उसका मन जग जाता है ।

‘अग्निर्यत्राभिमन्थ्यते’ इस मन्थनी
यह दूसरी व्याख्या की जाती है—
अग्नि परमात्माको कहते हैं, क्योंकि
यह अग्नि और उसके कार्यको
दग्ध करनेवाला है । [धीमद्वग्वीर्या-
में] कहा भी है “मैं अपने मर्कोंके
अन्त करणमें स्थित होकर प्रकृतशम्य
ज्ञानदीपकसे उनके अज्ञाननिष्ठ
बन्धकारको नष्ट कर देता हूँ ।”
उस परमात्मानिक ‘स्वदेहमरणि
इत्यादि पूर्वमन्थसे कहे हुए
प्यामरूप निर्मन्थनके द्वारा जिस
पुरुषमें मन्थन होता है, तथा जहाँ
वायुका अधिरोध होता है अर्थात्
रेचकादि क्रियाओंके कारण जहाँ
वायु अव्यक्त शब्द करता है और
जहाँ अनेक जन्मोत्पत्त [अग्निर्करी]
सेवा करनसे सामकी बहुश्रुता होती
है, उस यज्ञ तप, प्राणायाम
एवं समाधि आदिसे विशुद्ध हुए

परिपूर्णानन्दाद्वितीयाकाशकारं
मनः समुत्पद्यते, नान्यत्रा
दुदात्तकरणे । उक्तं च—

“प्राणायामविशुद्धात्मा

यस्मात्पश्यति तत्परम् ।

तस्मात्प्रात परं किञ्चि-

त्प्राणायामादिति श्रुति ॥

अने अन्मसंसार

चित्ते पापसमुच्चये ।

तत्स्वीप्ने जायत पुसा

गाविन्दाभिसुस्ती मतिः ॥

अन्मात्तरसङ्क्षेपे

तपाङ्गान्तपाभिमि ।

नराणो क्षीणपापानां

कृष्ण मक्ति प्रजायते ॥”

तस्मात्प्रथम यथाधनुशान तव

प्राणायामादि तव समाहिततो

वाक्यार्थज्ञाननिष्पत्तिरुक्तं कृत

कृत्स्नतति ॥ ६ ॥

धन्त करणमें ही पूर्णानन्दाद्वितीय
व्यक्ताकार मन (मनोवृत्ति) का उदय
होता है, अन्यत्र अशुद्ध धन्त
करणमें नहीं । कहा भी है—

“क्यौकि विस्फुर विष

प्राणायामके अभ्याससे शुद्ध हो

गया है वही उस परमात्मका

साक्षात्कार करता है, इसलिये इस

प्राणायामसे बहकर कुछ भी नहीं

है—ऐसी सुनि है । वनक अन्योके

संसारसे जो पापराशि सञ्चित हो

गयी है उसके क्षीण हो जानपर

पुरुषोक्ती युद्धि श्रीगोविन्दकी आर

होती है । सुखों अन्योके अनन्तर

तय ज्ञान और समाधिमें इसा त्रिनक

पाप क्षीण हो गये हैं उन पुरुषोक्ती

श्रीकृष्णधर्ममें मक्ति हस्ति है ।

अत सबसे पहले यथाधिका

अनुष्ठान किया जाता है, फिर

प्राणायामादि फिर समाधिपर और

उसके पश्चात् महाशक्त्यक अर्पक

ज्ञान होता है, तय उससे इन्-

दृष्टप्रती होठि है ॥ २ ॥

सविताश्री मनुशास धाम

यस्मादननुदात्तस्य तस्य भोग

इतो कमव्यय प्रवृत्तिस्तस्मात्—

क्यौकि [सवित्र देवचर्यी] अनुष्ठा

न हनितर उसरी भांगक ह्यभूत

कर्ममें ही प्रवृत्ति होती है, इत्युक्ति—

सक्त्रिा प्रसवेन जुपेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।

तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥ ७ ॥

सक्त्रिा देवताके द्वारा अनुज्ञात होकर उस चिरन्तन ब्रह्मका सेवन करना चाहिये । तुम उस ब्रह्ममें निष्ठा (सम्यग्धि) करो । इससे पूरा कर्म तुम्हारा बन्धन करनेवाला नहीं होगा ॥ ७ ॥

सक्त्रिा प्रसवेन सक्षप्रसवनेति यावत् । जुपेत सेवेत ब्रह्म पूर्व्यं चिरन्तनम् । तस्मिन्ब्रह्मणि योनिं निष्ठां समाधिउद्युगां कृणवसे कुरुष्व । एवं कुर्वतो मम किं सता भवति ? इत्यत आह—न हि त इति । न हि ते पूर्वं सात कर्मेषु भौतं च कर्माधिपन्न पुनर्माग हेतोर्भ्रान्ति, धानामिना सवीजस्य दग्धत्वात् । उक्तं च—“यथेपी क्कतुलमप्रौ प्रोतं प्रदूयत एव हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त” (छा० उ० ५। २४। ३) इति । “ज्ञानामिः सवकमाणि मन्नासात्कुरुत तथा” (गीता ४। ३७) इति च ॥ ७ ॥

सक्त्रिाद्वारा प्रसूत यानी जो ब्रह्म प्रसव करनेवाला है उस सक्त्रिाद्वारा अनुज्ञात होकर चिरन्तन ब्रह्मका सेवन करना चाहिये । उस ब्रह्ममें तुम योनि—सम्यग्विरूप निष्ठा करो । ऐसा करनेपर मुझ उससे क्या होगा ? सो भ्रुति बतलती है—‘न हि ते’ इत्यादि । इससे तुम्हारा पूर्व—स्मार्त इत्यकम और भौत-कर्म भी पुन मोगके वहुसे बन्धन नहीं करेगा; क्योंकि ज्ञानामिनेके द्वारा बहूबीजसहित भस्म हो जायगा । यथा भी है—“त्रिस प्रफर अग्निर्वै शम इवा सौकशर रूर्धो भस्म हो जातु है उसी प्रफर इस (ज्ञानी) के समस्त पाप भस्म हो जाते हैं”, “इसी प्रफर ज्ञानामिने समस्त कर्मों को भस्म कर शय्या है” इत्यादि ॥ ७ ॥

जानयोगकी विधि और उसका महारथ

तत्र योनि कृणवस इत्युक्तं

ऊपर यह कहा गया कि 'उसमें समाधि करो' सो वह समाधि किस

कर्म योनिकरणम् ? इत्याद्यह्वय

प्रकार की बात, ऐसी आशङ्का

उत्पन्नकरं दर्शयति—

करके उत्पन्न प्रकार दिखाते हैं—

त्रिरुन्नत स्थाप्य सम शरीर

हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य ।

ब्रह्माहुपेन प्रतरेत विद्वान्

स्नातासि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

[शिर, प्रीथा और बक्ष स्थल—इन] तीनोंको ऊँचे रखते हुए शरीरको

सीधा रख मनके द्वारा इन्द्रियोंको हृदयमें सम्मिश्रित कर विद्वान् व्योम्काररूप नौकरके द्वारा सम्पूर्ण भयानक जलप्रवाहोंका पार कर जाता है ॥ ८ ॥

त्रिरुन्नतमिति । श्रीप्युरोग्रीवा

त्रिरुन्नतम् इत्यादि । बक्ष स्थल,

शिवांस्युन्नतानि यस्मिन्शरीरे

प्रीथा और शिर—ये तीन जिसमें उन्नत

तत्रिरुन्नतं संस्थाप्यत समं

(उठे हुए) रखे जाते हैं उस त्रिरुन्नत

शरीरम् । हृदीन्द्रियाणि मन-

शरीरको समानभावसे स्थित किया जाता

यहुरादीनि मनसा संनिवेश्य

है । तथा मनके द्वारा मन एवं चक्षु आदि

संनियम्य ब्रह्मबोहुपस्तरणसाधनं

इन्द्रियोंको हृदयमें नियमित कर प्रक

तेन ब्रह्माहुपेन । ब्रह्मब्रह्मं प्रणव

ही उरुप—तरणका साधन है, उस

बधयन्ति । तेनोहुपस्थानीयेन

ब्रह्मरूप उरुपके द्वारा—यहाँ आचार्य-

प्रणवन, काकाधिवदुभयत्र स-

खेग 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ प्रणव बतलाते

हैं, उस उरुप (नौका) स्थानीय


प्रणवक द्वारा । काकाधिन्यायसे

१. दो एक दोनों नौकाओंमें एक ही मौल होती है उन्नीति वह दोनों भार रोक देता है । इन्ही प्रकार यहाँ एक बलुका दो बलुओंके बीच सम्मिल्य होता है वही काकाधिन्याय कहा जाता है ।

ध्यते । तेनोपसंहस्य तेन प्रव
रताविक्रामेद्विद्वान्ज्ञातांसि संसार
सरितः स्वाभाषिकाविद्याकाम-
कर्मप्रवर्तितानि भयावहानि प्रव
तिर्यगूर्ध्वप्राप्तिकराणि पुनरावृत्ति
माञ्छि ॥ ८ ॥

इसका [संनिवेश और तरण]
दोनोंके साथ सम्बन्ध है । अर्थात्
प्रणवके द्वारा मन और इन्द्रियोंको
नियमित कर प्रणवकीसे विद्वान् संसार-
सरिताके स्वाम्याधिक अविद्या, कामना
और कर्मोंद्वारा प्रवर्तित भयावह—
प्रेत, तिर्यक् एवं ऊर्ध्व योनियोंको प्राप्त
करनेवाले पुनरावृत्तिके हेतुभूत
स्रोतोंको पार कर लेता है ॥ ८ ॥

प्राणायामकर्म और उत्तरी महत्ता

प्राणायामकर्मपित्तमनोमलस्य चिह्नं
प्रणयाम-
विशेषः प्रहृष्टि स्मितं भव
तीति प्राणायामो
निर्दिश्यते । प्रथमं नाडीशोधनं
कर्तव्यम् । ततः प्राणायामेऽभि-
कार । दक्षिणनासिकापुटमङ्गु-
स्थावष्टम्य वामेन वायुं पूरये
द्यथाशक्ति । ततोऽनन्तरमुत्सृज्यैवं
दक्षिणेन पुटेन समुत्सृजेत् ।
सम्यमपि धारयेत् । पुनर्दक्षिणेन
पूरयित्वा सम्येन समुत्सृजेद्यथा
शक्ति । त्रिः पञ्चकृत्वो वा एवम्
अभ्यस्तः सवनपशुष्टयमपररात्रे
मभ्याहे पूर्वा  च पश्चा-

प्राणायामके द्वारा जिसके मनकी
अशुद्धि क्षीण हो जाती है उत्तरीकत्र चित्त
महामे स्थिर होता है, इसस्थिमे प्राणायाम-
का वर्णन किया जाता है । पहले
नाडीशोधन करना चाहिये । उसके
पीछे प्राणायाममें अतिकर होता है ।
दायें नासारकके अँगूठेसे दबाकर
बायेंसे यथाशक्ति वायु खींचे ।
उपश्चात् दायीं नासिककके छोड़कर
इसी प्रकार [याम नासारकके
अँगूठियोंसे दबाकर और] दायेंसे वायुको
बाहर निकाले । फिर दायेंसे पूरक करके
यथाशक्ति बायें नासिककरन्धसे रेषक
करे । इस प्रकार दोहरात्रि, मध्यह्न,
पूर्वरात्रि और अर्धरात्रि—इन चार
समय तीन-तीन या पाँच-पाँच बार
अभ्यस करनेवालेकी एक पक्ष या एक

न्मासादिशुद्धिर्भवति । त्रिविधः
प्राणायामो रश्कः पूरकः कुम्भक
इति । तद्वद्वाह—

“आसनानि समम्यस्य
वाञ्छितानि यथाविधि ।
प्राणायामं ततो गार्गि
अितासनगतोऽम्भसेत् ॥
सृदासने कुशान्सम्य
गाम्भार्याजिनमत्र च ।
लम्भादरं च सपूज्य
फणमादकभक्षण ॥
तदासने सुत्वामीन
सम्य चस्येतर करम् ।
समग्रीवशिराः सम्य
फसंपृत्वास्य सुनिश्चल ॥
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि
नासाग्रन्यस्तलोचन ।
अतिमुक्तममुक्तं च
धज्जयित्वा प्रयत्नतः ॥
नाडीसंधोधनं कुर्या
दुक्तमार्गेण यत्नतः ।
वृथा फलेद्यो मषेषस्य
तच्छाभनमद्वयत ॥
नासाग्रे दृष्टमृद्धीजं
चन्द्रातपवितानितम् ।

मासमें नाडीशुद्धि हो जाती है ।
यह रेचक, कुम्भक और पूरकभेदसे
तीन प्रकारका प्राणायाम है । ऐसा
ही कहा भी है—

‘हे गार्गि ! अपने अभीष्ट
आसनोक्त यथाविधि अभ्यास कर
फिर जिस आसनका अभ्यास हो
उसमें बैठकर प्राणायामका अभ्यास
करे । कोमल आसनपर सम्यक् प्रकार
से कुशा और मृगचर्म बिछाकर फल
तथा मादक आदि नैवद्यक द्वारा
गणशजीक पूजन कर उस आसनपर
काये हाथपर दायाँ हाथ रखे हुए
सुकूर्णक धटे । शिर और ग्रीवाको
सीने रखे । मुक्तको [किसी बन्धसे]
अच्छी तरह ढँक ले तथा शरीरको
निश्चल रखे । इस प्रकार नासिकाग्र-
पर इष्टि अङ्गक पूर्ण या उत्तरकी
ओर मुख करके बैठ जाय । तथा
अतिभाजन और अम्बोजनको प्रयत्न-
पूर्वक त्यागकर घाबोछ पदतिसं
नाडीशोधन करे । जो योगी नाडी-
शापन किये बिना अभ्यास करता
है उसका धर्म व्यर्थ हुआ है ।
नासिकाग्रपर चन्द्रातपुक विद्यमान
चन्द्रबीज (ठँ या मँ) को तथा

सप्तमस्य तु वर्गस्य
 चतुर्थं बिन्दुसयुतम् ॥
 विश्वमध्यस्थमालोक्य
 नासाग्रे चक्षुषी उमे ।
 इक्षया पूर्यद्रार्थं
 षाडं द्वादशमाश्रकैः ॥
 ततोऽपि पूर्ववद्विषाये
 त्स्फुरन्मालावलीयुतम्
 रेफं च बिन्दुसंयुक्तं
 क्षिप्रमण्डलसंस्थितम् ॥
 ध्यायेद्विरेचयेद्वायु
 मन्दं पिङ्गलया पुनः ।
 पुनः पिङ्गलयापूर्य
 घ्राणं दक्षिणतः सुधी ॥
 तद्द्विरेचयेद्वायु
 मिडया तु घनैः घनैः ।
 त्रिचतुर्षत्सरं चापि
 त्रिचतुर्मासमेव वा ॥
 गुरुज्योक्तप्रकारेण
 रहस्येवं समम्यसेत् ।
 प्रातमध्यंदिने सायं
 स्नात्वा पट्कृत्य आचरेत् ॥
 सध्यादिकर्म कृत्वैव
 मध्यरात्रोऽपि नित्यञ्च ।
 नाडीगुद्विमवाप्नासि
 तयिद्धं दृश्यत पृथक् ॥

सप्तम वर्गके बिन्दुयुक्त चतुर्षर्षर्ष (बं)
 को स्थापित कर दोनों नेत्रोंको
 नासिकाके अग्रभागपर स्थापित
 करे । इडा (बाय) नाडीशर
 द्वादशमात्रा-क्रमसे घ्राणभायुको मीतर
 सींचे । फिर पूर्ववत् देदीप्यमान
 शिख्योसि युक्त अग्निमन्त्र ध्यान करे
 और उस अग्निमन्त्रधर्म स्थित
 बिन्दुयुक्त रेफ (र) कर्ष ध्यान करे ।
 तत्रपश्चात् धीरे-धीरे पिङ्गला (दायाँ)
 नाडीसे वायुको निकाल दे । फिर
 यह मूर्ध्निमान् योगी दायाँ नासिकाघसे
 पिङ्गला नाडीशर प्राग सींचकर
 उसे धीरे-धीरे इडा नाडीशर भाहर
 निकाले । इस प्रकार गुरुको मतअर्था
 इह विधिसे एकत्रसमे तीन-चार वर्ष
 या तीन-चार मासतक अभ्यास
 करे । प्रात पञ्च, मध्याह्न तत्र
 सायं-मध्यमे स्नान कर सन्ध्यादि कर्म-
 से मिश्र हो उ-उ प्राणायाम करे
 तत्र नित्यपति मध्यरात्रिमें भी
 अभ्यास करे । ऐसा करनेसे उसकी
 नाडीशुद्धि हो जाती है और उसके
 बिंदु स्पष्ट दीप्त हो जाते हैं ।

शरीरलघुता दीप्ति
 चर्टराग्निविबर्धनम् ।
 नष्टाभिव्यक्तिरित्येत
 विलङ्गं तच्छुद्धिसूचनम् ॥
 शुभ्यन्ति न जपैस्तन
 स्पर्शशुद्धरइतव ।
 प्राणायामं तत कुपा-
 द्रचपूरककुम्भकैः ॥
 प्राणापानसमायोगः
 प्राणायामः प्रक्रीर्तित ।
 प्रणव आत्मक गार्गी
 रचपूरककुम्भकम् ॥
 तदतस्प्रणव विद्वि
 तन्स्वरूपं प्रथीम्यहम् ।
 यो वेदादीं स्वरः प्रोक्तो
 वेदान्तगु प्रविष्टितः ॥
 तयोरन्त तु यद्गार्गी
 बर्गपञ्चकपञ्चमम् ।
 रेचकं प्रथमं विद्वि
 द्वितीयं पूरकं विदु ॥
 तृतीयं कुम्भकं प्राक्तं
 प्राणायामस्त्रिरात्मकः ।
 श्रयाणां कारणं ब्रह्म
 भारूपं सर्वकारणम् ॥
 रचकः कुम्भका गार्गी
 सृष्टिन्विस्थात्मकाद्युभौ ।

शरीरका हल्कापन, कान्ति, जठराग्नि-
 की हृदि, नादका सुनायी देने
 लाना—ये सब नाडीशुद्धिकी
 सूचना देनेवाले सिद्ध हैं। नाडियों-
 की शुद्धि जप करनेसे नहीं होती,
 अतः यह नाडीशुद्धिका हेतु नहीं
 है।

“इसके पश्चात् रेचक, पूरक और
 कुम्भक क्रमसे प्राणायान करे।
 प्राण और अपानका संयोग होना ही
 प्राणायाम कहल्यता है। हे गार्गी !
 प्रणव त्रिरूप है। ये जो रेचक,
 पूरक और कुम्भक हैं इन्हें प्रणव ही
 समझो। मैं तुम्हें प्रणवका स्वरूप
 बतलाता हूँ। वेदके धार्मिके जो स्वर
 (व) है और जो स्वर (उ)
 वेदान्तोमें स्थित है तथा इनके पीछे
 जो पञ्चम बर्ग (पञ्चम) का पञ्चम
 बर्ग (म) है, इन [ब्रह्मोत्तरकी
 तीन मात्रा अ उ और म] में प्रणव
 बर्गके रेचक जानो, द्वितीयके पूरक
 समझा जाता है और तृतीयके
 कुम्भक बतलाया गया है। इस
 प्रकार यह तीन ब्रह्मोत्तर प्राणायान
 है। इन तीनोंका कारण समीक
 कारणरूप प्रकृत्यात्म्य ब्रह्म है। हे
 गार्गी ! रेचक और कुम्भक—ये
 दोनों तो क्रमशः सृष्टि और स्थिति-

पूरकस्त्वथ सहार
 कारणं योगिनामिह ॥
 पूरयेत्याडशैर्मन्त्रि
 रापादतलमस्तकम् ।
 मात्रैर्दाश्रिंशकै पश्चा-
 द्रचयेत्सुसमाहित ॥
 सपूर्णकुम्भवद्वायो-
 निर्धूल मूषदेवत ।
 कुम्भक धारणं गार्गि
 चतु पटथा तु मात्रया ॥
 श्वपयस्तु वदन्त्यथे
 प्राणायामपरायणा ।
 पवित्रभूता पूताश्वाः
 प्रभञ्जनजपे रता ॥
 तत्रादी कुम्भक कृत्वा
 चतु पटथा तु मात्रया ।
 रचयेत्सोडशैर्मन्त्रि
 नासेर्नकेन सुन्दरि ॥
 तयोश्च पूरयद्वायुं
 शनैः पाडशमात्रया ।
 प्राणस्वायमन त्वचं
 वञ्च कुर्याज्जपी वशी ॥
 पञ्च प्राणा समाख्याता
 वायवः प्राणमाधिता ।
 प्राणा मुम्यतमन्तेषु
 सयप्राणभृतां सदा ॥

रूप हैं तथा पूरक सहाररूप है ।
 इस प्रकार ये योगियोंकी उत्पत्त्या
 के कारण हैं । पहले सोडशमात्रा-
 क्रमसे धरोसे जंकर मस्तकपर्यन्त
 पूरक करे । फिर मृत साधनानीसे
 वत्तोसमात्राक्रमसे रेचक करे बार
 हे गार्गि ! मरे हुए षडक समान
 चीसठमात्राक्रमसे मूषदेशमें पुम्भक
 करता हुआ वायुको निश्चलमात्रसे
 धारण करे ।

“इसके सिवा हे सुन्दरि ! जिन्होंने
 मृत और ओतोंकी शुद्धि की है
 ऐसे प्राणजपमें तत्पर कुछ अप
 प्राणायामपरायण श्रितियोंका कहना
 है कि पहले चीसठमात्राक्रमसे
 कुम्भक करके एक नासारम्भसे
 सोडशमात्राक्रमसे रेचक करे ।
 इसके पश्चात् सोडशमात्राक्रमसे
 दोनों नासारम्भमें वायु पूरक करे ।
 इस प्रकार प्राणजयी योगी प्राणसंयमको
 ध्यान अधीन कर ल ।

“प्राण पौष पद्मे गये हैं, वे
 प्राणक आश्रित पौष ईदिक वायु
 हैं । समस्त प्रशिक्षोंक गर्भोंक
 अन्तर्गत उन पौष प्राण-वायुओंमें
 प्राण सयम मुख्य है । यह प्राण

ओष्ठनासिकयोर्मध्ये

हृदये नाभिमण्डले ।

पादाङ्गुष्ठाधित प्राण

सर्वाङ्गेषु च तिष्ठति ॥

नित्यं पादङ्गुसख्याभिः

प्राणायाम समभ्यसेत् ।

मनसा प्रार्थितं याति

सर्वप्राणजयी भवेत् ॥

प्राणायामैर्दहेद्वापान्

धारणाभिश्च क्लिबयान् ।

प्रत्याहाराश्च ससर्गान्

ध्याननानीश्वरान्गुष्णान् ॥

प्राणायामशतं स्नात्वा

य करोति दिनं दिने ।

मत्तापितृगुरुभ्योऽपि

त्रिभिवर्षैर्भ्यषेद्वति ॥”

तद्वत्तदाह प्राणानित्यादिना—

श्रेष्ठ और नासिकाके मध्यमें, हृदयमें, नाभिमण्डलमें तथा पैरोंके अङ्गुठोंमें मी रहता हुआ शरीरक सभी अङ्गोंमें विद्यमान है । नित्यप्रति सोच्छ्रम प्राणायामोक्त अव्यास करे, इससे मनोवाञ्छित पदार्थ प्राप्त होते हैं और वह योग्यासी समस्त प्राणोंपर विजय प्राप्त कर लेता है । साधकको चाहिये कि प्राणायामद्वारा शारीरिक शोषोंको भस्म करे, धारणा से पापोंका नाश करे, प्रत्याहारसे वैयक्तिक ससर्गाका अन्त कर और ध्यानमें अनीश्वर गुणोंकी निवृत्तिकर । जो पुरुष प्रतिदिन ग्यान करके सौ प्राणायाम करता है वह यदि माता, पिता या गुरुकी इत्या करनेवाला हो तो भी तीन वर्षोंमें उस पापसे मुक्त हो जाता है ॥”

यही बात 'प्राणान्' इत्यादि मन्त्रसे बतलायी जाती है—

प्राणान्प्रपीडयेद्द सयुक्तचेष्ट

क्षीणे प्राणे नासिकयोश्छुसीत ।

दुष्टाक्षयुक्तमिव वाहमेन

विद्वान्मनो धारयेताग्रमत्त ॥ ९ ॥

साधकको चाहिये कि मुक्त अहंकार-विहिन करके हुआ प्रणयोंका नियंत्रण पर जब प्राणशक्ति (प्राणधारणका अन्तःकरण) क्षीण हो जाय तब

नासिकारन्ध्रद्वारा उसे बाहर निकाल दे । और फिर वह विद्वान् पुरुष हुए
अस्यसे युक्त रूपके सारथिक समान सावधान होकर मनको निष्प्रण
करे ॥ ९ ॥

प्राणान्प्रपीडयेद् संयुक्तचेष्टः ।

“नात्यश्रतः” (गीता ६।१६)

इति श्लोकोक्तप्रकारण संयुक्ता
चेष्टा यस्य स संयुक्तचेष्ट । क्षीण
शक्तिहान्या अनुत्य गतं मनसि
नासिक्या पुटाम्यां शनै शनै
रुत्सृज्यते मुखेन । वायु प्रतिष्ठाप्य
शनैनासिक्योत्सृज्यदिति । उदा-
त्तावयुत रथनियन्तारमित्र मननेन
मनो धारयताप्रमत्तः प्रपिदि
तात्मा ॥ ९ ॥

त्रिसफ़ी चेष्टा अनप्रयत्नतया
योगोऽस्ति” इत्यादि श्लोकोक्तं बतअये इत्
नियमके अनुसार संयुक्त यानी सप्त
है उसे संयुक्तचेष्ट मइते हैं । प्राणके
क्षीण होनेपर कर्पात् प्राणशक्तिक
हास होनेसे मनके तनु हो जानेपर
नासिकारन्ध्रके द्वारा धीरे-धीरे स्वस्त
बाहर निकाले, मुससे नहीं । तत्पर्य
यह है कि वायुको रोककर फिर उसे
धारे-धारे नासिक्यसे निकाले । फिर
अप्रमत्त—सावधान रहकर उदात्त
घोड़ोंवाले रूपके सारथिक समान
मनको मनन करनेसे रोक ॥ ९ ॥

प्यातके छिये उदयुक्त स्वामोक्ष निर्देश

समे शुचौ शर्करात्रह्निवालुका-

त्रियर्जिते शब्दजलाश्रयादिभि ।

मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने

गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

त्रोसमत्तर परित्र, शर्करा, अग्नि और वादसे रचित तथा शब्द, जल
और जलप्रयामि अत्र रूप हा, मनको अनुकूल हा एव नयोरा विस
दनरूप न हा अत्र गुहा अदि शयुः प स्वानर्मे मनको युक्त करे ॥ १० ॥

सम इति । समे निम्नोन्नत
 रहिते देशे । शुचौ शुद्धे । शर्करा
 षड्विंशत्यक्षरविरहिते । शर्कराः
 शुद्धोपला , वास्तुकास्तन्पूर्णाम् ।
 तथा शब्दजलाभयादिभिः ।
 शब्द कलहादिष्वनि । अलं
 सर्वप्राप्युपभोग्यम् । मण्डप आ-
 भय । मनोऽनुकूले मनोरम चक्षु
 पीडने प्रतिबाधमिमृशे । छान्दसो
 विसर्गलोपः । गुहानिषाताभयपे
 गुहायामेकान्ते निषात समाभित्य
 प्रयोजयेत्प्रयुञ्जीत चिह्नं परमा
 स्मनि ॥ १० ॥

‘समे’ इत्यादि । सम अर्थात् जो
 देश ऊँचाई-नीचाईसे रहित हो, तथा
 जो शुचि—शुद्ध हो, शर्करा, अग्नि और
 बादरसे रहित हो—शर्करा छोटे-छोटे
 फलरूपके टुकड़ोंको और बादर उनके
 चूरेको कहते हैं—तथा शब्द, जल
 और आश्रयोंसे भी शून्य हो, यानी
 शब्द—कलहा आदिके अभावमें,
 समस्त प्राणियोंके उपयोगमें आनेवाले
 जल (पनवर) और आश्रय—
 जनसाधारणके टहरनेके स्थानसे रहित
 हो, मनोऽनुकूल—मनोरम हो नेत्रोंको
 पीडा पहुँचानेवाला अर्थात् जहाँ कोई
 क्रोधही सामन [न] हो । यहाँ ‘चक्षु-
 पीडन’ में चक्षु के शिर्षिक कोप
 विधिक है । उसे गुहादि एकान्त
 और वायुशून्य स्थानमें बैठकर
 निश्चको प्रयुक्त करे अर्थात् परमस्मा-
 में उपाये ॥ १० ॥

योगसिद्धिके पूर्वलक्षण

इदानीं योगमभ्यसतोऽभि
 व्यक्तिषिद्धानि वक्ष्यन्ते नीहार
 इत्यादिना—

अत्र ‘नीहार०’ इत्यादि मन्त्रके
 द्वारा योगाभ्यासीको प्रकट होनेवाले
 ब्रह्मभिन्यक्तिके पूर्वसिद्ध बतलाये
 जाते हैं—

नीहारधूमार्कानिलानलानां

स्त्रयोतत्रियुत्स्फटिकशशीनाम् ।

एतानि रूपाणि पुरःसराणि

ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥

योगाभ्यास आरम्भ करनेपर पहले अनुभव होनेवाले बुद्धे, घूम, सूय, वायु, धूमि, छपात (सुगन्ध), विद्युत्, स्फटिकमणि और चन्द्रमा इनके रूप ब्रह्मकी अभिव्यक्ति करनेवाले होते हैं ॥ ११ ॥

नीहारस्तुपारः । तद्वत्प्राणैः
समा विचष्टुषि प्रवर्तते । तथा
धूम इवाभाति । तथाऽर्धवचतो
वायुरिवाभाति । तथा वह्निरिवा
त्युष्णो वायुः प्रकाशदहन प्रव
र्तते वायवायुरिव सनुभिता
धलवात्रिजम्मत । कदाचित्स्व
घोतस्वचित्त्विवान्तरिक्षमालक्ष्यते ।
विद्युदिव राधिष्णुरालक्ष्यते
कदाचित्स्फटिकाकृति । कदा
चित्पूष्पशशिवत् । एतानि रूपाणि
योगे क्रियमाणे ब्रह्मण्याविष्क्रिय
माणे निमित्ते पुरःसराण्यग्रगा
मीभिः । सदा परमयागसिद्धि ११

नीहार बुद्धेको कहते हैं, प्राणों-
के सहित विचष्टुषि बुद्धेके समान
प्रवृत्त होने लगती है । * उसके
पश्चात् धूम-सा मासने लगता है ।
फिर सूयवत् और उसके पश्चात्
वायु-स्य प्रतीत होता है । तन्न्तर
वायु अधिक मनान अत्यन्त उष्ण
परं प्रकाश और दाह करनेवाला
जान पड़ता है तथा वायुवायुके
समान अत्यन्त क्षुभित होकर बड़ा
वज्रान् जान पड़ता है । कभी
पुगनुओंसे जगमगता हुआ-सा आकाश
दिखायी देने लगता है, कभी
विद्युत्के समान तेजोमयी वस्तु दीखती
है, कभी स्फटिकका आकार दीख
पड़ता है और कभी पूर्ण चन्द्रमा-स्य
दिखायी देता है । ब्रह्मानुसन्धानके
प्रयोजनसे किये जानेवाले योगमें ये
सब रूप पहले दिखायी देते हैं ।
इसके पश्चात् परमयोगकी सिद्धि
होती है ॥ ११ ॥

रोग, जरा और अक्षतमृत्युपर विषय पानेके बिह

पृथ्व्यसेजोऽनिलस्वे समुत्थिते

पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु

प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम् ॥ १२ ॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और अक्षयशक्ति अग्निप्रकृति होनेपर अर्थात्

पञ्चभूतमय योग-गुणोंका अनुभव होनेपर जिसे योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो
गया है उस योगीको न रोग होता है, न बुढ़ापस्था प्राप्त होती है और
न उसकी अन्तमयिक मृत्यु ही होती है ॥ १२ ॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं

वर्णप्रसाद स्वरसौष्ठव च ।

गन्ध शुभो मूत्रपुरीषमल्प

योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३ ॥

उत्तीर्य इन्द्राग्नौ नीरोमना विरिष्यसक्तिकी निवृत्ति, गार्गीरिष

कान्तिकी उग्मद्युः, सारणी मधुरता, सुगन्ध और मूत्र-पुरीषी न्यूनता—
इन सबका योग्यी पक्षी सिद्धि कहते हैं ॥ १३ ॥

पृथ्व्याति । पृथ्व्यप्तजाऽनिलसु

पृथिव्यादीनि मृतानि इन्द्रक

पद्मावन निर्दिश्यन्त । तपु

पथसु मृतसमुत्थितपञ्चात्मक

यागगुण प्रवृत्तस्यैव व्याख्यानम् ।

कः पुनर्योगगुण प्रवर्तने ?

पृथ्व्यनेजोः श्वादि ।

पृथिव्यादीनि मृतानि इन्द्रक

ममक्षररुद्रागनात्मन्मन्वाणरारा

ज्ञाता पृथिवी जनि योग नृश्रेय

निर्गत दिन गन्ध । उन लीषो

नृश्रेय प्रवृत्त इन्द्रक

पञ्चात्मक व्याख्यान प्राप्त इन्द्रक

—इय प्रवृत्त इन्द्रक न्यम्य

कः पुनर्योगगुण प्रवर्तने ?

पृथिव्या गन्धवस्या गन्धो योगिनो
भवति । तथाऽद्भ्यो रसः । एष
मन्यत्र उक्तं च—

“ज्योतिष्मती स्पर्शवती
तथा रसवती परा ।

गन्धवत्यपरा प्राक्ता
चतस्रस्तु प्रवृत्तयः ॥

आसां योगप्रवृत्तीनां
यद्यत्रापि प्रवर्तते ।

प्रवृत्तयोग तं प्राहुः
योगिनो योगचिन्तकाः ॥”

न तस्य योगिनो रोगो न

जरा न मृत्युवा प्रभवति । कस्य ?

प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।

सागाग्निसप्तदोषकलापं शरीरं

प्राप्तस्य । स्पष्टमन्यत् ॥१२ १३॥

है ! [सो बतजाते हैं—] गन्धवती
पृथिवीका गुण गन्ध उस योगीको
अनुभव होता है तथा जलसे रस-
की प्रवृत्ति होती है । इसी प्रकार
अन्य मूर्तोंके विषयमें समान
चाहिये । कहा भी है—“ज्योति-
ष्मती, स्पर्शवती और रसवती
तथा इनसे भिन्न एक गन्धवती—ये
योगीकी चार प्रवृत्तियाँ कही गयी हैं ।
इन योगप्रवृत्तियोंमेंसे यदि एककी
भी प्रवृत्ति हो जाय तो योगीजन उस
साधकको योगमें प्रवृत्त हुआ
कहाते हैं ।

उस योगीको न रोग होता है,
न वृद्धत्वसा होती है और न मृत्यु-
फण ही उसपर प्रमाण होता है ।
कित्ते ? जिसे योगाग्निमय शरीर प्राप्त
हो गया है अर्थात् जिसे ऐसा शरीर
प्राप्त हो गया है कि जिसके दोषसमूह
योगाग्निसे मस हो गये हैं । केव
(तेजबे मन्त्रका) वर्ष स्पष्ट
है ॥ १२ १३ ॥

योगविधि वा तत्त्वज्ञानका प्रभाव

किञ्च—

तथा—

यथैव विभवं मृदयोपलिप्त

तेजोमय भ्राजते तत्सुधान्तम् ।

तद्वात्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देही

एक कृतार्थो भवते वीतशोक ॥ १४ ॥

जिस प्रकार मृत्तिकारसे मन्दिन हुआ मित्र (सोने या चाँदीका टुकड़ा) शोधन किये जानपर तेजोमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहाती जीव आत्मतत्त्वका साक्षात्कार पर अद्वितीय, कृतारथ और शोकरहित हो जाता है ॥ १४ ॥

यथैवेति । यथैव विम्बं सौवर्णं
राजसंवा मृदयोपलिप्तं मृदादिना
मलिनीकृत पूर्वं पद्मास्तुधान्तं
सुधौतमित्पस्मिन्नर्थे सुधान्तमिति
पृष्ठान्दसम् । अग्न्यादिना विम
लीकृत तेजोमयं आसते । तद्वा
तदेवात्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य इष्टं
ऽद्वितीय कृतार्थो भवते वीत
शोकः । परेषां पाठ तद्वात्मतत्त्व
प्रसमीक्ष्य देहीति । सत्राप्ययम
वार्थः ॥ १४ ॥

‘यथैव’ इत्यादि । जिस प्रकार
सुवर्ण या रजतका पिण्ड पहले
मिट्टीसे मरा हुआ अर्थात् मिट्टी
आग्निसे मन्दिन हुआ रहनेपर फिर
सुधान्त अर्थात् अग्नि आग्निसे सुधीत
यानी निर्मल किये जानेपर तेजोमय
होकर चमकने लगता है—मूर्ध्ने
‘सुधौतम्’ क अर्थे ‘सुधान्तम्’ यह
प्रयोग बहिक है—उसी प्रकार
आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करनेपर
जीव अद्वितीय, कृतारथ और शोक-
रहित हो जाता है । अन्य शाखाओं-
में जहाँ ‘तद्वात्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देही’
वेसा पाठ है । वहाँ भी यही अर्थ
है ॥ १४ ॥

योगतिब या तत्त्वज्ञाने स्थिति

कथं ज्ञात्वा वीतशोको भवति ?

इत्याह—

जिस प्रकार जानकर जीव
शोकरहित होकर है, सो धृति
वात्तमयी है—

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं

दीपोपमेनेह युक्तं प्रपश्येत् ।

अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ॥१५॥

जिस समय योगी तृपक्के समान प्रकारास्वरूप आत्ममात्रसे ब्रह्म-
तत्त्वका साक्षात्कार करता है उस समय उस अजन्मा, निश्चल और समस्त
तत्त्वोंसे विशुद्ध देवको जानकर वह सम्पूर्ण कर्मानोंसे मुक्त हो जाता है ॥१५॥

यदेति । यदा यस्यामवस्था
यामात्मतत्त्वेन स्वनात्मना । किं
विशिष्टेन ? दीपोपमेन दीपस्या
नीयेन प्रकाशस्वरूपेण ब्रह्मतत्त्वं
प्रपश्येत् । तुल्यबोधधारण ।
परमात्मानमात्मनैव जानीषादि
स्वर्थः । उक्तं च—“तदात्मान
मेनामदहं ब्रह्मास्मि” (षु० उ०
१।४।१०) इति । कीदृ-
शम् ! अन्यस्मादजायमान ध्रुवम
प्रप्युतस्वरूपं सप्ततत्त्वैर्विद्यात-
त्त्वैर्विशुद्धममसृष्टं ध्यात्वा देवं
ज्यते सर्वपापैर्विद्यादिभिः ॥१५॥

‘ध्यात्वा’ इत्यादि । जिस समय
अर्थात् जिस अवस्थामें आप्ततत्-
त्त्वे—अपने आत्मस्वरूपसे, जैसे
आत्मस्वरूपसे । दीपोपम—दीपक-
स्वामीय अर्थात् प्रकारास्वरूपसे ब्रह्म-
तत्त्वका साक्षात्कार करता है । यहाँ
‘तु’ शब्द निश्चयापक है । अतः
वास्तव्य यह है कि परमात्मको
आत्ममात्रसे ही जानना चाहिये ।
कहा भी है—“उसने आत्मको ही
जाना कि मैं ब्रह्म हूँ ।” जैसे ब्रह्मका
साक्षात्कार करता है ।—जो किसी
अन्यसे उत्पन्न नहीं हुआ, वह
अर्थात् अपने स्वरूपसे प्युत नहीं
होता और समूर्ण तत्त्वों यन्त्री
अविद्या और उससे कर्मासे विशुद्ध-
अमृतदृष्ट है उस देवको जानकर
जो अविद्यादि समस्त पापोंसे मुक्त
हो जाता है ॥ १-५ ॥

परमात्मस्वरूपस्य वर्णन

परमात्मानमात्मत्वेन विजानी
यादित्युक्त तदेव संभाव्य
न्नाह—

परमात्माको आत्मभावसे जाने—
यह कहा गया, अब उसीका
सम्भावन (सम्मान) करते हुए मन्त्र
कहाता है—

एष ह देवः प्रविशोऽनु सर्वाः

पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्त ।

स एव जातः स जनिष्यमाणः

प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुख ॥ १६ ॥

यह देव ही सम्पूर्ण दिग्ग-विदिशा है, यही [हिरण्यगर्भरूपसे]
पहले उत्पन्न हुआ था, यही गर्भके अन्तर्गत है, यही उत्पन्न हुआ है और यही
उत्पन्न होनेवाला है । यह समस्त जीवोंमें प्रतिष्ठित और सबतोमुख है ॥ १६ ॥

एष हेति । एष एव देवः
प्रदिशः प्राच्याया दिश उपदि
शम सवा पूर्वो ह जातः सर्व
साहिरण्यगर्भात्मना, स उ गर्भे-
ऽन्तवतमान , स एव जातः शिशुः,
स जनिष्यमाणोऽपि, स एव सर्वांश्च
जनान्प्रत्यङ् तिष्ठति, सर्वप्राणि
गतानि मुत्तान्यस्येति सर्वतो-
मुखः ॥ १६ ॥

एष ह इत्यादि । यह देव ही
प्रदिश अर्थात् पूर्वादि सम्पूर्ण दिग्ग
और उपदिशाएँ हैं, यह हिरण्यगर्भ-
रूपसे सबसे पहले उत्पन्न हुआ था,
यही गर्भके भीतर निवसमान है, यही
शिशुरूपसे उत्पन्न हुआ है, यही
उत्पन्न होनेवाला भी है, यही समस्त
जीवोंमें प्रत्यङ्—अन्तर्गतमरुतसे
स्थित है, समस्त प्राणियोंके मुख
इसकी हैं, इसीज्ये यह सबतोमुख
है ॥ १६ ॥

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तं प्रपश्येत् ।

अजं द्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं

ज्ञात्वा देवमुच्यते सर्वपाशैः ॥ १५ ॥

जिस समय योगी तैपक्के समान प्रकाशस्वरूप आत्मभावसे ब्रह्म-
तत्त्वका साक्षात्कार करता है उस समय उस अजन्म, निश्चल और समस्त
तत्त्वोंसे विशुद्ध ब्रह्मका जानकर वह सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

यदेति । यदा यस्यामवस्था
यामात्मतत्त्वेन स्वनात्मना । किं-
चिद्विद्येन ? दीपोपमेन दीपस्या
नीयन प्रकाशस्वरूपण ब्रह्मतत्त्व
प्रपश्यत् । तुल्यदाऽवधारण ।
परमात्मानमात्मनैव जानीयादि
त्यथ । उक्तं च—“तदात्मान-
मवावदहं ब्रह्मास्मि” (बृ० उ०
१ । ४ । १०) इति । कीदृ-
शम् ! अन्यस्माद्वायमानं ध्रुवम
प्रच्युतस्वरूप सयतत्त्वविधात-
त्त्वर्यविशुद्धमसंस्पृष्टं ज्ञात्वा देव
मुच्यते सर्वपाशैरविद्यादिभिः ॥ १५ ॥

‘यदा’ इत्यादि । जिस समय
अर्थात् जिस अवस्थामें आत्मतत्त्व-
से—अपन आत्मस्वरूपसे, कैसे
आत्मस्वरूपसे । दीपोपम—दीप-
स्थानीय अर्थात् प्रकाशस्वरूपसे ब्रह्म-
तत्त्वका साक्षात्कार करता है । यहाँ
‘तु’ शब्द निश्चयापक है । अतः
तात्पर्य यह है कि परमब्रह्मसे
आत्मभावसे ही जानना चाहिये ।
कहा भी है— उसने आत्मब्रह्म ही
जाना कि मैं ब्रह्म हूँ ।” कैसे ब्रह्मका
साक्षात्कार करता है !—जो किसी
अन्यसे उत्पन्न नहीं हुआ, ध्रुव
अर्थात् अपन स्वरूपसे च्युत नहीं
होता और सम्पूर्ण तत्त्वों यानी
अविद्या और उसके कार्योंसे विशुद्ध-
असंस्पृष्ट है; उस देवका जलकर
नाम अविद्याणि समस्त पाशोंसे मुक्त
हो जाता है ॥ १५ ॥

परमात्मस्वरूपस्य वर्णन

परमात्मानमात्मत्वेन विद्वानी-
यादित्युक्तं तदेव संभावय
न्नाह—

परमात्माको वाक्यमात्रसे जाने—
यह कहा गया, धम उसीको
सम्मान (सम्मान) करते हुए मन्त्र
कहता है—

एष ह देवः प्रविशोऽनु सर्वाः

पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्त ।

स एष जातः स जनिष्यमाण

प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुख ॥ १६ ॥

यह देव ही सम्पूर्ण विश्व-विदिशा है, यही [विरष्कार्मरूपसे]
पहले उत्पन्न हुआ था, यही गर्भके अन्तर्गत है, यही उत्पन्न हुआ है और यही
उत्पन्न होनेवाला है । यह समस्त जीवोंमें प्रतिष्ठित और सर्वसोमुख है ॥ १६ ॥

एष हेति । एष एव देवः
प्रदिशः प्राच्याद्या दिश उपदि
शस्य सवा पूर्वो ह जातः सर्व
साद्विरष्कार्मरूपमना, स उ गर्भे
ऽन्तर्वतमान , स एव जातः शिशुः,
स जनिष्यमाणोऽपि, स एव सर्वोद्य
जनाप्रत्यङ् तिष्ठति, सवप्राणि-
गतानि सुखान्यस्यति सर्वतो-
मुखः ॥ १६ ॥

“एष ह” इत्यादि । यह देव ही
प्रदिश अर्थात् पूर्वादि सर्व दिश
और उपदिशाएँ है, यह विरष्कार्म
रूपसे सबसे पहले उत्पन्न हुआ था,
यही गर्भके अन्तर्गत विद्यमान है, जो
शिशुरूपसे उत्पन्न हुआ है, जो
उत्पन्न होनेवाला है, समस्त
जीवोंमें प्रत्यङ्-कान्तकान्ते
स्वित है, समस्त प्राणि-
इसीरूप है, इत्यादि सर्वसोमुख
है ॥ १६ ॥

इदानीं योगवत्साधनान्तराणि ।
नमस्कारादीनि कृतव्यत्वेन दर्श-
यितुमाह—

अथ योगक सप्तान नमस्कारादि
अन्य साधनोंको भी कर्तव्यरूपसे
प्रदर्शित करनेके लिये कृति
कहती है—

यो देवो अमौ यो अप्सु यो विश्व मुवनमाविवेश ।

य आपधीपु यो धनस्पतिपु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १८ ॥

जो देव अग्निमें है, जो जलमें है और जिसने सम्पूर्ण मुवनको व्याप्त
कर रखा है तथा जो ओषधि और मनस्पतियोंमें भी विद्यमान है उस
देवको नमस्कार है, नमस्कार है ॥ १७ ॥

यो देव इति । यो विश्व
मुवनं स्वेन विरचित सप्तार
मण्डलमाविषश । य आपधीपु
दान्यादिषु धनस्पतिष्वथरथादिषु
तस्मै विश्वात्मने मुवनमूलाय
परमेश्वराय नमो नमः । द्विर्वच
नमादरार्थमभ्यायपरिसमाप्त्यर्थ
घ ॥ १७ ॥

यो देवो इत्यादि । जिसने
सम्पूर्ण मुवनको व्याप्त कर रखा
है, जो शक्ति आदि ओषधियोंमें और
अपत्यादि धनस्पतियोंमें भी विद्यमान
है उस विश्वात्मने—जगत्के मूल
कारण परमेश्वरको नमस्कार है,
नमस्कार है । धन 'शब्द'की द्विसक्ति
आदरके लिये और अभ्यायकी
समाप्तिके लिये है ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्राजि-भगवद्गीतादशोपनिषत्सु परमहंसपरिब्राजकवर्य

श्रीमच्छंकरभगवत्पादोक्ते श्वेताश्वतरोपनिषत्सु

द्वितीयोऽध्याय ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय

एक ही परमात्मामें सात्त्विक और सात्त्विकभावस्य समर्पन

कथमद्वितीयस्य परमात्मन
ईश्वरीशित्तव्यादिभावः ? इत्या
शङ्क्याह—

अद्वितीय परमात्मामें सात्त्विक और
सात्त्विक आदि भाव कैसे रह सकते
हैं ?—ऐसी आशङ्का करके श्रुति
कहती है—

य एको जालवानीशत ईशानीभिः सर्वाङ्गीकानी-
शत ईशानीभिः । य एवैक चद्रुवे सम्भवे च य एतद्वि-
दुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥

जो एक जाळवान् (मायावी) अपनी ईश्वरीय शक्तियोंसे शासन
करता है, जो अनेक ही ऐश्वर्यसे याग होनेपर और जगत्के प्रादुर्भावके
समय अपनी शक्तियोंसे संपूर्ण अनेकोंका शासन करता है, उसे जो जानते
हैं वे अन्न हो जाते हैं ॥ १ ॥

य एक इति । य एकः पर
मात्मा स जालवान् जाल माया
दुरत्ययत्वात् । तथा चाह भग
वान्—“मम माया दुरत्यया”
(गीता ७ । १४) इति । तद्वं-
त्तदस्यास्तीति जालवान्मायावी

‘य एको’ इत्यादि । जो एक
परमात्मा है वह जाळवान् है ।
दुस्तर होनेके कारण जाळ मायाका
नाम है । भगवान्ने भी ऐसा ही कहा
है कि ‘मेरी मायाको पार करना
फटिन है ।’ उस जाणसे जो मुक्त
है वह [परमात्मा] जाळवान् है ।
‘तद् अत्य अस्ति’ (वह उस्तक है) *
इस न्युत्पत्तिके अनुसार ‘जाळवान्’
शब्द सिद्ध होता है । जाळवान्

* अत्यस्त्यस्ति इति मयुर् (५ । २ । १४) इति अतिनिश्चयार्थं मयुर्
प्राप्य इति आनुप्रासिक मन्त्रेण (८ । २ । १) इति मयुर् अत्यस्त्य इति

स्पर्धः ईशत ईश्टे मायोपाधिः सन् ।

कै ? ईशनीभि स्वशक्तिभि ।

तथा चोक्तम्—ईशत ईशनीभिः

परमशक्तिभिरिति।कान्?सर्वाहंते-

कानीशत ईशनीभि । कदा ?

उद्भवे विमृष्टियोगे सम्मये प्रादु

र्भावे च । य एतद्विदुरमुवा

अमरज्जधर्माजो भवन्ति ॥ १ ॥

अर्थात् मायावी परमेश्वर मायोपाधिक

शोकर शासन करता है । किन्तु

द्वारा शासन करता है । [इसके

उत्तरमें कहते हैं—] 'ईशनीभि' अपनी

शक्तियोंके द्वारा । इसी आशयसे

यहाँ ऐसा कहा है—'ईशते ईश-

नीभि ।' 'ईशनीभि' अर्थात् अपनी

परम शक्तियोंके द्वारा शासन करता

है । किन्तु शासन करता है ! वह

उन शक्तियोंद्वारा सम्पूर्ण लोकोंको

शासन करता है । किन्तु सम्मय !

उद्भव—अर्थात् विमृष्टियों (एकियों)

से योग होनेपर और सम्मय जगत्के

प्रादुर्भाक्के सम्मय । जो इसे जानते

हैं वे अपृत—अमरज्जधर्मा (अमर)

हो जाते हैं ॥ १ ॥

कस्मात्पुनर्जलवान् ? इत्या

शङ्क्य आह—

किन्तु वह मायावी कैसे है ?

ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु

र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।

प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सचुकोचान्तकाले

ससृज्य विश्वा मुवनानि गोपाः ॥ २ ॥

क्योंकि एक ही रुद्र है, इसलिये [ब्रह्मदिश्य] उससे भिन्न किसी

अन्य वस्तुके लिये अपेक्षा नहीं करते । वह अपनी [ब्रह्मादि] शक्तियों-

द्वारा इन लोकोंको शासन करता है, वह सम्मय जीवोंके भीतर स्थित है,

वैर सम्पूर्ण लोकोंकी रचना कर उनका रक्षक होकर प्रकल्पकत्वे उन्हें संतुष्टित कर देता है ॥ २ ॥

एको हीति । द्विचन्द्रो यस्मा-
दर्धे । यस्मादेक एव रुद्रः स्वसो
न द्वितीयाय वस्तुनन्तराम तस्यु
प्रसन्ननिदः परमार्थदर्शिनः । उक्तं
च—एको रुद्रो न द्वितीयाय
तस्युरिति । य इमन्लोकानीकते
नियमयसीदनीभिः । सर्वोय अन-
न्तस्यन्तरः प्रतिपुरुषमवसिस्त ।
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यर्थ ।

एको हि इत्यादि । क्योंकि
एक ही रुद्र है, अतः परमार्थदर्श
प्रसन्नचित्तः सतः किन्ती दूसरी वस्तु
क श्रिये अपेक्षा नहीं करते । एवं
'हि' शब्द 'यस्मात्' (क्योंकि)
के अर्थमें है । इसीसे कहा है 'एक
रुद्रो न द्वितीयाय तस्यु ।' मैं
अपनी शक्तियोंद्वारा इन लोकोंक
शासन नियन्त्रण करता हूँ, य
सम्स्त जीवोंके भीतर अर्थात् प्रत्ये
पुरुषमें स्थित है । तात्पर्य यह
कि प्रत्येक रूपक अनुरूप में
रहा है ।

तथा यह अन्तःकाल यानी प्रकल्प
कालमें संतुष्टित करता है । क्या करके
सम्पूर्ण लोकोंकी रचना कर उनका
गोपा-रक्षक होकर । यहाँ यह कह
करा है कि परमात्मा अद्वितीय है
यह कुम्हारकी तरह मृत्पिण्डक
अपने-आपमें उपादान वस्त्ररूप
प्राप्त नहीं करता; तो फिर क
करता है ? यह अपनी शक्ति
धुन्ध करनसे ही अगत्स्य रक्षि
य निरन्तर पड़ा जाता है । अतः

किञ्च, संतुष्टोच अतःकाल
प्रलयकाले किं कृत्वा ? संतुज्य
विश्वा भुवनानि गापा गाप्ता
भूत्वा । एतदुक्तं भवति—अद्वि
तीयः परमात्मा, न चासौ कुम्भ-
कारणदात्मानं केवलं मृत्पिण्ड
स्थानीयमुपादानकारणमुपादत्ते ।
किं तर्हि ? स्वशक्तिविधेयं कुर्वन्मया
नियन्त्या चाभिर्भायत इति । उच्यते
मन्त्रस्यैव विराट्

तस्मिन् प्रतिपादयति ॥ २ ॥ | और उसके जगत्कर्तृत्वका प्रतिपादन करता है ॥ २ ॥

परमेष्ठरसे जगत्क्री सृष्टिश्च प्रतिपादन

विश्वतश्चाहुस्त

विश्वतोमुखो

विश्वतोघाहुस्त

विश्वतस्पात् ।

स बाहुभ्यां घमति सपतत्रै-

र्धात्राभूमी

जनयन्देव

एक ॥ ३ ॥

इस सब ओर नेत्रोंवाला, सब ओर मुखोंवाला, सब ओर मुनाओंवाला और सब ओर गैरोंवाला है । यह एकमात्र देव (प्रकृतशक्त परमात्मा) पुष्पक और पृथ्वीकी रचना करता हुआ [क्योंकि मनुष्य-पक्षी आदि प्राणियोंको] दो मुनाओं और पतत्रों (पैरों एवं पंखों) से युक्त करता है* ॥ ३ ॥

* इस मन्त्रके उत्तरार्द्धका अर्थ अम्बान्त्य ऋषिस्वरूपमें अनेक प्रकारसे किया है । प्रस्तुत अर्थ साङ्करमाप्यके अनुसार है । साङ्करान्त्यभी इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं— दद्यान्नां विश्वरुद्रादयन्मुत्पत्तिश्चते विविधा-स्रग्श-मुत्पद्योत्तरा-अदिरूपेण कराति । बाहुभ्यामिति द्विवचनस्यप्रत्यासत्तर्कमहेतुत्वात् घर्माभर्माभ्या-मिति विवक्षितम् । " सदापि घमतिरपिसंयोगार्थं दद्याति सन्त्ययश्चरित्त्वेन मुक्त-मुक्तयोस्तयोः स्थितौ संहारे च मुक्तदुःखकारिणं व्याख्येयम् । संपतत्रैः पतनशीलैः पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैर्न फमालुभिः " "घमतीत्यनुपपन्नः ।" अर्थात् यह हाथोंसे विश्वको उत्पन्न कर उसकी उत्पत्तिके समय उत्पन्न-उत्पन्नकारि रूपसे अनेक प्रकारके शब्द करता है । "बाहुभ्याम्" इस परमें द्विवचन है तथा हाथ समय का कर्मके हेतु होते हैं, इतन्मिने इस परसे 'घर्माभर्माके हाथ' यह अर्थ बतलाना अभीष्ट है । जिस समय 'घमति' क्रियाका अर्थ अभिसंयोग किया अब उस समय भी सन्त्ययश्चरक होनेके कारण मुक्त-मुक्तकी उत्पत्ति-स्थिति और संहारमें उनका मुक्त-मुक्तकारिण ही फलान्ता चाहिये । संपतत्रैः—पतनशील पञ्चीकृत महाभूतोंसे युक्त करता है, परमानुभूतोंसे नहीं । सन्त्ययनशील स्थितो हैं—"बाहुभ्यां विद्याकर्मणां संघमति-कारैः वाक्यरूपैः संघमति शीघ्रति शीघ्रनिद्रापाश्चर्यमन्त्रविधित्वात् सन्त्यय-

विश्वतश्चक्षुरिति । सर्वप्राणि
गतानि चक्षुष्यस्येति विश्वत-
श्चक्षुः । अतः स्वेच्छयैव सर्वत्र
चक्षु रूपादौ सामर्थ्यं विद्यत इति
विश्वतश्चक्षुः । पञ्चसु चरत्र योऽयं
नीयम् । सं वाङ्मन्यां धमति संयो-
जयतीत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्वात्
नाम् । पश्चिष्यश्च धमति द्विपदौ
मनुष्यादीन् पतत्रै । किं कुर्वन् ?
धावापृषिषी जनयन्देष एको
विराजं सृष्टवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

‘विश्वतश्चक्षुरिति’ इत्यादि ।
समस्त प्राणियोंके चक्षु इस परमेश्वर-
के ही हैं, इसलिये यह विश्वतश्चक्षु
है । अतः अपनी इच्छामात्रसे ही
इसमें सर्वत्र चक्षु यानी रूपादिको
प्राण करनेका सामर्थ्य है । इसी
प्रकार आगे [विश्वतोमुख आदिमें]
भी अपनी योजना कर लेनी चाहिये ।
यह दा मुत्राद्योद्गारा समुच्च करता
है, वातओंके अनेक वर्ण होते हैं
[इसीसे अग्निसंयोगक कर्ममें प्रयुक्त
होनेवाले धमति का वर्ण संयोजन
किया गया है] । तथा पक्षियों और
दो पैरोंवाले मनुष्यादिको पतत्रों
(पंखों और पैरों) से युक्त करता
है । क्या करता हुआ ! दुजेक
और शृषिषीकी सृष्टि करता हुआ ।
तात्पर्य यह है कि उस एकेश्वर
देवने विराट्की रचना की ॥ ३ ॥

संयोजयतीत्यर्थः । अर्थात् वाङ्—विद्या और कर्मज्ञान तथा पतत्र—वाङ्मन्याँवाप
संयोजयती—रहित करता है। अर्थात् शरीरनिष्ठ विद्या और कर्मादिके द्वारा ईश्वर आत्
को प्रयुक्त करता है । विश्वतश्चक्षुश्चक्षुः करते हैं—वाङ्मन्या मनुष्यादीन्संयोजयती
संयोजयती पतत्रैः पतत्रतापने। पतत्रैः संयोजयती धमत्वा पतत्रैः पतत्रैः पश्चि-
संयोजयती । अर्थात् यह मनुष्यादिको मुत्राद्योद्गारे युक्त करता है और पतत्र—पतत्रेक
वापन यानी पैरोंसे युक्त करता है । अथवा पतत्र यानी पक्षियोंके पक्षियोंको युक्त
करता है ।

१ अतः धमत्वा अर्थ है पतत्रसे कर्मानेवाप । अतः मनुष्योंके विषयमें
इतना अर्थ है कि समस्त प्राणियों और पक्षियोंके विषयमें पतत्र ।

परमेश्वरस्य स्तवन

इदानीं तस्यैव सूत्रसृष्टिं प्रति-
पादयन्मन्त्रद्वयमिष्टं प्रार्थयते—

अब उसी परमात्मकी हिरण्यगर्भ
सृष्टिकर प्रतिपादन करती हुई
श्रुति मन्त्रदर्शां श्रुतिपूर्वक वामिस्त
अर्पके छिये प्रार्थना करती है—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च

विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि ।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं

स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु ॥ ४ ॥

जो इन्द्र देवताओंकी उत्पत्ति तथा ऐश्वर्यप्राप्तिकर होता, जगत्पति और सर्वज्ञ है तथा जिसने पहले हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया था वह हमें शुभ बुद्धिसे संयुक्त करे ॥ ४ ॥

यो देवानामिति । यो देवा
नामिन्द्रादीनां प्रभवहेतुरुद्भव
हेतुश्च । उद्भवो विभूतिभोगः ।
विश्वस्वाधिपो विश्वाधिपः पात-
यिता । महर्षि —महाभासाहृषि-
मेति महर्षिः सर्वज्ञ इत्यर्थः ।
दितं रमणीयमत्युन्नतं ध्यानं
गर्भोऽन्तः सारा यस्य तं जनया
मास पूव सर्गादौ । स नोऽस्मान्
बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु । परम
पदं प्राप्नुवामिति ॥ ४ ॥

‘यो देवानाम्’ इत्यादि । जो
देवताओंकी अर्थात् इन्द्रादीकी
उत्पत्तिकर और उद्भवकर होता है ।
उद्भव विभूतिभोगको कहते हैं । जो
विश्वाधिप—विश्वकर स्वामी अर्थात्
पावन करनेवाला है, महर्षि—महान्
श्रुति यानी सर्वज्ञ है, दित—रमणीय
अर्थात् अत्यन्त उन्नत ध्यान विसरकर
गर्भ—अन्तःसार है उस [हिरण्य
गर्भ] की जिसने पहले—सृष्टिके
आरम्भमें रचना की थी वह हमें शुभ
बुद्धिसे संयुक्त करे; अर्थात् हम
परमपद प्राप्त करें ॥ ४ ॥

पुनरपि तस्य स्वरूपं दर्शयन्—
मिप्रेतमर्थं प्रार्थयते मन्त्रद्वयेन—

किर मी [आगेके] दो मन्त्रोंसे
उसके स्वरूपको प्रदर्शित करती हुई
श्रुति अभिप्रेत अर्पके किये प्रार्थना
करती है—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।

तयानस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ ५ ॥

हे रुद्र ! तुम्हारी जो मङ्गलमयी, शान्त और पुण्यकाशिनी मूर्ति है,
हे गिरिशन्त ! उस पूर्णानन्दमयी मूर्तिके द्वारा तुम [हमारी ओर]
देखो ॥ ५ ॥

या ते रुद्रेति । हे रुद्र तव या
शिवा तनूरघोरा । उक्तं च “तस्यैते
तनुवौ घोराण्मा शिवान्या” इति ।
अथवा शिवा श्रुत्याविद्यास्तस्कार्य
विनिर्मुक्ता सच्चिदानन्दाद्वयब्रह्म
रूपा न तु घोरा सच्चिद्विम्बमि-
वाहादिनी । अपापकाशिनी स्तु-
तिमात्राचनाशिनी पुण्याभिन्त्यक्ति-
करी । तयात्मना नोऽस्मान्मन्त्र-
मया सुखतमया पूर्णानन्दरूपया
हे गिरिशन्त गिरौ स्थित्वा सर्वं
सुखं वनोतीसि । अभिचाकशीहि

या ते रुद्र इत्यादि । हे रुद्र !
तुम्हारी जो मङ्गलमयी अघोरा (शान्त)
मूर्ति है । अन्वय ऐसा ही कहा भी
है—“उत्सृज्ये ये दो व्याकृतियों हैं,
एक घोरा है और दूसरी मङ्गलमयी” ।
अथवा [तुम्हारी जो मूर्ति] शिवा—
श्रुत्या यानी अविद्या और उसके
कर्मोंसे रहित सच्चिदानन्दाद्वितीय
ब्रह्मरूपा है, घोरा नहीं है, अपि तु
चन्द्रमण्डलके समान आह्लादकारिणी
है तथा अपापकाशिनी—स्मरणमात्र-
से ही पापोंका नाश करनेवाली
अर्पादपुण्यही अभिन्त्यक्ति करनेवाली
है, अपनी उस शान्तम—सुखतम—पूर्ण-
ानन्दस्वरूप मूर्ति (देह)से हे गिरिशन्त !
—गिरिमें रहकर सर्व—सुखका विचार
करनेवाले ! हमें देखो— हमारी ओर

अभिपश्य निरीक्षस्व भयसा नि | इष्टिपात करा अर्थात् हमें कल्याण-
योजयस्वेत्यर्थः ॥ ५ ॥ | पयसे युक्त करो ॥ ५ ॥

किञ्च—

| तप्त—

यामिषु गिरिशन्त हन्ते विमर्ष्यस्तवे ।

शिवां गिरित्र तां कुरु माहि*सी पुरुष जगत् ॥ ६ ॥

हे गिरिशन्त ! नीचोंकी ओर फेंकनेके छिये तुम अपने हाथमें जो
बाण धारण किये रहते हो, हे गिरित्र ! उसे मंगलमय करो किसी नीच
या जगत्की हिंसा मत करो ॥ ६ ॥

यामिषुमिति । यामिषुं गिरि
षु त हस्ते विभर्षिं धारयस्वस्तव
अने क्षेप्तुं शिवां गिरित्र गिरिं
त्रायत इति तां कुरु । मा हिंसीः
पुरुषमस्मदीयं जयदपि कृत्स्नम् ।
साकारं ब्रह्म प्रदर्शयेत्यभिप्रेतमर्थं
प्रार्थितवान् ॥ ६ ॥

यामिषुम् इत्यादि । हे गिरिशन्त !
तुम नीचोंकी ओर छोड़नेके छिये जो
बाण धारण किये रहते हो, हे
गिरित्र !—पर्वतकी रक्षा करनेके
कारण भगवान् गिरित्र हैं—उसे शिव
(मंगलमय) करो । हमारे किसी
पुरुषकी और सारे जगत्की भी हिंसा
मत करो ! यहाँ इस अभिप्रेत अर्थकी
प्रार्थना की है कि हमें साकार ब्रह्मके
दर्शन करावो ॥ ६ ॥

परमात्मतत्त्वे ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति

इदानीं तस्मै च कारमात्मना-

ब्रह्मान दर्शयन् ब्रह्मानादमृतत्व

माह—

अब उस परमात्माकी ही जगत्
के कारणरूपसे स्थिति दिखानेकी हुई
श्रुति ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति
दिखानेकी है—

तत पर ब्रह्मपर बृहन्त
 यथानिकाय सर्वभूतेषु गूढम् ।
 विश्वस्यैकं परिवेष्टितार-

मीश त ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥ ७ ॥

उस [पुरुषयुक्त जगत्] से परे जो ब्रह्म-हिरण्यगर्भसे उत्कृष्ट एवं
 म्रान् है, जो समस्त प्राणियोंमें उनके शरीरके अनुसार (परिच्छिन्नरूपसे)
 छिपा हुआ है तथा विश्वका एकत्रपर परिवेष्टा है उस परमेश्वरको जानकर
 जीरन्म भ्रम हो जाते हैं ॥ ७ ॥

ततः परमिति । ततः पुरुष
 युक्तान्जगत् पर कारणत्वात्कार्य
 भूतस्य प्रपञ्चस्य व्यापकमित्यर्थः ।
 अथवा तदा जगदात्मनो विराजः
 परम् । किं तद्ब्रह्मपरं बृहन्तं
 ब्रह्मणा हिरण्यगर्भपरं बृहन्तं
 महद्व्यापित्वात् । यथानिकाय
 यथाशरीरं सर्वभूतेषु गूढमन्तर
 बन्धित विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
 सर्वमन्तः कृत्वा स्वात्मना सर्वं
 व्याप्याबन्धितमीशं परमपरं
 ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥ ७ ॥

स्त परम् इत्यादि । जो
 उससे यानी पुरुषयुक्त जगत्से परे
 है अर्थात् कारण होनेसे अपने कार्य-
 मूत जगत्में व्यापक है, अथवा जो
 उससे—जगत्पर विद्युत्से परे है,
 वह क्या है ! इसके उत्तरमें श्रुति
 कहती है—ब्रह्मपरं बृहन्तम् । जो
 ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भरूप कार्यब्रह्म-
 से पर और व्यापक होनेके कारण
 बृहत्—म्रान् है । तथा जो समस्त
 प्राणियोंमें यथानिकाय उनके शरीर
 के अनुसार गूढ—अन्त स्थित है
 एवं विश्वका एकत्रपर परिवेष्टा है
 अर्थात् सबको जगत् भीतर बरके-
 अन्त स्वरूपसे समस्त व्यापक बरके
 स्थित है, उस ईश—परमेश्वरको
 जानकर जीर भ्रम हो जाते हैं ॥७॥

परमेश्वरः विषयमे ज्ञानीजनोके अनुभवश्च प्रदत्तः

इदानीमुक्तमर्थं ब्रह्मवितुं मन्त्र
 षडनुभवं दर्शयित्वा पूर्णानन्दा-
 द्वितीयब्रह्मपरिज्ञानादेश परम
 पुरुषार्थप्राप्तिर्नान्येनेति दर्शयति—
 अन्य किसी उपायसे नहीं—

वेदाहमेतं पुरुष महान्त
 मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ८ ॥

मैं इस अज्ञानातीत प्रकाशरूप महान् पुरुषको जानता हूँ । उसे ही जानकर पुरुष मृत्युको पार करता है, इसके सिवा परमपदप्राप्तिके कोई और मार्ग नहीं है ॥ ८ ॥

वेदाहमेतमिति । वेद जाने समत परमात्मानम् । अथैवं प्रत्य-
 गात्मान साधिजं पुरुष पूण
 महान्त सर्वसमत्वात् । आदित्य
 षण प्रकाशरूपं तमसोऽज्ञानात्
 परस्ताधमश्च विदित्वाति मृत्युमति
 मृत्युमत्येति । कस्मात् ? अस्मा-
 न्नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय
 परमपदप्राप्तये ॥ ८ ॥

वेदाहमेतम् इत्यादि । मैं उस परमेश्वरको जानता हूँ । यह जो प्रत्यक्षमा-साधी, पुरुष—पूर्ण और स्वरूप होनेसे महान् तथा आदित्यवर्ण—प्रकाशरूप एवं तमयानी अज्ञानसे अतीत है इसे जानकर जीव मृत्युको पार कर लेता है; कैसे कर लेता है ? क्योंकि परमपदप्राप्तिके लिये उससे भिन्न कोई और मार्ग नहीं है ॥ ८ ॥

कस्मात्पुनस्तमेव विदित्वाति
मृत्युमेति ? इत्युच्यते—

किन्तु जीव उसीको जानकर
मृत्युको कैसे पार कर सता है सो
बतअया जाता है—

यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चि

यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।

वृक्ष इव स्तम्भो दिव तिष्ठत्येक-

स्तेनेद् पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ६ ॥

जिससे उच्छ्रय और कोई नहीं है तथा जिससे छोट्य और बड़ा भी
कोई नहीं है वह यह अद्वितीय परमात्मा अपनी चोतनात्मक महिम्नमें
वृक्षके समान निश्चलमापसे स्थित है, उस पुरुषने ही इस सम्पूर्ण जगत्को
ब्याप्त कर रखा है ॥ ९ ॥

यस्मादिति । यस्मात्परं पुरु-
षात्परमुत्कृष्टमपरमन्यथास्ति, य-
स्मान्नाणीयोऽपुत्रं न ज्यायो
महत्तरं वास्ति । वृक्ष इव स्तम्भो
निश्चलो दिवि चोतनात्मनि स्वे
महिम्नि तिष्ठत्येकाऽद्वितीय पर-
मात्मा तेनाद्वितीयेन परमात्मनेदं
सर्वं पूर्णं नैरन्तर्येण ब्याप्तं पुरुषेण
पूर्वेण ॥ ९ ॥

यस्मात् इत्यादि । जिस
पुरुषसे उच्छ्रय अन्य कोई नहीं है,
तथा जिससे क्षणीयस्—न्यूनतर और
ज्यायस्—महत्तर भी कोई नहीं है
वह अद्वितीय परमात्मा दिवि अर्थात्
अपनी चोतनात्मक महिम्नमें वृक्षके
समान स्तम्भ—निश्चलमापसे स्थित है ।
उस अद्वितीय परमात्मा पूर्ण पुरुषने
इस सबको पूर्ण—निरन्तरतासे ब्याप्त
कर रखा है ॥ ९ ॥

इदानीं प्रश्नः पूर्वार्त्तिकार्य
कारणतो दर्शयन्द्धानिनाममृतत्व
मितरेषां च संसारित्व दर्शयति—

अब पहले बतअयी हुई प्रश्नकी
कारण-कारणता दिखानेकर युक्ति
धानियोंको अमृतत्व और अन्य सबका
संसारित्वकी प्राप्ति प्रदर्शित करती है—

ततो यदुत्तरतरं तद्वरूपमनामयम् य एतद्विदुर
मृतास्ते भवन्त्यधेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १० ॥

उस (कारण-मम) से जो उत्कृष्टतर है वह अरूप और अनाम
है । उसे जो जानते हैं वे धम्म हो जाते हैं, तथा अन्य दुःखको ही प्राप्त
होते हैं ॥ १० ॥

एत इति । एत इदं शब्दवाच्या-
व्यगत उत्तरं कारणं ततोऽप्युत्तर
कार्यकारणविनिर्मुक्तं प्रकृतौ
इत्यर्थः । तद्वरूप रूपादिरहितम्,
अनामयमाच्यात्मिकादितापत्रम-
रहितत्वात् । मयतद्विदुरमृतत्वेन
आहमसीत्यमृता अमरमधर्मास्ते
भवन्ति । अत्रेवरे ये न विदुस्ते
दुःखमेवापियन्ति ॥ १० ॥

‘एत’ इत्यादि । उससे अर्थात्
इदंशब्दवाच्य जगत्से उत्कृष्ट तो
उत्तम कारण है और उससे भी
उत्कृष्टतर कार्य-कारणमात्रान्य मम
ही है । वह अरूप—रूपादि
रहित और आच्यात्मिकादि विविध
तापोसे रहित होनेके कारण अनामय
(दुःखहीन) है जो इसे जानते
हैं अर्थात् अपने अमृतस्वरूपसे ‘मैं
यही हूँ’ ऐसा अनुभव करते हैं वे
अमृत—अमरधर्मा हो जाते हैं ।
और अन्य जो ऐसा नहीं जानते वे
दुःखको ही प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

इदानीं तस्यैव सर्वारमत्वं
वर्णयति—

एव धृति उसीकी सर्वारमत्वं
वर्णयती है—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।

सर्वव्यापी स भगवास्तस्मात्सर्वगतः शिव ॥ ११ ॥

वह भगवान् समस्त मुखोंवाला, समस्त शिरोच्छ्रय और समस्त
प्रायश्चित्त है, वह समूह जोके अन्त करणोंमें स्थित और सन्मार्गी
है; इसलिये सर्वगत और सर्वव्यापी है ॥ ११ ॥

सर्वाननेति । सर्वाप्या
ननानि शिरांसि प्रीवाभास्यति
सर्वाननशिरोप्रीव । सर्वाणां भूवा-
नां गुहाणां बुद्धौ श्वेत इति सर्वं
भूतगुहालयः । सर्वभ्यापी स
भगवानैश्वर्यादिसमष्टिः । उक्तं
च—

“ऐश्वर्यस्य समग्रस्य
धर्मस्य यश्च स भियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव
एष्यां भग इतीरया ॥”
(सि पु ५।५।७४)

भगवति यस्मादव तस्मात्
सर्वगतः शिवः ॥ ११ ॥

‘सर्वानन’ इत्यादि । समस्त मुख
शिर और प्रीवारँ इतीकी है
इसलिये यह सर्वाननशिरोप्रीव है ।
यह समस्त प्राणियोंकी गुहा—बुद्धि-
में शयन करता है इसलिये सर्वभूत-
गुहालय है । यह सर्वभ्यापी और
भगवान्—ऐश्वर्यादिकी समष्टिरूप
है । कहा भी है—“सन्म ऐश्वर्य,
धर्म, मश, श्री, ज्ञान वारवैराग्य—
इन छ क्य नाम भग है ।” भगवान्में
य सब णसे ही हैं इसलिये यह सर्वगत
और शिव (महात्करूप) है ॥ ११ ॥

किञ्च—

तच्च—

महान्प्रभुर्वै पुरुष सत्त्वस्यैव प्रवर्तकः ।

सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्यय ॥ १२ ॥

यह महान्, परमधर्म, शरीररूप पुरुषमें शयन कर नवात्म, इस
[सत्त्वस्थितिरूप] निमज्ज प्राप्तिके उद्देश्यसे अन्त करणको प्ररित धरन-
बाधा, मयस्य गामरु, प्रकाशस्वरूप और अभिनाशी है ॥ १२ ॥

महानिति । महान्प्रभु समर्थो
वै निधयन जगद्बुदयस्वितितंशारे
सत्त्वस्वान्त करणस्यैव प्रवर्तकः
प्रापिता । ऊर्मर्भूमदिस्य ? मुनिम-

‘महान्’ इत्यादि । यह महान्,
प्रभु अर्थात् ब्रह्मके उत्पत्ति, स्थिति
और संशरणमें निधय ही सनय और
सत्य यनी अन्त करणको प्ररफ है ।
विश्व प्रयोजनक उद्देश्यसे उनका

लामिमां स्वरूपावस्थाउत्थर्णां प्राप्तिं
परमपदप्राप्तिम् । ईशान ईशिता ।
न्योतिः परिशुद्धो विज्ञानप्रकाशः ।
अभ्ययोऽभिनाशी ॥ १२ ॥

प्रकर्तक है ।—इस स्वरूपावस्थिति-
रूप मुनिर्मल प्राप्ति यानी परमपदकी
प्राप्तिके उद्देश्यसे । तथा यह ईशान
—शासक, ज्योति—विशुद्धविज्ञान-
प्रकाशस्वरूप वीर अभ्यय—
अभिनाशी है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रं

पुरुषोऽन्तरात्मा

सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।

हृदा मन्वीशो मनसाभिकलुप्तो

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १३ ॥

यह अङ्गुष्ठमात्र, पुरुष, अन्तरात्मा, सर्वदा जीवोंके हृदयमें स्थित,
ज्ञानाधिपति एवं हृदयस्थित मनके द्वारा सुरक्षित है । जो इसे जानते हैं वे
अमर हो जाते हैं ॥ १३ ॥

अङ्गुष्ठमात्र इति । अङ्गुष्ठमा-
त्रोऽभिन्यक्तिस्यानहृदयमुपरिपरि
माणापेक्षया पुरुषः पूर्णत्वात्पुरि
क्षयनादा । अन्तरात्मा सर्वसा-
न्तरात्मभूतः स्थित । सदा
जनानां हृदये संनिविष्टो हृदय
स्थन मनसाभिकलुप्तः । मन्वीशो
ज्ञानशः । य एतद्विदुरमृतास्त
भवन्ति ॥ १३ ॥

‘अङ्गुष्ठमात्र’ इत्यदि । अपनी
अभिन्यक्तिके स्थान हृदयाकारके
परिमाणकी अपेक्षासे यह अङ्गुष्ठमात्र
है, पूर्ण अथवा शरीररूप पुरुष
क्षयन करनेके कारण पुरुष है,
अन्तरात्मा अर्थात् सबके अन्तरात्म-
स्वरूपसे स्थित है । सदा जीवोंके
हृदयमें स्थित है, हृदयस्थित मनके
द्वारा सुरक्षित है और मन्वीश—
ज्ञानाध्यक्ष है । जो इसे जानते हैं वे
अमर हो जाते हैं ॥ १३ ॥

परमेश्वरक सर्वात्ममात्र या विराट्-स्वरूपक वर्णन

पुरुषोऽन्तरात्मेत्युक्त पुनरपि
सर्वात्मानं दर्शयति—सर्वस्य
साव-मात्रत्वप्रदर्शनार्थम् । उक्तं
च—“अभ्यारोपापवादाभ्यां नि-
ष्प्रपञ्च प्रपञ्चयत” इति ।

यह परमेश्वर पुरुष एवं अन्तरात्मा
है—यह कहा गया, अब सबकी
तद्रूपता प्रदर्शित करनेके लिये श्रुति
मित्र भी उसका सर्वात्ममात्र प्रदर्शयती
है । कहा भी है “अभ्यारोप और
अपवादके द्वारा निष्प्रपञ्चको प्रपञ्चित
किया जाता है” इत्यादि ।

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात् ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १४ ॥

यह सहस्र शिर, सहस्र नेत्र और सहस्र शरणोवाळा है तथा पूर्ण है ।
यह भूमिको सब ओरसे व्याप्त कर अनन्तरूपसे उसका अधिकतम करके
स्थित है । [अथवा ऐसा अर्थ करना चाहिये कि नाभिसे ऊपर दश
अङ्गुल परिमाणवाले हृदयमें स्थित है] ॥ १४ ॥

सहस्राण्यनन्तानि क्षीपाण्य-
स्येति सहस्रक्षीपा । पुरुषः पूर्णः ।
एषमुत्तरत्र योजनीयम् । स भूमिं

इसके सहस्र अर्थात् अनन्त शिर
है इसलिये यह सहस्रशिरवाळा है ।
पुरुष अर्थात् पूर्ण है इसी प्रकार
आगेके विशेषणोंपर भी अर्थ कर लेना

१. अभ्यारोप और अपवाद ये वैदिकके पारिभाषिक शब्द हैं । किसी लक्ष्य
वस्तुमें अलक्ष्य पदार्थका भ्रम होना अभ्यारोप है, जैसे रज्जुमें सर्पकी भाविति; तथा
उक्त अलक्ष्य पदार्थके वाचनार्थक परमार्थ-लक्ष्यको प्रदर्शित कराना अपवाद है, जैसे
कल्पित लोके निरुत्तरवृत्त उक्तकी अधिष्ठानरूपा रज्जुका भ्रम । इसी प्रकार
निष्प्रपञ्च ब्रह्ममें लक्ष्यका आशय करके प्रपञ्चयतीतिही स्वस्व की जाती है और
प्रपञ्चके अर्थपरिहाय कुछ ब्रह्मका साक्षात्कार कल्पना करता है । परन्तु वस्तुका ये
दोनों प्रपञ्चके ही अन्तर्गत हैं, अलक्ष्य विस्मयन कुछ समझे तो किसी भी प्रपञ्चके
अभ्यारोप या अपवादका अर्थक्या ही नहीं है । इस प्रकार अभ्यारोप और अपवाद-
क द्वारा उक्त निर्दिष्टका विशेषणरूपसे ब्रह्मन किया गया है ।

शुवनं सर्वतोऽन्तर्बहिष इत्वा
 व्याप्यात्यतिष्ठदतीत्य शुवनं सम-
 धितिष्ठति । दशान्कुलमन्तमपार
 मित्यथ । अथवा नामेरुपरि दशा-
 कुलं हृदय तत्राधितिष्ठति ॥१४॥

चाहिये । * यह मूत्रि अर्थात् संसार
 को सर्वत — बाहर और भीतरसे
 व्याप्त करके संसारका भी अतिक्रमण
 करके स्थित है । दशाकुल अर्थात्
 अनन्त—अपाररूपसे । अथवा
 नामित्से ऊपर जो दश कुल
 परिमाणका हृदय है उसमें स्थित
 है ॥ १४ ॥

ननु सर्वात्मत्वे सप्रपञ्चं ब्रह्म
 सात्त्विकपतिरेकेनाभावादित्याह—

किन्तु सर्वात्मक होनेपर तो ब्रह्म
 सप्रपञ्च (सविशेष) सिद्ध होगा,
 क्योंकि उससे अतिरिक्त प्रपञ्चकी सत्त्व
 ही नहीं है, इसपर श्रुति कहती है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ १५ ॥

जो कुछ भूत और भविष्यत् है एक जो अन्नके द्वारा हृदिको प्राप्त
 होता है वह सब पुरुष ही है, तथा वही अमृतत्व (मुक्ति) का भी
 प्रभु है ॥ १५ ॥

पुरुष एवदमिति । पुरुष एवदं
 सर्वं यदन्नेनातिरोहति यदिदं
 दृश्यते वर्तमानं यद्भूतं यच्च भव्यं
 भविष्यत् । किञ्च—उतामृतत्व

‘पुरुष एवदम्’ इत्यादि । यह
 जो अन्नसे भक्षण है तथा यह जो
 कामान्दियायी देता है तथा जो
 कुछ भूत और भविष्यत् है वह सब
 पुरुष ही है । इसके सिवा, वह
 अमृतत्वका ईशान है अर्थात् अमरण-

* अर्थात् वहस पानी अन्नत आधि (नेत्र) और पाद (कर्ण) इन्नेके
 अरत्न का उदसाध और उदसपाद है ।

स्येज्ञानोऽमरणधर्मत्वस्य कैवस्य
स्येज्ञानः । यच्चान्नेनातिरोहसि
यद्वर्तते तस्येज्ञानः ॥ १५ ॥

धर्मत्व यानी कैवल्यापदका भी प्रमु
है । तथा जो अमसे बढ़ता है, जो
विष्मान है उसका यह स्थानी
है ॥ १५ ॥

पुनरपि निर्विश्वं प्रतिपाद-
यितुं दर्शयति—

फिर भी उसको निर्विश्व प्रति-
पादन करनेके लिये धृति दिखलती
है—

सर्वत पाणिपाद तत्सर्वताऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वत श्रुतिमल्लोके सवमावृत्य तिष्ठति ॥ १६ ॥

उसके सब ओर हाथ-पोंव हैं, सब ओर आँख, शिर और मुख हैं
तथा यह सत्रय कर्मोच्छ्र है एवं ओकमें सबको व्याप्त करके स्थित है ॥ १६ ॥

सर्वत इति । सर्वत
पाण्यः पादाभति सर्वत
पाणिपादं तत् । सर्वतोऽधीणि
क्षिरांसि मुखानि च यस्य तत्सर्व
ताऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वत भुति
भवमस्येति धृतिमत् । लोके
प्राणिनिक्षय सर्वमावृत्य सम्प्रा-
प्य तिष्ठति ॥ १६ ॥

‘सर्वत इत्यादि । उसके सब
ओर हाथ-पोंव हैं इसलिये यह सर्वत -
पाणिपाद है, तथा सब ओर आँख,
शिर और मुख हैं इसलिये सर्वतो
ऽक्षिशिरोमुख है । उसके सब ओर
धृति—कर्ण हैं इसलिये यह सर्वत
धृतिमान् है । तथा यह ओकमें
अर्थात् प्राणिसमूहमें सबको व्याप्त
—व्याप्त करके स्थित है ॥ १६ ॥

आत्माके देहावस्थान आर इन्द्रिय-सम्बन्धराहित्यस्य निरूपण

उपाधिभूतपाणिपादादीन्दि

याभ्यारापणान्द्रयस्य तद्व्याप्य

मा भूदित्येवमर्थमुच्यते मन्त्रः—

उपाधिभूत पाणिपादशक्ति अध्या-
रोपसे एसी आराह्य न हो जाय कि
इय (मद्य) उनसे मुक्त है इसी
प्रयोजनसे आगेचा मन्त्र है—

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

सर्वस्य प्रमुमीशान सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ १७ ॥

यह समस्त इन्द्रियवृत्तियोंके रूपमें व्यक्त होना हुआ भी समस्त इन्द्रियोंसे रहित है, तथा सबका प्रभु, शासक और सबका आश्रय एवं शरण है ॥ १७ ॥

सर्वेन्द्रियेषु । सर्वाणि च तानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्तःकरणपर्यन्तानि सर्वेन्द्रियग्रहणेन गृह्यन्ते । अन्तःकरणबहिष्करणोपाधिभूतः सर्वेन्द्रियगुणैरभ्यवसायसकल्पभवथादिभिर्गुणवदाभासत इति सर्वेन्द्रियगुणाभासम् । सर्वेन्द्रियैर्भ्यापृतमित्यन्वयेमित्यर्थः । “भ्यापयतीव खेलायतीव” (पृ० उ० ४।३।७) इति श्रुते । कस्मात्पुनः कारणचद्रुपापृतमित्यति गृह्यत इत्याह— ‘सर्वेन्द्रियविवर्जितम्’ सर्वकरणरहितमित्यर्थः । अतो न च कारणभ्यापारैर्भ्यापृतं तन्मयम् ।

‘सर्वेन्द्रिय०’ इत्यादि । श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे लेकर अन्तःकरणपर्यन्त जो समस्त इन्द्रियों हैं वे सर्वेन्द्रियपदके ग्रहणसे गृहीत होती हैं । अन्तःकरण और बाह्यकरण बिसुकी उपाधि हैं यह परमेश्वर उन समस्त इन्द्रियोंके अभ्यवसाय, संकल्प एवं भक्षण इति गुणोंसे गुणवन्-सा भासता है । इसलिये यह सर्वेन्द्रियगुणाभास है । तात्पर्य यह है कि उसे समस्त इन्द्रियसे भ्यापारयुक्त-सा जानना चाहिये, जैसा कि “भ्यान करता हुआ-सा, घेद्य करता हुआ-सा” इत्यादि श्रुतिसे प्राप्त होता है । किन्तु यह किन्तु कारणसे भ्यापारयुक्त-सा ग्रहण किया जाता है [अन्तरमें भ्यापार करता है—ऐसा क्यों नहीं माना जाता ?] इसपर श्रुति कहती है—‘सर्वेन्द्रियविवर्जितम्’ अर्थात् यह समस्त इन्द्रियोंसे रहित है । अतः उसे इन्द्रियोंके भ्यापारोंसे भ्यापारवान् नहीं जानना चाहिये ।

सर्वस्य अगतः प्रभुमीशानम् ।
सर्वस्य शरणं परायणं बृहत्कारणं
च ॥ १७ ॥

यह सम्स्त जगत्का प्रभु और
शासक है तथा सबका शरण—
आश्रय और बृहत्-कारण है ॥ १७ ॥

किञ्च—

तथा—

नवद्वारे पुरे देही हृत्सो लेलायते वहिः ।

वशी सर्वस्य लोकस्य स्यादस्य चरस्य च ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण स्वप्न-जगत्का स्वामी यह हंस (परमात्म) देहा-
भिम्बनी होकर नव द्वारवाले [देहस्य] पुरमें बाह्य विर्योक्तो प्रहण
करनेके लिये चेष्टा करता है ॥ १८ ॥

नवद्वार इति । नवद्वारे शिरसि
सप्तद्वाराणि द्वे अवाची पुर देही
विद्वानात्मा भूत्वा कार्यकरणो-
पाधि सन्तस परमात्मा इन्त्य-
त्रियात्मकं कार्यमिति, लेलायते
चठति वहिर्विषयग्रहणाय । वशी
सर्वस्य लोकस्य स्यादस्य चरस्य
च ॥ १८ ॥

नवद्वारे इत्यदि । [दो
बॉक्स, दो माफ, दो मग्न और
एक मुक्त-हृत्] सप्त शिरके और
[गुदा एवं शिख] दो निम्न
मग्नके इस प्रकार नौ द्वारवाले
शरीरमें देही—विद्वानात्म यानी भूत
और इन्द्रियरूप उपाधिपात्र होकर
यह हंस—परमात्म बाह्य विर्योक्तो
प्रहण करनेके लिये चेष्टा करता—
पठता है । यह अविद्याजनित कायका
हन्त करता है इसलिये हंस है । तथा
यह स्वप्न जगत् सम्स्त क्षेत्रका
वशी (स्वामी) है ॥ १८ ॥

ब्रह्मण्य निर्विशेष रूप

एव तावत्सर्वात्मकं ब्रह्म प्रति
पादितम् । इदानीं निर्विकारा
नन्दस्वरूपेष्वानुदिष्टानस्वमित्तज्ञा-
नात्मनाषस्वितं परमात्मानं दक्ष
यितुमाह—

अपाणिपादो ज्वनो ग्रहीता

पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण ।

स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्ति वेत्ता

तमाहुरग्न्य पुरुष महान्तम् ॥ १९ ॥

बह हाथ-पाँवसे रहित होकर भी वेगवान् और ग्रहण करनेवाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है और कर्णरहित होकर भी सुनता है । यह सम्पूर्ण वेद्यकर्त्ता जानता है, किन्तु उसे जाननेवाला कोई नहीं है । उसे [श्रियोंने] सबको व्याप्ति, पूर्ण एव महान् कहा है ॥ १९ ॥

अपाणिपाद इति । नास्य

पाणिपादावित्यपाणिपादः ।

ज्वना दूरगामी । ग्रहीता पाप्य

माधऽपि सर्वग्राही । पश्यति सर्वं

मचक्षुरपि सन् । शृणोत्यकर्णो-

ऽपि । स वेत्ति वेद्यं सवद्वत्त्वाद्

मनस्काऽपि । न च तस्यास्ति

वेत्ता “नान्याऽवाऽस्ति वेत्ता”

इस प्रकार यहैतक ब्रह्मका सर्वात्म-
मावसे प्रतिपादन किया गया, अब
अपने निर्विकार विद्यानन्दस्वरूपसे
तथा कभी उदित एवं अस्त न होनेवाले
ज्ञानस्वरूपसे स्थित परमात्मको
प्रदर्शित करनेके लिये धृति कहती है—

‘अपाणिपाद’ इत्यादि । इसके

पाणि और पाद नहीं हैं, इसलिये

यह अपाणिपाद है । [पैर

न होनेपर भी] ज्वन—दूरगामी

है और ग्रहीता—हाथ न होने-

पर भी सबको ग्रहण करनेवाला

है । यह नेत्रहीन हानपर भी सबको

देखता है, कर्णहीन होनेपर भी

सुनता है और अमनस्क हानपर भी

सबको होनेक कारण सबकीजानता

है । किन्तु यह उसे जाननवाला

नहीं है, जैसा कि “इत्येताश्चतरोपनिषद्”

(सृ० उ० ३।७।२३) इति श्रुतेः ।
तमाहुरग्रथ प्रथम संवकारणत्वा-
त्युरूप पूर्ण महान्तम् ॥१९॥

कोई प्रथम नहीं है' इस श्रुतिसे सिद्ध
होता है । उसे [श्रुतियोंसे] संवकारण
कारण होनेसे अल्प-प्रथम और पुरुष
-रूप एवं महान् कहा है ॥१९॥

आत्मज्ञानसंज्ञोक्तिश्रुतिश्च निरूप्य

किञ्च—

तथा—

अणोरणीयान्महतो

महीया

नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तो ।

तमक्रतुं

पश्यति

धीतशोको

घातु प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ २० ॥

यह अणुसे भी अणु और महान्से भी महान् आत्मा इस जीवके
अन्त परणमें स्थित है । उस विन्यभोगसंस्पर्शरूप महिमानय आत्माको
जो विधातृकी इमान्से इन्द्ररूपसे देखता है यह शोकरहित हो
जाता है ॥ २० ॥

अणोरणीयानिति । अणो
सूक्ष्मादप्यणीयानधुतर । महतो
महत्त्वपरिमाणा महीयान्महत्तर ।
स आत्मास्य अन्तर्प्रदादि
स्वम्यपयन्तस्य प्राणिजातस्य
गुहायां हृदये निहित आत्मभूत
स्थित इत्यर्थ । तमात्मानमक्रतु
विषयभागसंस्पर्शरहितमात्मना

'अणोरणीयान्' इत्यादि । अणु
अर्थात् सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर, महत्-
[आन्तरशास्त्रि] महत्त्वयुक्त परिमाणों-
से भी महत्तर—एमा जा अणुना है
यह इस जीवके अर्थात् मन्नासे
स्पर्श सम्बन्धित सभी प्राणियोंके
गुहा—हृदयमें निहित है अर्थात्
उनका स्पर्शभूत हृदय स्थित
है । जो पुरुष अक्रतु—विन्य-
भोगके संकल्पसे रहित मन ही

महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिस्य
 रक्षितमीशं पञ्चमत्ययमहमस्मीति
 साक्षात्वा नाति य स वीर्यशोको
 भवति । केन चर्षसौ पश्यति ?
 भद्रुरीश्वरस्य प्रसादात् । प्रसन्ने
 हि परमेश्वर उद्याधारम्भङ्गान-
 सुत्ययते । अथवेन्द्रियाणि धस्तवः
 शरीरस्य धारणाचेपां प्रसादा-
 द्दियमदोषस्पर्शनमलाद्यपनयनात् ।
 अन्यथा दुर्बिज्ञेय आत्मा कामिधिः
 प्राकृतपुरुषैः ॥ २० ॥

महिमान्वितस्वरूप और कर्मके कारण
 होनेवाले वृद्धि एवं क्षयसे रक्षित ईश्वर
 रूप उस आत्माको देखता है, क्योंकि
 'प्यही मैं हूँ' इस प्रकार साक्षात् जानता
 है, वह शोकादि हो जाता है। किन्तु
 वह देखता किस्मकी स्यामत्वासे है ?
 [इसपर कहते हैं—] निधाता यानी
 ईश्वरकी कृपासे, क्योंकि ईश्वरके प्रसन्न
 होनेपर ही उसके वास्तविक स्वरूप-
 का ज्ञान होता है। अथवा शरीरको
 धारण करनेके कारण इन्द्रियों ही भङ्ग
 हैं, उनके प्रसाद यानी विषयोंमें दोष-
 दर्शनके द्वारा मन्मथिकी निवृत्ति
 होनेपर उसे देखता है, अन्यथा
 सक्रम प्राकृत पुरुषोंके जिये छे
 आत्मा दुर्बिज्ञेय ही है ॥ २० ॥

आत्मस्वरूपके विकर्मों ब्रह्मवेद्यान्व अनुभव

उक्तमर्थं ब्रह्ममितुं मन्त्रद्वयानु-
 भवं दर्शयति—

उपर्युक्त अर्थको पुष्ट करनेके लिये
 धृति मन्त्रप्रदायका अनुभव दिखानी है—

वेदाहमेतमजर

पुराण

सर्वात्मान सर्वगतं विमुक्त्वात् ।

जन्मनिरोध प्रवदन्ति यस्य

ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥ २१ ॥

१ अथवासे केन्द्र ओ स्पष्टम्ब है वह मूर्ध्ने पादप्रखण्डान् पठ मानस्य
 श्री मयी है ।

ब्रह्मवेद्यालोग जिसके जन्मका अभाव बतलते हैं और जिसे नित्य कहते हैं, उस अशून्य पुरातन सर्वात्मको, जो त्रिभु होनेके कारण सर्वगत है, मैं जानता हूँ ॥ २१ ॥

वेदाइमेतमिति । वेद जाने ऽहमेतमन्वर विपरिणामधर्मवर्जितं पुराण पुरातन सर्वात्मानसर्वेषा मात्ममूर्तं सर्वगतं विभुत्वादाकाश- ब्रह्मपापकत्वात् । यस्य च अन्म निरोधमुत्पश्यमात्प्रवदन्ति ब्रह्म वादिनो हि नित्यम् । स्पष्टोऽर्थः ॥ २१ ॥

वेदज्ञानतम् इत्यादि । इस अन्तर अर्थात् विपरिणामधर्मशून्य और पुराण—पुरातन सर्वात्मको सबके स्वरूपभूतको, जो त्रिभु—आकाशके समान व्यापक होनेके कारण सर्वगत है तथा ब्रह्मवेद्यालोग जिसके जन्म-का अभाव नित्य बतलते हैं, मैं जानता हूँ। शेष अर्थ स्पष्ट है ॥ २१ ॥*

इति श्रीमद्भोविन्दभक्तसूक्तपादशिष्यपरमहंसपरिषद्ब्रह्मचार्य-
श्रीमच्छाङ्ख्यमगलप्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये
तृतीयोऽध्याय ॥ ३ ॥

* श्रीमद्भक्तसूक्तपाद इति मन्त्रके उत्तरार्धकी व्याख्या इत प्रकार की है—'अन्म च निरोधश्च अन्मनिरोधमुत्पद्यिनादावित्यर्थे प्रवदन्ति प्रकरोव कथयन्ति मूढा इति शेषः, यस्य आत्मनाः " ब्रह्मवादिनः उत्पद्यतां कदाचित्प्रय दि प्रतिज्ञाः प्रवदन्ति प्रकरोव कथयन्ति नित्यम् ।' अर्थात् 'अन्म और निरोधका नाम अन्मनिरोध है यानी उत्पत्ति और नाश—इन्हें मूढक्येम किंतु आत्माके कथयते हैं और जिसे ब्रह्मवादीयोग—किन्हीं लक्षणावात्कार से मग्य है नित्य प्रतिपादन करते हैं ।' भाष्यकी अवेधा यह अर्थ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है क्योंकि भाष्यके अनुच्छर अथ करनेसे यहाँ 'प्रवदन्ति' क्रियाका वृत्ती बार प्रयोग होनेका अर्थ प्रयोगन नहीं जान पड़ता ।

चतुर्थ अध्याय

परमेश्वरसं सद्बुद्धिके लिख्य प्रार्थना

गहनत्वादस्वार्थस्य भूयो भूयो	[प्रस्तुत] विन्ध्य गम्भीर होनेके
शक्तव्य इति चतुर्थोऽध्याय	करण इसका पुन-पुन निरूपण
आरम्भत—	करना वागम्यक है, इसलिये वह
	चतुर्थ अध्याय आरम्भ किय
	जाता है—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगा

द्रोणाननेकान्निहितार्थो वधाति ।

वि वैति चान्ते विश्वमादौ स देवः

स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु ॥ १ ॥

सृष्टिके आरम्भमें जो एक और निर्विशेष होकर भी अपनी शक्तिके द्वारा विना किसी प्रयाजनके ही नाना प्रकारके अनेकों कर्ण (विशेष रूप) धारण करता है तथा अन्तमें भी अन्तमें विश्व छिन हो जाता है वह प्रकृत-सरूप परमात्मा हमें शुभ बुद्धिसे संयुक्त करे ॥ १ ॥

य एक इति । य एकोऽदि
तीयः परमात्मावर्णा जात्वादि
रहितो निर्विशेष इत्यर्थः । बहुधा
नानाशक्तियोगाद्रोणाननेकाभि-
हितार्थोऽगृहीतप्रयोजनः स्वार्थ
निरपद्य इत्यर्थः । वधाति विदधा-

व्य एको' इत्यादि । जो
परमात्मा सृष्टिके आरम्भमें एक—
अद्वितीय और अमग—जानि
छादिसे रहित अर्थात् निर्विशेष
होनपर भी शक्तिके योगसे निर्विशेष
—कई प्रयाजन न लेकर अर्थात्
स्वार्थकी अपेक्षा न करके बहुधा—
नाना प्रकारके अनेकों कर्ण (विश्व-

त्पादौ । वि चैति न्येति चान्ते
प्रलयकाले । चक्षुष्यामध्येऽपि
यस्मिन्निर्ज्वलं स द्वयो घातनस्र-
भावो विद्वानैकरस इत्यर्थः । स
नोऽस्माच्छुभया बुद्ध्या संयुक्त-
संयोजयतु ॥ १ ॥

रूप) धारण करता है तथा कर्ममें
—प्रलयकालमें जिसमें विश्व स्थान
हो जाता है । 'आन्ते' के 'च' शब्द
से यह तात्पर्य है कि मध्यमें भी
जिसमें विश्व स्थित है वह देव—
प्रकाशस्वरूप अर्थात् विद्वानैकरस
परमात्मा हमें गुण बुद्धिसे संयुक्त
करे ॥ १ ॥

परमात्मा की स्वरूपता

यस्मात्स एव स्रष्टा तस्मिन्नेव
लयस्तस्मात्स एव सव न तता
विभक्तमस्तीत्याह मन्त्रप्रयण—

क्योंकि वही जगत्का रचयिता
है और उसीमें उसका अन्त होता है,
अतः वही स्वरूप है, उससे भिन्न
कुछ भी नहीं है—यह बात आगेक
कीन मन्त्रोंसे कही जाये है—

तदेशाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद् चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदापस्तत्रजापति ॥ २ ॥

वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही
शुक्र (बुध) है वही ब्रह्म है वही प्रजापति है ॥ २ ॥

तदवति । तदवात्मवत्त्वमपि ।

तदादित्य । एवञ्च सर्वत्र
सब्रह्मते तदव शुक्रमिति दत्त
नात् । द्रवमृत् । तदव दत्त

तदेषाग्नि इत्यादि । यह
जाततत्त्व ही अग्नि है, वही सूर्य
है । अतो 'तदेव शुक्रम्' एवा दत्त
जाय है इसप्रकार 'एव' शब्द
सबके साथ सम्बन्ध है । तदव अप
सम्बन्ध है । वही ब्रह्म एकीकृत है

शुद्धमन्यदपि दीप्तिमन्मन्त्रादि । तया धीर भी जो दीप्तिशाली
 नक्षत्रादि पदार्थ हैं वह भी कही है,
 तद्वद्मन्त्रादिरभ्यगर्भरिमा तदापः स तया कही मन्त्र—हिरण्यगर्भरिमा
 है, कही मन्त्र है और कही विरुद्
 प्रनापतिर्विराडात्मा ॥ २ ॥ रूप प्रनापति है ॥ २ ॥

त्वं स्त्री त्व पुमानसि त्व कुमार उत वा कुमारी ।
 त्व जीर्णो दण्डेन वक्षसि त्व जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥

द स्त्री है, द पुत्र है, द ही कुमार या कुमारी है और द ही दण्ड
 होकर दण्डके सहारे बध्ना है तथा द ही [प्रपञ्चरूपसे] उत्पन्न होने
 पर अनेकरूप हो जाता है ॥ ३ ॥

स्पष्टो मन्त्रार्थः ॥ ३ ॥ । इस मन्त्रका अर्थ स्पष्ट है ॥ ३ ॥

नील पतङ्गे हरितो लोहिताक्ष
 स्तब्धिर्भ्रम शतम् समुद्राः ।
 अनाविमत्त्वं विमुत्वेन वर्तसे
 यतो जातानि मुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

द ही नीलरंग भ्रम, हरितवर्ण एवं लाल आँखोंवाला जीव (सुकृष्टि
 निरुद्ध प्राणी), मेघ तथा [घीम्यदि] श्वेत और [सत] समुद्र है ।
 द अनादि है और सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है तथा सुष्ठुहीसे मन्त्रगुण अनेक
 उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥

नील इति । त्वमवति सर्वत्र 'भीउ' इत्यादि । यहाँ स्वमेव
 सपश्यत । त्वमय नील पतङ्गा (द ही) इस पदका सबके साथ
 सम्बन्ध है । द ही नीलवर्ण पतङ्ग—

अमरः, पतनाद्गच्छतीति पतङ्गः ।
 हरितो लोहिताक्षः शुक्रादि
 निकृष्टाः प्राणिनस्त्वमेवेत्सर्धः ।
 तद्विद्रुर्मो मेष श्रुतव समुद्रा ।
 बसात्त्वमेष सर्वसात्मभूतस्त-
 सात्त्वनादिस्त्वमेव त्वमेवाद्यन्त
 घ्न्यः, विद्रुत्वेन व्यापकत्वेन
 असौ ज्ञानानि भुवनानि विश्वानि
 ॥ ४ ॥

अमर है । नीचे गिरते चक्नेके कारण
 अमरको पतङ्ग कहते हैं । व ही
 हरित लोहिताक्ष है, अर्थात् शुक्रादि
 निकृष्ट प्राणिवर्ग भी व ही है । व
 ही तद्विद्रुर्मो—मेष, श्रुत एवं समुद्र
 है । इस प्रकार क्योंकि व ही सब
 का आत्मा है इसलिये व अनादि
 है—तेरा आदि वीर अन्त नहीं
 है, जिससे कि त्रिभु अर्थात् व्यापक
 होनेके कारण, सम्पूर्ण मुक्त उत्पन्न
 हुए हैं ॥ ४ ॥

प्रकृति और जीके सम्बन्धका विचार

इदानीं त्वेवोऽथमलक्षणं प्रकृतिं
 छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धामञ्जरूप
 कल्पनया दर्शयति—

अब छान्दोग्योपनिषद्में प्रसिद्ध
 त्वेव, अप् और अनरूपा प्रकृतिको
 भृति अजरूपसे कल्पित करके
 दिखवाती है—

अजामेकां

लोहितशुक्रकृष्णां

यद्भीः प्रजा सृजमानां सरूपाः ।

अजो

द्वेको

जुपमाणोऽनुशेते

जहात्येनां मुक्तभोगामजोऽन्य ॥ ५ ॥

अपने अनुरूप बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करनेवाली एक अजेत, शुक्र लोहित
 कृष्णवर्ण अजा (बकरी—प्रकृति) को एक अज (बकरा—जीव) सेवन करता
 हुआ भोगता है और दूसरा अज उस मुक्तभोगको त्याग देता है ॥ ५ ॥

अजामेकामिति । अर्थां प्रकृतिं
 लोहितशुक्लकृष्णां तेजोऽवमसद्यणां
 बन्धीः प्रजा सुवमानामुत्पाद
 यन्तीं ध्यानयोगानुगतदृष्टां देवा
 रमदशक्तिं वा सरूपाः समानाकारा
 अर्थां ह्यक्ष विज्ञानात्मानादिक्रम-
 क्रमविनाशितः स्वयमात्मानं
 मन्थमानो शुपमाणः सेवमानो-
 ऽनुष्ठेत् ममत् । अन्य आचार्योप
 दक्षप्रकाशावसादिताविद्या धकारो
 जहाति स्पन्दति ॥ ५ ॥

‘अजामेकाम्’ इत्यादि । सरूपा
 —एक समान आकारवाची बहुव-
 ची प्रजा उत्पन्न करनेवाली ओदित-
 शुक्ल-कृष्ण—तेज, अप् धीर अन्-
 रूपा अर्था—प्रकृतिको अपना ध्यान-
 योगमें स्थित ब्रह्मचरियोंद्वारा देखी
 गयी दृश्यात्मकिकर एक अर्ज—
 निदानात्मा, जो अर्थां काम धीर
 कर्मद्वारा सरूपसे भद्र कर दिया
 गया है, इस प्रकृतिको ही अर्था
 स्वरूप मन्थकर सेक्त करता हुआ
 भोगता है धीर दूसरा गुरुदेवके
 उपदेशरूप प्रकाशसे अविद्यान्धकार
 के नष्ट हो जानेके कारण इसे छोड़
 देता है ॥ ५ ॥

धीर धीर ईश्वरकी विलक्षणता

इदानीं सूत्रमूतौ परमार्थ-
 वस्त्वधधारणार्थमुपन्यस्येते—

अथ परमार्थतत्त्वका निश्चय
 करनेके लिये दो सूत्रमूत मन्थन
 उल्लेख किया जाता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया

समान वृक्ष परिपस्वजाते ।

तयोरन्य पिप्पल स्वाद्द्रव्य

नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ६ ॥

सद्य परस्पर निम्बर रहनेवाले दो सखा (समान नामवाले)
 वृक्ष (सुन्दर गलियाले पक्षी) एक ही वृक्षकी आश्रित किये हुए हैं ।

उनमें एक उसके स्वादिष्ट फलोंको भोगता है और दूसरा उन्हें न भोगता हुआ देखता रहता है ॥ ६ ॥

इति । इा इौ विद्वानपरमात्मानौ । सुपणा सुपणा गुभनपतनौ शोभनगमनी सुपर्णा पक्षिसामान्याश्च सुपर्णा सयुजा सयुजौ सर्वदा सयुक्तौ । सत्त्वाया सत्त्वाया समानाख्यानी समा नाभिन्यक्तिकारणौ । एष भूतौ सन्तौ समानमकं बृक्षं बृक्षमिवो ष्ठेदसामान्याद्बृक्षं शरीर परि पस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ समाधितपन्तावती ।

सपारन्थोऽविद्याकामवासनाथ यलिङ्गापाधिबिद्वानारमा विष्यत्त कर्मफलं सुखदु खलक्षणं स्वादु अनेकविधिव्रतनास्वादरूपमधि उपसृष्टं विवक्त । अनभन्नन्यो नित्यशुद्धपुद्गलस्वभाव परम श्वरोऽभिषाद्यीति सषमपि पश्य न्नास्ते ॥ ६ ॥

‘शा सुपर्णा’ इत्यादि । श— दो विद्वानरत्ना और परमात्मा, जो सुपर्णा हैं अर्थात् शुभ पतन—शुभ गमन वाल होनेसे सुपण हैं, अथवा पक्षियोंके समान होनेसे जो सुपण कह्यते हैं, और मयुज्—सबदा मयुक्त रहत हैं तथा सभ्य हैं— जिनके आरुपान (नाम) यानी अभिन्यक्तिक कारण समान हैं । ऐसे ब दानों समान यानी एक ही बृक्षको—बृक्षके समान नाशमें समानता होनेके कारण शरीर बृक्ष है, उसे परिष्वक्त किये हैं अर्थात् ये दोनों उसपर आभित हैं ।

उनमें एक—अविद्या, काम और वासनाओंके आश्रयभूत लिङ्गद्वयरूप उपाधिवात्र विद्वान्नाथ अविष्यत्तत्त उत्तक स्वादु—अनक विधिव वेत्ना- मप स्थाप्यत्त विष्यत्त—सुख दु खमप फलत्रयैका भाग्य है तथा अन्व—नित्यशुद्धसुखमुक्त- सत्त्वा परमत्वा उ हैं न भाग्यत्त इत्या उन समीपे पश्य रहत्य है ॥ ६ ॥

तत्रैव सति—

| ऐसा होनेपर—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो

ऽनीशया शोचति मुह्यमान ।

जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीश

मस्य महिमानमिति वीतशोक ॥ ७ ॥

उस एक ही वृक्षपर जीव [देहात्मभावमें] डूबकर मोहग्रस्त हो दीनभावसे शोक करता है । जिस समय यह [मनको योगमग्नोसे] सेवित और देहादिसे भिन्न ईश्वर और उसकी महिमाको देखता है उस समय शोककटित हो जाता है ॥ ७ ॥

समाने वृक्षे शरीरे पुरुषो

भोक्ताविद्याकामकर्मफलरागादि

गुरुभाराक्रान्तोऽलाङ्घुरिव समुद्रे

जले निमग्नो निभयेन देहात्म-

भावमापन्नः 'अथमेवाहममुष्य पुत्रो

ऽस्य नत्ता कृषः स्यूतो गुणवान्नि-

गुणः सुस्त्री दुःस्त्री' इत्येवप्रत्ययो

नान्योऽस्त्यसादिति जायते मि-

यतेसंपुञ्जतं च संबन्धिवान्भवैः ।

अथाऽनीशया 'न कश्चिस्सम-

र्भोऽहं पुत्रा मम नटा मृता मे

एक ही वृक्ष यानी शरीरमें पुरुष
—मोक्षा जीव अविद्या, काम, कर्म,
कर्मफल और रागादिक भारी भस्से
आच्छन्न हो समुद्रके जलमें डूबे हुए
दूबके समान यानी निश्चय ही
देहात्मभावको प्राप्त हुआ—'यह
पेड़ मैं हूँ, मैं कमुकुत्र पुत्र हूँ,
उसका नाती हूँ, कृषा हूँ, स्यूत हूँ,
गुणवान् हूँ गुणहीन हूँ, सुस्त्री हूँ,
दुस्त्री हूँ' इस प्रकारके प्रत्ययोंवाला
हो, ऐसा समझकर कि इस देहसे
भिन्न कोई और नहीं है जन्मत्र,
मरणा एवं अपने सम्बन्धी कथुजोड़े
संपुञ्ज होता है । अतः अनीशयासे
—'मैं किसी परकी किये समर्थ नहीं
हूँ, मरा पुत्र मरा हो गया, बी मर

भार्या किं म जीवितन' इत्येवं दीन-
भावोऽनीशा तथा शोचति सन्त-
प्यते सुखमानाऽनेकैरनधप्रकारै
रविवेकतया विचित्रतामापद्यमान ।

म एव प्रेततिर्यङ्मनुष्यादि
योनिष्वापतन्दुःखमापन्नः कदा-
चिदने कञ्चनशुद्धमसञ्चयन
निमित्तं क्वचिदपरमकारुणिकं
दर्शितयागमार्गोऽहिंसासत्यमद्य
सर्वसवत्यागसमाहिता मा सन्
शमादिसन्ना जुष्टं सवितमनक
यागमार्गेर्यदा यस्मिन्काले पश्यति
प्यायमानाऽन्यं पृथोराधितयथा
द्वितीयमममंसारिणमशनायावत्
सृष्टं सवान्तर परमात्मानमीशम्
'प्रथमइमस्मीत्यात्मा सर्वस सम
सवभूतान्तराम्भो नतरा'रिया
जनितापाधिपरिच्छिन्ना मायात्मा'
इति विभूति महिमानमिति त्रयमद्वय-

गयी अथ मरे जीनसे क्या धम है ॥
इस प्रकारका दीनभाव ही धनीश
(असमर्पता) है उससे मुक्त होकर
और मोहमस्त होकर यानी अनर्पके
अनेकों प्रकारोंसे अविवेकता विचित्र
स्थितियों प्राप्त होकर गोरु अर्थात्
सन्तप्य करता है ।

वही प्रेत, तिर्यक् एवं मनुष्यदि
यानियोंमें पड़कर दुःख भोगता है ।
जब कभी अनेक जन्मोंके सुचित
पुण्यकर्मविपाकसे कोई परमहात्मा
आचार्य उसे योगनामिका उपदेश
कर देते हैं तब वह अहिंसा, सत्य,
ब्रह्मचर्य एवं सवत्यागरु शपु सन्त-
द्वितविष और शान्ति साधनोंसे
सम्पन्न हो अनेक योगशर्षसे सेवित
धन्य पानी इष्ट (दद) रूप
उपाधिसे भिन्न, मसारथम'न्य,
धुपासि असंलृष्ट, सर्वन्तर्पामी इधर
'रमानास्य प्यन परन्त इअ उसे
रुजा है । अर्थात् 'मै यह है अर्थात्
मै मर्भेसनान और सम्म प्राणिके
नीतर स्थित अन्न हैं, धारिषाबनित
उपाधि परिच्छिन्न मायन्त नहीं
है इस प्रकार सप्रकार करता है
और इसी विनृनिम्न मदिनाये
दशना है यना यह ब्रह्म मदिन

मस्यैव महिमा परमेश्वरस्येति
 यदैव पश्यति तदा शीतशोको
 भवति । सर्वसाञ्छोकसागरादि
 मृच्यते कृतकृत्या भवतीत्यर्थः ।
 अथवा जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश
 मस्यैव प्रत्यगात्मनो महिमानम्
 इति तदा शीतशोको भवति ॥७॥

इस परमत्माकी ही है—ऐसा जिस
 समय देखता है उस समय यह
 शोकरहित हो जाता है । अर्थात्
 सम्पूर्ण शोकसागरसे मुक्त यानी
 कृतकृत्य हो जाता है । अथवा
 [ऐसा अर्थ करना चाहिये कि]
 जिस समय इस मोक्षा जीवको यह
 योगितेजसि अन्य—ईश्वररूप अथवा
 इस प्रत्यगात्माकी ही महिमामुप
 देखता है उस समय शोकरहित हो
 जाता है ॥ ७ ॥

नक्षत्री अपिष्ठानस्स्ता आर उचके ज्ञानसे इत्यार्थता

इदानीं तदिदां कृतार्थतां
 दर्शयति—

अथ धृतिब्रह्मवेद्यर्थोको कृतार्थता
 प्रदर्शित करती है—

ऋषो अक्षरे परमे व्योमन्
 यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

यस्त न वेद किमृचा करिष्यति

य इच्छद्विदुस्त इमे समासते ॥८॥

जिसमें समस्त देवगण अभिष्ठित हैं उस अक्षर परब्रह्ममें ही केन्द्र
 स्थित हैं [अर्थात् वे भी उसीका प्रतिमादन करते हैं] । जो उसको नहीं
 जानता वह येशसे ही क्या कर लगे । जो उसे जानता है वे सब वे इत्यर्थ
 हुए स्थित हैं ॥ ८ ॥

ऋष इति । ऋषयवयस्यथर । 'ऋष' इत्यदि । वेदव्यपत्त
 परम ध्यामन्ध्यामन्याश्चक्षन् । अक्षर परब्रह्मसम्बन्ध—अथवासाक्षात्

यस्मिन्देवा अभि विश्वे निपदुः
 आभितास्तिष्ठन्ति । यस्तं
 परमात्मानं न वेद किमुवा
 करिष्यति ? य इच्छद्विदुस्त इमे
 समासत-कृताशोस्तिष्ठन्ति ॥८॥

परब्रह्ममें, त्रिसर्गमें समस्त देवगण
 अधिष्ठित हैं—उसके आश्रयसे स्थित हैं
 उस परमात्माको जो नहीं जानता
 वह वेदसे क्या कर लेगा ? और जो
 उसे जानते हैं वे तो ये सम्पूर्ण
 प्रकारसे रहते हैं अर्थात् इत्यर्थ हुए
 स्थित हैं ॥ ८ ॥

मायोगाधिक ईश्वर ही सर्वत्र लक्षा है—

इदानीं तस्यैवाश्वरस्य मायोपा-
 धिकं जगत्स्रष्टृत्वं तन्निमित्तत्वं च
 मेवम दर्शयति—

अब धृति उस अक्षर परमात्मका
 ही मायारूप उपाधिके कारण जगत्
 स्रष्टृत्वं और जगन्निमित्तत्वं अक्षर-
 अन्तः प्रकृत है—

छन्दांसि यज्ञा क्रतवो घृतानि

मृत भव्य यश्च वेदा वदन्ति ।

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत

तस्मिन्नान्यो मायया संनिरुद्धः ॥ ९ ॥

वेद, यज्ञ, ऋत, मृत, भव्य और वर्तमान तप और भो जो
 कुछ वेद वतप्रते हैं वह सब मायानी ईश्वर इस अक्षरसे ही उत्पन्न
 करता है, और उस (मायया) में ही मायासे अक्षर-सा हाकर बँधा
 हुआ है ॥ ९ ॥

छन्दांसोति । छन्दांसि श्रुत्य
 श्रुःसामाभवाङ्गिरसास्या वेदाः ।
 दक्षयज्ञादया यूपसंबन्धरहितवि

छन्दांसि इत्यदि । श्रुत् यत् ,
 साम और अर्पणसंज्ञक वेद छन्द हैं,
 त्रिनमें यूपका सम्बन्ध नहीं होता
 वे दक्षयज्ञादि विहित मन्त्र यज्ञ कक्ष्यते

हितक्रियाश्च यज्ञाः । ज्योतिष्टोमा-
दयः ऋतव । यतानि चान्द्रायणा
दीनि । मृतमतीतम् । भव्यं
भविष्यत् । यदिति तयोर्मध्य
प्रति वर्तमान सूचयति । चञ्चुब्दः
समुच्चयार्थः । यज्ञादिसाप्ये
कर्मणि प्रपञ्चे मृतादौ च वेदा
एव मानमित्येतत् । यञ्छब्दः
सर्वत्र संबन्धते । असास्प्रकृता-
दक्षराद्गणः पूर्वोक्तं सर्वमुत्पद्यत
इति संबन्ध ।

अधिकारिब्रह्मणः कथं प्रपञ्चो-
पादानत्वम् ? इत्यस्य आह—मायीति
कूटस्थस्यापि स्वशक्तिवशात्सव
सदृत्वमुपपन्नमित्यसत् । विश्वं
पूर्वोक्तप्रपञ्चं सृजत उत्पादयति ।
स्वमायया कल्पिते तस्मिन्मृता
दिप्रपञ्चे मायैवान्य इव सनि-
रुद्धः संबद्धोऽविद्यावशगो भूत्वा
ससारसमुद्रे भ्रमतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

हैं ज्योतिष्टोमादि याग ऋतु हैं त
चान्द्रायणादि ऋतु हैं । मृत—
भीत शुका है, मम्य—जो होनेका
है । 'यत्' यह पद उनके मध्य
कर्तमानका सूचक है और 'च' श
सबका समुच्चय करनेके लिये है
तात्पर्य यह है कि यज्ञादिसाप्य क
और मृतादि प्रपञ्चमें वेद ही प्रमा
हैं । मूळमें 'यत्' शब्दका सब
साथ सम्बन्ध है । इसका सम्भ
इस प्रकार है कि जो कुछ पद
कहा गया है सब इस प्रकृत कथ
प्रसंगसे ही उत्पन्न होता है ।

व्यक्तिकारी ब्रह्म जिस प्रकार
प्रपञ्चका उपादान कारण हो सक
है ? ऐसा प्रश्न होनेपर भुक्ति कहा
है—'मायी सृजते' इत्यादि । तात्पर्य
यह है कि कूटस्थ ब्रह्मका भी अण
शक्तिके द्वारा सबका रचपित्त हो
सम्भव ही है । वह विश्व अर्थात्
पूर्वोक्त प्रपञ्चको उत्पन्न करता है
तथा अपनी मायसे कल्पित हुए उ
मृतादि प्रपञ्चमें वह मायासे ही अण
सा होकर बँध गया है, अर्थात्
अविद्याके बशीमृत होकर संसार
समुद्रमें भटकता रहता है ॥ ९ ॥

प्रकृति और परमेश्वरका स्वरूप तथा उनका सम्बन्ध

पूर्वोक्ताया प्रकृतेर्मायात्वं
तदधिष्ठातृसंविदानन्दरूपब्रह्मण-
स्तदुपाधिवशात्मायित्वं च विद्म-
पस्य मायात्वज्ञात्कल्पितत्वावयव-
मूले कार्यकरणसंबन्धे सद्य-
भूरादीन् परिदृश्यमानं जगत्प्रधानं
चेत्याह—

पूर्वोक्त प्रकृति माया है और
उसका अधिष्ठाता संविदानन्दस्वरूप
ब्रह्म उस (मायास्वरूप) उपाधिके
कारण मायानी है तथा उस चित्ररूप
ब्रह्मके मायाके कारण कल्पित हुए
अवयवरूप भ्रम-कारणसंबन्धसे यह
निश्चयी देख हुआ भूर्भुवःकादि सम्पूर्ण
जगत् स्यात् है—इस आशयसे धृति
करती है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ १० ॥

प्रकृतिके तो माया जानना चाहिये और महेश्वरको मायानी ।

उसीके अवयवभूत [कार्य-कारणसंबन्ध] से यह सम्पूर्ण जगत्
स्यात् है ॥ १० ॥

मायां स्थिति । जगत्प्रकृति-
स्वनाभज्ञात्सत्रं प्रतिपादिता
प्रकृतिमायवति, विद्याद्विजानी
यात् । तुल्यद्वोऽवधारणार्थः ।
महाभासातीश्वरवति महेश्वरस्त
मायिनं मायाया सत्तास्पृत्यादि
श्रद्धं तथाधिष्ठानत्वेन प्ररपितारमत्र
निपादिति पूर्वोक्त संबन्धः । तस्य

मायां तु' इत्यादि । पाठे
त्रिसंज्ञा जगत्प्रकृति प्रकृति (कारण)
रूपसे सत्रं प्रतिपादन किया गया
है—यह प्रकृति माया ही है—
देना जान । यहाँ 'तु' शब्द
निश्चयापन है । जो महान् और श्वर
ज्ञानके कारण महेश्वर है उसे मायानी
—मायाकी सत्ता-स्पृष्टि श्रद्धि
दमक्य तथा अधिष्ठानरूपसे उसे
प्रतिपादन करना जानना चाहिये—
इस प्रकार इसका पूर्वोक्त निष्कर्ष
निश्चये सम्बन्ध है । उस प्रकृति

प्रकृतस्य परमेश्वरस्य रज्ज्वाद्यभि-
ष्टानेषु कल्पितसर्पादिस्थानीयै
मायिकैः स्वात्मवैरभ्यासद्वारेद
मूरादि सर्वं भ्यासमेव पूर्वमित्ये
सत्तुल्यस्ववधारणार्थः ॥१०॥

परमेश्वरके, रज्जु आदि अविद्यार्थोंमें
कल्पित सर्पादिरूप मायिक अकर्मोंसे
व्यासद्वारा यह भूर्भोगादि सम्पूर्ण
जगत् व्याप्त यानी पूर्ण है । यहाँ भी
शुभ शब्द निश्चयार्थक ही है ॥१०॥

कारण-ब्रह्मके साक्षात्कारसे परम शान्तिभी प्राप्ति

मायातत्कार्यादियोगेः फूट
सस्य स्वयञ्चतोऽधिष्ठातृत्वं विद्य
दादिकार्याभ्यामुत्पत्तिहेतुत्वं तेनैव
सर्वाधिष्ठातृत्वोपलक्षितसच्चिदान-
न्दवपुषा ब्रह्मासीत्येकत्वज्ञाना
मुक्तिं च दर्शयति—

माया और उसके कर्मोंद्वारा
मूलभूत फूटस्य ब्रह्म अपने स्वतन्त्र-
रूपसे सक्ता अविद्यता है तथा
आकाशादि फणियोंकी उत्पत्तिकर हेतु
है और उस शुद्धस्वरूपसे ही उसके
सर्वाधिष्ठातृत्वसे उपलक्षित होनेवाले
सच्चिदानन्दस्वरूपसे भी ब्रह्म हूँ ऐसा
एकत्व-ज्ञान होनेसे मुक्ति हाती है;
यह बात धृति दिखवाती है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको

यस्मिन्निव स च वि चैति सर्वम् ।

तमीशानं वरद देवमीश्वर्यं

निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥११॥

जो ब्रह्म ही प्रत्येक योनिकर अविद्यत्त्व है, जिसमें यह सब सम्पूर्ण
प्रकृतसे छिन्न होता है और फिर विभिन्नरूप हो जाता है उस सर्व-
निष्पन्ता, परदायक, साक्षीय देवदत्त साक्षात्कार करके साधक इस परम
शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

यो योनिमिति । यो माया-
विनिर्मुक्तानन्दैकधन परमेश्वरो
योनिं योनिमिति वीप्सया मूळ
प्रकृतिर्मायावान्तरप्रकृतयो निय-
दादयम स्रष्टितास्ताः प्रकृतीः
सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनाभिष्टाय तिष्ठ-
त्यन्तयामिरूपेष । “य आकाशे
तिष्ठन्” (षु० उ० ३।७।१२)
इत्यादि श्रुतेः । एको-
ऽद्वितीयः । यस्मिन्मायायभिष्टाय
रीश्वर इदं सर्वं जगद्रूपसंहारकाले
समति संगच्छत लयं प्राप्नोति ।
पुन सृष्टिकाले विविधतामत्या
काशादिरूपण नाना भवति । त
प्रकृतमभिष्टावात्मीशानं नियन्तारं
परदं मोक्षप्रदं देव द्योतनारम्भ-
मीश्वर्यदादिभि स्तुत्यं निषाय्य
निषयेन प्रख्याहमस्मीत्यपरोधी-
कृत्य सुपुप्त्यादौ प्रत्यधीकृत्वा
या सर्वोपरमलक्षणं सर्वज्ञनीना
शान्तिः सेदम्य दक्षिता तां
प्रसिद्धामिमां शान्तिं सर्वदुःख-
विनिर्मुक्तसुखैकानन्दस्वरूपां एति-

यो योनिम् इत्यादि । जो
मायात्प्रेत विशुद्धानन्दधन परमेश्वर
योनि-योनिम्—योनिं योनिम् इति
द्विरुक्तिसे मूळप्रकृतिरूपा माया और
अन्तर प्रकृतिरूप आकाशशक्ति—ये
दोनों प्रकृतियों (योनियों) सृष्टित
होती हैं उन दोनों प्रकारकी
प्रकृतियोंको सत्ता-स्फूर्तिप्रदरूपसे
अभिष्टित करके अन्तर्यामिरूपसे
स्थित है, जैसा कि “जो आकाशमें
स्थित है” इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध
होता है । जो एक—अद्वितीय है ।
जिस मायायिके अभिष्टाता ईश्वरमें यह
सम्पूर्ण जगत् प्रलयकालमें संगत—
लयको प्राप्त होता है और फिर सृष्टि
कालमें विविधताका प्राप्त होता अर्थात्
आकाशशक्तिरूपसे नानाकार हो जाता
है उस प्रस्तुत अविष्टत, ईशान—
नियन्ता, पर—मोक्षप्रद, देव—
प्रकाशस्वरूप और ईश्वर—वेदादि
शुभ स्तुत्यको अनुभव कर मैं ब्रह्म
हूँ इस प्रकार निषयरूपसे प्रत्यक्ष
कर सुपुष्टि आदि अनुभव की हुई
जो सर्वोपरतिरूप सर्वजनहितकरिणी
शान्ति है यह यहाँ ‘इदम्’ शब्दसे—
‘इदम्’ इस संज्ञेतसे दिखायी गयी है,
उस इस प्रसिद्ध शान्तिकर अर्थात् सर्व-

मिति यावत् । गुरूपदिष्ट-
 घमादिवाक्यजन्यसुतत्त्वज्ञानेना
 विघातत्कायादिविश्वमायानिश्रवा-
 स्यन्त पुनरावृत्तिरहित यथा
 भवति तथैत्यस्मिन् भवती
 त्वेत् ॥ ११ ॥

प्राप्त हो जाता है । तात्पर्य यह है कि
 गुरुके उपदेश किये हुए 'तत्त्वमसि'
 आदि वाक्योंसे उत्पन्न होनेवाले
 सम्पत्कृतत्वज्ञानसे अविद्या और उसके
 कर्मादिरूप सम्पूर्ण मायाके निवृत्त हो
 जानेसे यह आत्यन्तिकी-प्रिसत्रे कि
 यह पुनरावृत्तिशून्य हो जाता है उसी
 मुक्तिके प्राप्त हो जाता है, अर्थात्
 एकरस (ब्रह्मसत्त्व) हो जाता
 है ॥ ११ ॥

अतश्च ज्ञानकी सिद्धिके लिये परमात्माकी प्राथना

सूत्रात्मानं प्रत्यविरतमभि-
 मुसतया वीक्षन्तं परमेश्वरं प्रत्य
 सन्धितवत्त्वज्ञानसिद्धये प्राथना
 याह—

अथ अष्टाष्ट तत्त्वज्ञानकी सिद्धिके
 लिये धृति सूत्रनामके प्रति निरन्तर
 अभिमुख रहकर इच्छिपात ध्यानरूपसे
 परमात्माकी प्रार्थना करती है—

यो देवानां प्रभक्तमोक्षवध

विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि ।

हिरण्यगर्भं पश्यत जायमान

स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु ॥ १२ ॥

जो रुद्र देवप्रभोक्ती उत्पत्ति भीर ऐश्वर्याप्तिके हेतु, जगत्कर्म स्वामी
 और सर्वेश्वर है तथा त्रिसने सबसे पबल हिरण्यगर्भको जानसे उत्पन्न देखा
 यह यह हमें शुद्ध बुद्धिसंयुक्त करे ॥ १२ ॥

यो दसानामिति । पूर्वमेवास्व
 प्रतिपादितोऽर्थ ॥ १२ ॥

'यो दसानाम्' इत्यादि । इसका
 अर्थ पहले (अध्याय ३ मंत्र ४ में)
 ही यह दिया गया है ॥ १२ ॥

ब्रह्मप्रमुखाणां देवानां स्वामि-
सामाकाशादितोकाभयत्वं प्रमा-
श्रीदीनां नियन्त्व बुद्धिबुद्धि
द्वारा सम्पद्गानसिद्धयर्थं सुसु-
सुभि प्रार्थ्यमानस्य च परमेश्वर
स्वाह—

यो देवानामधिपो यस्मिंश्छोक्त्वा अधिप्रिता । य

ईशे अस्य द्विपदभृतुप्पद कस्मै देवाय हृदिपादिधेम ॥ १३ ॥

जो देवताओंका स्वामी है जिसमें सम्पूर्ण लोक आधिपति हैं और जो
इस द्विपद एवं चतुष्पद प्राणिकोंका शासन करता है उस आनन्दस्वरूप
देवताई हम हृदिक द्वारा परीक्षणा (पूजा) करें ॥ १३ ॥

या देवानामधिप इति । य

प्रकृत परमेश्वरो देवानां ब्रह्मा-
दीनामधिप स्वामी यस्मिन्
परमेश्वर सबकारण भूरादया
लोक्य अधिप्रिता अध्युपरि भिता
अध्यस्ता इति यावत् । य प्रकृत
परमेश्वराऽस्य द्विपदा मनुष्याद
भृतुप्पद पश्चाद्भूतश्च इष्टः । तच्च
रतापञ्चानन्दस्य । कस्मै क्वया
नन्दस्वराय । स्रमात्राऽपि च्छा
न्दस्य । देवाय धातनात्मन

ध्वज ब्रह्मादि देवताओंके साम्प्रि-
भाक्ताशाधि छेदोंके भाग्यस्व-
प्रमातादिके नियन्तृत्व और बुद्धिकी
बुद्धिके द्वारा सम्पद्गानकी सिद्धिक
छिये मुमुक्षुओंद्वारा प्रार्थनीयत्व आदि
परमात्मके गुणोंका वगन करते हैं—

यो देवानामधिप इत्यपि ।

जिसका यहाँ प्रमाण है देसा जो
परमेश्वर ब्रह्मादि देवताओंका अधि-
पति—स्वामी है, सबके कारणभूत
जिस परमेश्वरमें मूर्त्तयदि सम्पूर्ण
लोक अधिप्रिता—अधि-ऊपर भित्त
अर्थात् अध्यस्त है तथा जो प्रकृत
परमेश्वर इस मनुष्यादि द्विपदा (दा
परिपाल) और पशु आदि चतुष्पदा
जीवसमुदायर का शासन करता है ।
'इश' हम क्रियात्मके तत्कारण का
बुद्धिक है । • उसका आनन्दस्वरूप—
मूर्त्तमे [फल प्राप्तकी चतुष्पदिके फल-
वस्तुस्य] (श्री आनन्दस्य) है—
तच्च पत्नी फलस्वरूप (प्रसन्नस्वभाव)

• पक्षामे पर पर ईश+उ=ईष्टे है ।

† बुद्धिके कारणस्य मूर्त्तमे—

तस्मै इविषा चरुपुराणांशादि
द्रव्येण विधेम परिचरम । विधेः
परिचरणकर्मण एतद्रूपम् ॥१३॥

को इवि—चरु-पुरोडाशादि इत्येते
विधेम—पूजे । परिचर्या (पूजा) छे
जिस्करा कर्म है ऐसे 'वि' भाग्य
यह रूप है ॥ १३ ॥

परमात्मज्ञानसे शान्ति प्राप्ति एव सम्पन्ननाशका पुनः उपदेश

परस्पाधिवृक्षमस्य जगत्करो
साधित्वनाभस्वितत्व निखिल
जगत्स्रष्टृत्वं सषोऽत्मकत्वं तथा-
दात्म्यान्मनानां मुक्तिभत्येत-
द्रुद्राऽपस्ताप्रतिपादितं यद्यपि
तथापि बुधिसौकर्यार्थं पुनरप्याह—

यद्यपि परमात्माके अत्यन्त सूक्ष्म,
जगत्कर्म सार्वभौमरूपसे स्थित होने,
सम्पूर्ण जगत्करो रहने, सर्वरूप होने
एवं उसके तात्पर्य-ज्ञानसे बीचोबीच
मुक्ति होनाका ऊपर अनेक प्रकारसे
प्रतिपादन किया जा चुका है, तथापि
यह सब समझनेमें सुगम हो जाय'
इसलिये छुति फिर भी कहती है—

सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलिलस्य मध्ये

विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।

विश्वस्यैक

परिवेष्टितार

ज्ञात्वा शिव शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १४ ॥

सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, अविष्ट और उसके कायरूप दुर्गम स्थानमें
स्थित, † जगत्करो रक्षिता, अनेकरूप और स्रष्टारको एकमात्र भोग प्राप्त
करनेवाले शिवाको जानकर जीव परम शान्ति प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

• यद्यपि 'विष विधाने' (द्रव्य पर छेद) भाग्यल विवि किन्तुके उच्च-
पुरुषके बहुवचनमें 'विधेम' कर्म बनता है । तथापि विधानका तात्पर्य परिचर्या
(पूजा) में ही है—एक मान छेनेते अर्थ ठीक हो जाता है । अथवा 'विष्ट' के
अनेक अर्थ होते हैं इस स्थानसे भी परिचर्या अर्थ ठीक ही है ।

† 'विष्ट' शब्दके अर्थमें टीकाकारोंका मतभेद है । प्रस्तुत अर्थ धातु-
भाष्यके अनुसार है । विद्यमान भगवान्से भी यही अर्थ किन्तु है । नाथसंन्यासी
'कलिलस्य मध्ये' का अर्थ 'मन्त्रो मध्ये'—'मन्त्रके मध्यमें' करते हैं तथा धातु-
मन्त्र ही इस शब्दकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'मन्त्रीबीचमें तबत वीर्य'

सूक्ष्मेति । पृथिव्याद्यभ्याकृ-
 तान्तमुत्तरोत्तरं सूक्ष्मसूक्ष्मतरमप-
 श्येभ्यस्तस्य तदपेक्षया सूक्ष्मत्वमत्व
 माह--सूक्ष्मातिसूक्ष्ममिति ।
 क्लिलस्याविघातत्कार्यरिमकदुर्ग-
 स्य गहनस्य मन्ये । शेषं व्या-
 ख्यातम् ॥ १४ ॥

‘सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्’ इत्यादि ।
 ‘सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्’ इस पदसे श्रुति
 पृथिवीसे लेकर अभ्याकृतपस्त जो
 उत्तरोत्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर है
 उनको अपेक्षा भी ईश्वरकी सूक्ष्मताका
 कलकाती है । फलितके मध्यमें अर्थात्
 अविद्या और उसके फलरूप दुर्ग—
 गहन [स्थान] के मध्यमें । शेष
 अंशकी पहले व्याख्या हो चुकी
 है ॥ १४ ॥

परस्य साधिरूपणावमितस्त्वं
 सनक्यादिभिर्मन्नादिद्वयैर्माधिकारि
 पुरुरंप्यारमतया प्राप्यत्व साधन
 घटुएपादिपुष्पासदादीनां माद्य-
 सिद्धिं चाह—

अब परममाक साधिरूपसे
 स्थित होने, सनकादि और मन्नादि
 देवताओं एवं अधिकारी पुरुरोपाय
 आत्मस्वरूपसे प्राप्तम्य हान तथा
 माध्वन्तुष्टयादिसे मन्मथ्य होनेपर
 हन्मन्गोत्र भी माध्व प्राप्त होनेपर
 प्रतिपादन किया जाता है—

स एव काले मुवनस्य गोता

यिश्वाधिप सर्वमतेषु गूढ ।

यस्मिन्पुन्ना ब्रह्मर्षयो देवताश्च

तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥ १५ ॥

श्री अतीव कल्पोंमें विश्वव्यवस्था य, श्री गिरका स्वामी और
 सम्पूर्ण मूर्तोंमें स्थित है । (ऐसे) विश्व परमप्रमाणों मन्नादि और देसाग

वीर्यमन्नाद्यत्वं ब्रह्मविष्णुशिवे । मन्नादि मन्नाद्यत्वं मन्नाद्यत्वं ब्रह्मविष्णुशिवे ।
 कला ब्रह्मविष्णुशिवे । मन्नाद्यत्वं मन्नाद्यत्वं मन्नाद्यत्वं ब्रह्मविष्णुशिवे ।
 कुमा पुनरात्त शेरं कुल ब्रह्म स्थित रहनेपर ‘ब्रह्म’ का अर्थ है । मन्नाद्य
 मन्नाद्य रचना करनेवाले ब्रह्म ब्रह्मविष्णुशिवे ब्रह्मविष्णुशिवे ब्रह्मविष्णुशिवे
 मन्नाद्यत्वं मन्नाद्यत्वं मन्नाद्यत्वं ब्रह्मविष्णुशिवे ।

अभिन्नरूपसे स्थित हैं उसे इस प्रकार जानकर पुनः मृत्युके लक्षण वाक्य है ॥ १५ ॥

स एवेति । स एव प्रकृत
कालऽतीतकल्पेषु जीवसञ्चित-
कर्मपरिपाकसमय भुवनस्य गोप्ता
तत्तत्कमानुगुणतया रक्षिता ।
विद्याभिष' विद्यस्य स्वामी । सर्व
भूतेषु गूढा ब्रह्मादिस्तम्यपर्यन्तेषु
साक्षिमात्रतया रक्षितः । यस्मि-
न्निबद्ध्यनानन्दवपुषि परे युक्ता
एक्य प्राप्ता । त के ? ब्रह्मण्यः
सनकादयः । देवता ब्रह्मादयः ।
तमश्चर शास्त्रा ब्रह्माहममीत्य
पराधीकृत्य मृत्युपादान् मृत्यु
रविद्या तमो रूपादयश्च पाशाः
पाश्यन्त इति पाशाम्बान् "मृत्युर्ध-
तमः" (मृ० उ० १ । ३ । २८)
इति श्रुतः । तस्कार्पण्यम
कमच्छिनसि नाशकति । एक्य
रूपस्य शक्यशान्तिना दहतीत्यर्थः
॥ १५ ॥

स एव' इत्यदि । सः
परमेश्वर ही फलमें—अपि स
में अर्थात् जीवोंके सञ्चित क
फलन्मुख होते समय उपनयन
यानी विभिन्न बीजोंके कर्मों
उनका रक्षक था । यह विद्याभि-
विद्यका स्वामी, समस्त भूतोंमें ही
अर्थात् ब्रह्मासे स्वयं स्वयम्भूत
समस्त प्राणियोंमें साक्षीरूपसे स्थित है।
जिस विद्ध्यनानन्द विष्णु परब्रह्ममें
युक्त-वेत्तपमात्रको प्राप्त हैं तब
सनकादि ब्रह्मर्षि और ब्रह्मर्षि
दकाग । उसी ईश्वरको जानकर
अर्थात् ही ब्रह्म हैं' इस प्रश्न
साक्षात्पर कर [पुनः] मृत्युके
परालोक्य कर्म दहता है । अर्थात्
अर्थात् तम ही मृत्यु है तथा कर्मोंके
द्वारा पाश हैं; क्योंकि उनमें ही
जीव पाशित (बद्ध) होते हैं, आ-
वे पाश हैं; भूति करता है—“अज्ञान
एतु ही है ।” उस (अज्ञान)
के कारण परम और कर्मोंके कारण
दहता यानी नष्ट कर दता है।
अर्थात् वेत्तपमात्र मन्त्र शक्यशान्तिसे भस्म
कर दता है ॥ १५ ॥

परस्यात्मन्तातिसूक्ष्मतमत्वमा-
नन्दातिशयवत्त्वं निर्दोषवत्त्वं
वीथेष्वतिसूक्ष्मतया स्वरूपेणा
वस्थितत्वं सर्वस्यापि सत्तादि
प्रदक्षया व्यापित्वं सदेकत्वज्ञानात्
पाशहानि च दर्शयति—

अब धृति परमात्मका अत्यन्त
सूक्ष्मतम, अतिशय आनन्दवान् और
निर्दोष होना, जीवोंमें अत्यन्त सूक्ष्म-
रूपसे स्थित होना, सबको सत्तास्पर्ति
दनेवाला होनेसे व्यापक होना तथा
उसके एकत्वज्ञानसे बन्धनका नाश
होना दिखानेकी है—

घृतात्पर मण्डमिवातिसूक्ष्म

ज्ञात्वा शिव सर्वभूतेषु गूढम् ।

विश्वस्यैक परिवेष्टितारं

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १६ ॥

घृतके ऊपर रहनेवाले उसके सार भागके समान अत्यन्त सूक्ष्म दिक्को
मूर्तमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित ज्ञानकर तथा विश्वके एकमात्र भोगप्रद उस
देवके साक्षात्कार कर पुरुष समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १६ ॥

घृतादिति । घृतापरि विषय
मानं मण्ड सारस्तद्रवामतिप्रीति
विषया यथा तथा सुसुषूणामति
साररूपानन्दप्रदत्वन निरतिशय
प्रीतिविषयः परमात्मा तद्रव
घृतसारवदानन्दरूपमात्यन्तसूक्ष्मं
घात्वा शिवमित्येतद्व्याख्यातम् ।
सर्वभूतेषु गूढं प्रज्ञादिमन्त्र

‘घृतात्’ इत्यादि । जिस प्रकार
घृतके ऊपर रहनेवाला मण्ड—
उसका सारभाग घृतसंज्ञेकी अत्यन्त
प्रीतिरूप विषय होता है उसी प्रकार
परमात्मन्य मुमुक्षुओंको साररूप
अत्यन्त आनन्द प्रदान करनेके
कारण उनकी निरतिशय प्रीतिरूप
विषय है । उस घृतके सारके समान
आनन्दरूपसे अत्यन्त सूक्ष्म गिनाई,
शिव शब्दकी व्याख्या करनेकी
जा चुकी है, मन्त्र भूतोंमें—प्रज्ञादि
सर्व सन्ध्यन्त सन्तत जीवोंमें

पर्यन्तेषु जन्तुषु कर्मफलभोग
साधित्वेन प्रत्ययवया वर्तमान
मपि तैस्तिरस्कृतेष्वरभाषम् । उच-
रार्धं व्याख्यातम् ॥१६॥

गूढ़ जानकर कर्मफलभोगके साक्षी-
रूपसे प्रत्यक्षतया वर्तमान रहते
हूए भी उन (काम-कर्मदि) के
द्वारा उसका ईश्वरत्व तिरस्कृत हो
गया है [इसलिये उसे गूढ़ कहा
जाता है] । उचरार्धकी व्याख्या
की जा चुकी है ॥ १६ ॥

परमात्मसाक्षात्कारके साधन

निर्मेदसुखैकतानात्मना विश्व-
कृत्स्वं तद्व्यापित्वं संन्यासिभि
रात्ममोक्षरूपत्वं वाह—

अब भेदहीन्य सुखैकतस आत्मके
विश्वपटुत्व एवं विश्वव्यापित्व तथा
संन्यासियोंद्वारा प्राप्तम्य मोक्ष-
स्वरूपताकर बयान करते हैं—

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा

सदाजनानां हृदये सनिविष्ट ।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१७॥

यह सनम्ययी देव जगत्कर्ता और सर्वज्ञ समस्त जीवोंके हृदयमें स्थित
है । यह प्रायनिश्चयक उपदेश, व्यात्मनःप्रविशेक-मुक्ति और एषत्त्वज्ञानके
द्वारा प्रयत्नित हाता है, इसे जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥१७॥

एष इति । एष प्रकृता देवा
घातनरमका विररुमा । मद्दादि
विश्वं कम क्रियत इति कम माया

एष देवो' इत्यादि । यह प्रकृति
देव — घातनरमकपरमम्य विश्वकर्मा
है । मद्दादि विश्व पन है, यह
क्रिया जाता है इसलिये कर्म है;
माया संसारात विमल्य करप
है इसलिये यह विररुम्य

कर्मा । महांशसावात्मेति महात्मा
सर्वम्पापीत्यर्थ । सदा सर्वदा
जनानां हृदये परमे व्योम्नि हृदा
काशे जलापुपाधिषु सूर्यप्रति
विम्बवभिषिष्टः सम्यक्सित
इत्येतत् । स एष साक्षिरूपेण हृदा
'हृद् हरण' इति स्मरणादूर
तीति हृषन हृदा नेति नेतीति
निषेधोपदेशेन मनीषाय पुरुषा-
र्थोऽयमपुरुषार्थोऽयमात्मायमना
स्मेत्येतया विषयबुद्ध्या मनसा
विचारसाध्यैकत्वज्ञानेन चाभि-
व्यक्तमः प्रकृतिषोऽसम्बन्धैकरसत्वे
नाभिव्यक्त इत्येतत् ।

ये जना साधनचतुष्टयसंपन्ना
संन्यासिन एतच्चत्वरमस्यादि
वाक्यप्रतिपाद्यैकरूपमसम्बन्धैकरस
मिति यावद्विदुर्महाहमस्मीत्य
परोक्षीकुर्युस्ते यथोक्तज्ञानिनो
ऽमृता भवन्त्यमरणधर्मिनः पुनरा-
वृत्तिरहिता मयन्तीत्यर्थ ॥१७॥

है । तथा म्हान् और आत्मा हानेके
कारण यह म्हान् अर्थात् सर्वम्पापी
है । यह सर्वदा जीवोंके हृदय—
परम्योम यानी हृदाकाशमें जलप्रति
उपाभियोंमें सूर्यप्रतिविम्बके समान
निषिद्ध अर्थात् सम्पत्करूपसे स्थित
है । यही साक्षीरूपसे हृदा—'हृद्
हरणे' ('हृ' धातु हरणार्थक है)
पेसी [भातुसूत्ररूप] स्मृति होनेके
कारण जो हरण करे उसका नाम
हृत् है उसके द्वारा यानी नेति
नेति इत्यादि निषेधोपदेशसे, मनीषा
—यह पुरुषार्थ है और यह
अपुरुषार्थ है, यह अन्वय है और
यह अनाम्न्य है । इस प्रकारकी
विवेकबुद्धिसे तथा मनसा—विचार
साध्य एकत्वज्ञानसे अभिव्यक्त—
प्रकृतिशित होकर—यानी असम्बन्धैक-
रसकरूपसे अभिव्यक्त होता है ।

जो जन अर्थात् साधनचतुष्टय
सम्पन्न संप्राप्तिगग इसे 'यह 'तत्त्व
मसि' आदि वाक्योंसे प्रतिपादित
असम्बन्धैकरसरूप है । इस प्रकार
जानते हैं अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ इस
प्रकार इसका साम्याकार करते हैं वे
इस तरह ब्रह्ममये हुए ज्ञानीजोग
अमृत—अमरणधर्म अर्थात् पुनरा-
वृत्तिरहित हो जाते हैं ॥१७॥

ज्ञानसे द्वैत निवृत्ति का उपदान

कालप्रयेऽपि मुक्तौ प्रलयादौ
 च परमात्मा कूटस्थ इति निश्चया
 साप्रसख्यनयोरपि भ्रान्त्या सद्भि
 तीयस्वावभासः । वस्तुवस्तु सदा
 निर्मेद एव स्यात्—

तीनों ही काँठमें तथा मुक्ति और
 प्रलय आग्निमें भी परमात्मा कूटस्थ
 ही है—ऐसा निश्चय होनेसे जाम्बू
 और सपनमें भी भ्रान्तिसे ही द्वैत-
 प्रतीति होती है वस्तुतः तो
 सबरा अभेद ही है—यह बात मुक्ति
 वतम्बती है—

यदात्मस्तन्न दिवा न रात्रि

र्न सन्न चासच्छिव एव केवल ।

तदक्षर

तत्सवितुर्वरेण्य

प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥ १८ ॥

जिस समय अज्ञान नहीं रहता उस समय न दिन रहता है न रात्रि और न सत् रहता है न असत् एकमात्र शिव रह जाता है, वह अविभाशी और आदित्यऋषिभूमिमानो देवका मन्त्रीय है तथा उससे पुरातन प्रज्ञा (गुरुवर्यगण ज्ञान) का प्रसार हुआ है ॥ १८ ॥

यदेति । यदा यस्यामवस्था-
 यामतमा न तमोऽस्मेत्पतमस्तत्र
 मादिषाक्षपन्न्यज्ञानेन दीपस्था
 नीयेन दग्धाविद्या तत्काय रूपतम
 स्कृत्वाचदा तन्काले न दिवा
 दिषारोपोऽपि नास्ति न रात्रिस्त-

‘यदा’ इत्यादि । जिस अवस्थामें
 अतन—जिसमें तन (अज्ञान)
 नहीं है ऐसा अतन रहता है
 अर्थात् जब दीपकरूप तत्त्वमस्यादि-
 पन्नपन्नित ज्ञानसे अविद्या दग्ध
 हो जाती है, क्योंकि वह अपने
 कार्यरूप तपनाभी है, उस समय
 न दिन—दिनका आरोप होता
 है और न रात्रि—रात्रिका ही

दारोपोऽपि नास्तीति सर्वत्रा-

नुपङ्गः । न सन्सत्तारोपोऽपि ।

नासन्नभावारोपोऽपि ।

तर्हि तत्त्वं सर्वत्र शून्यमेव

आत्ममिति बौद्धमसाधिशेषमाशु

ह्वयाह- शिव एवति । शिव

एव शुद्धस्वभावो न शून्यमिति

निपातार्थः । केषलाऽविधायि

कल्पशून्यः । तदक्षर तदुक्तस्वरूपं

न क्षरतीत्यक्षर नित्य तत्तत्पद

लक्ष्य सवितुरादिस्वमण्डलाभि

मानिनो वरेण्य संभञ्जनीयम् ।

प्रज्ञा गुरुरूपदशासम्भवादिवाक्यजा

बुद्धिः, चकार एककारार्थः,

तस्मान्छुद्धत्वद्वतो प्रसृता नित्य

विवेकादिमत्तु सन्यासिषु म्याहा

पूर्णत्वाकारण पुराणी प्रज्ञाव

मारम्य परम्परया प्राप्तानादि

सिद्धा ॥ १८ ॥

आरोप होता है—इस प्रकार 'आरोप' शब्दका सबके साथ सम्बन्ध सम्बन्ध घाड़िये । और न सत्—सत्त्वका आरोप रहता है न असत्—असत्त्वका आरोप ही रहता है ।

तत्र तो सबत्र शून्य ही तत्व रहा—इस प्रकार बौद्धमतके सादृश्यकी आशङ्का करके श्रुति कहती है—'शिव एव' इत्यादि । उस समय शिव यानी शुद्धस्वभाव परमात्म ही रहता है शून्य नहीं रहता—यह अर्थ निपातसे अनित हास्य है । वह केवल अर्थात् अविधारूप विकल्पसे रहित, अक्षर—उसके स्वरूपका क्षय नहीं होता इसलिये अक्षर यानी नित्य, तत्—तत्पदका अर्थार्थ तथा सन्निव—आदिरयमण्डलाभिन्नानी देवत्वका वरेण्य—वरणीय यानी सम्पक् प्रकार से भञ्जनीय है । उस शुद्धत्वके हेतुसे प्रज्ञा—गुरुके उपदेशसे 'सत्त्वमसि' आदि वाक्यसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धि प्रसृत हुए है अर्थात् नित्य पदार्थके विकल्पानिसे सम्पन्न सन्यासिषोर्मे पूर्णस्वरूपसे म्याहा हुई है । वह पुराणी यानी प्रज्ञासे आरम्भ करके परम्परसे प्राप्त हुई है अर्थात् अनासिद्धा है । यहाँ चकार एक अर्थमें है ॥ १८ ॥

मदस्य अनुपम एव इन्द्रिवातीत स्वरूपस्य वपन

कूटम्पस्य मद्यस्य ऊर्ध्वदिषु
दिक्षु फनाप्यपरिप्राप्तत्वमद्वितीय
त्वात्कनाभ्यतुलित्वस्य कात्तदिगा-
पनरन्ध्रप्रपञ्चारूपस्य साह—

अथ धुनि यह बत्तखाली है कि
कूटस्य मद्य ऊर्ध्वदि िशाभ्यंते निस्ती-
से भी प्रायः नहीं है, अद्वितीय होनेके
परमाणु काई उसका सन्धान नहीं है,
तथा यह कात्त-दिग्घटिते अनपेक्षित
यस्य स्वरूप है—

नैनमूर्त्तं न तिर्य्यञ्च न मध्य परिजग्रभत ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश ॥१०॥

उभे ऊत्तरे, इतर उपरते अपरा मध्यमें भी काई प्रदृग नहीं कर
सक्य । त्रिमय नाम महद्यश है जो उस मद्रय काई उतना भी
नहीं है ॥ १० ॥

नैनमिति । एनं प्रकृतमपरि
न्ध्रप्ररूपत्वाच्चिंशस्तामिरपयव
राचाप्यादिषु दिक्षु क्वचिदपि
न परिवर्धनपरिप्राप्तु न गन्तु
यान् । तस्य तत्त्वैवध्यास्यागच्छ
गुणानुभवात्तादतात्त्रादितायाना
वाप्रतिमायाना नाभि । यस्य
नाम महद्यश । पापधस्य नामा
निधान महदिगापनरन्ध्रान्ने
महद्यशित्वपत्र धर्त ॥१०॥

अनपेक्षित इत्यदि । अतिरिक्त,
निरा जैर निरापरा हानक काल
सा प्रकृत मद्रये ऊर्ध्वदि िशाभ्यंते
काई प्रदृग कानने सम्य नहीं है ।
कात्त न अनुभव्य है नम उमक
मद्यन व है इत्यत्र न हानम उग
एपरि व है प्रतिब—उत्त नने
है । त्रिमय नन म्यपत है न उ
त्रिमय एतत्त कन—तात्त्रात्त म्यव
—तात्त्रात्त । अतिरिक्त इत्यत्र महद्य
है । तस्य—नर्त ॥१०॥

इन्द्रियेन्द्रियाद्यविषयतां प्रत्य
ग्रूपतां तद्वैषम्यज्ञानान्मोक्षतां
चाह—

अथ सृति ईश्वरकी इन्द्रियादिकी
व्यतिरिक्त, प्रत्यग्रूपता और उसके
साथ व्यापारके एकत्वका ज्ञान होनेसे
मोक्षप्राप्तिका वर्णन करती है—

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।

हृदा हृदिस्य मनसा य एन-

मेव विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२०॥

इसका स्वरूप नेत्रादिसे प्रमाण करनेयोग्य स्वरूपमें नहीं है, उसे कोई
भी नेत्रद्वारा नहीं देख सकता । जो इस इन्द्रियस्थित परमात्माका हृद-सुखि
यानी मनसे इस प्रकार जान लेते हैं वे धम हो जाते हैं ॥ २० ॥

न सदृश इति । अस्य प्रकृते-
श्चरस्य रूपं स्वरूपं रूपादिरदितं
निर्विशेष स्वप्रकाशात्मकसुखानु-
भवं सदृशे चक्षुरादिग्रहणयोग्य
प्रदेशे न तिष्ठति तद्विषयो न
भवतीत्येतत् । इन्द्रियागोचरत्वा-
देवैर्न प्रकृतं चक्षुरित्युपलक्षणम् ।
सर्वेन्द्रियैरपि कश्चन काऽपि न
पश्यति तद्विषयतया प्रहीतुं न
शक्नुयात् । “पञ्चक्षुषा न पश्यति

न सदृशे” इत्यादि । इस प्रकृत
ईश्वरका रूप अर्थात् रूपादिरहित
निर्विशेष स्वप्रकाशात्मकसुखानु-
भवंमय स्वरूप सदृश—नेत्रादि
इन्द्रियोंसे प्रमाण करनेयोग्य प्रदेशमें
स्थित नहीं है, अर्थात् यह उनका
विषय नहीं होता । इन्द्रियोंका विषय
न जानस ही इस प्रकृत परमात्माके
कोई भी नेत्रसे—नेत्र यहाँ समस्त
इन्द्रियोंके उपलक्षित करता है, अतः
किसी भी इन्द्रियसे नहीं देख सकता
अर्थात् इसे इन्द्रियोंके विषयरूपसे
प्रमाण नहीं कर सकता । “निसे कश्चि
नेत्रद्वारा नहीं देख सकता अर्थात्

येन धर्षापि पश्यति" (के० उ०
१।६) इत्यादिभ्रुतेः । इवा
शुद्धबुद्धयैतद्व्याख्यातं मनसेति
हृदिस्थं हृदात्माश्रयगुहास्य प्रत्य
क्षया तत्रावस्थितं ये साधन-
चतुष्टयादियुक्ताः संन्यासिनो
योग्याधिकारिण एनं प्रकृतं प्रज्ञा
रम्भानमेवमिस्थं प्रज्ञाहमस्मीत्य
परोक्षेण विदुर्बानन्ति तेऽपरोक्षी
करणमविज्ञानाभूता भवन्त्यमरण
धमोभ्या भवन्ति मरणहेत्वविद्या
वेस्तस्त्वज्ञानाग्निना दग्धत्वात्पुन-
र्ब्रह्मन्वरं न भजन्तीत्यर्थः ॥२०॥

जिसकी सत्तासे नेत्र देखता है" (इत्यादि श्रुति इत्ये प्रमाण है) जो साधनचतुष्टयादिसम्पन्न संन्यासी पानी योग्य अधिकारी हृदयस्थित—हृदय-फराररूप गुहामें स्थित अर्थात् यहाँ प्रत्यक्षरूपसे विद्यमान इस प्रकृत ब्रह्मरूप आत्मप्रकोष्ठमें—शुद्धबुद्धि से, इसीकी व्याख्या करके कहते हैं 'मनसे' इस प्रकार प्रत्यक्षरूपसे जानते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ वे उस साधकपर करी मझिमासे अवृत्त—अमरणवर्मा हो जाते हैं । तदर्थ यह है कि मरणके हेतुभूत अज्ञानादिका तत्त्व-ज्ञानरूप अग्निसे दह हो जानेके कारण वे पुन कल्प देह धारण नहीं करते ॥ २० ॥

परमेश्वरस्य स्तवन

इदानीं तत्प्रसादादेवष्टयासि-
परिहाराविति मत्वा तमेष परमेश्वरं
प्रार्थयते मन्त्रद्वयेन—

अब यह मानकर कि उसीकी श्रुतिसे इष्ट्यासि और अनिष्टनिवृत्ति हो सकती है दो मन्त्रोंसे उस परमेश्वरकी ही स्तुति करते हैं—

अजान इत्येवं कञ्चिद्भीरुः प्रपद्यते ।

रुद्र यत्ते दक्षिण मुख तेन मां पाहि नित्यम् ॥२१॥

हे रुद्र ! तुम अजन्य हो, इसलिये कोई [मुझ-जैसा] संसारमयसे फलर पुत्र्य तुम्हारी शरण लेता है [और कहता है कि] तुम्हारा जो दक्षिण मुख है उससे मेरी रक्षा करो ॥ २१ ॥

अजात इति । इति शब्दो
हेत्वर्थ । यस्मात्त्वमेवाजातो अ
न्मज्जराश्रनायापिपासाधर्मवर्जितः
इतरस्सर्वं विनाशितं दुःखापिषतम्,
तस्मात्त्वन्मज्जराभ्रनायापिपा
साशोभमोहान्वितात्ससाराङ्गीरु-
र्भीतः सन्क्रथिदक एव परतन्त्र
स्त्वामव शरणं प्रपद्ये । माच्छो वा
क्रथित्प्रपद्यत इति प्रथमपुरुष-
मन्वधीयत । इ रुद्र यच्च दक्षिणं
मुखमुत्साहजननं प्यातमाहाद-
करम् । अथवा दक्षिणस्यां दिशि
भव दक्षिणं मुखं तन मां पाहि
नित्यं सवदा ॥ २१ ॥

‘अजात’ इत्यादि । मूलमें ‘इति’
शब्द हेतुवाचक है । क्योंकि तुम्हीं
अजात यानी जन्म, जरा, क्षुधा,
पिपासादि बर्मेसे रहित हो, और सब
तो नाशवान् एवं दुःखी हैं, इसलिये जो
जन्म-जरा-मरण, क्षुधा-पिपासा एवं
शोक-मोहादिपूण संसारसे बरा हुआ है
ऐसा कोई एक मैं परतन्त्र जीव
तुम्हारी ही शरण लेता हूँ, अन्य
कोई मुझ-जैसा शरण लेता है—
इस अवशयसे इस क्रियाका प्रथम
पुरुषसे सम्बन्ध किया जा सकता
है । कत इ रुद्र ! तुम्हारा जो
उत्साहजनक दक्षिण मुख है,
जो ध्यान करनेपर आनन्द पैदा
करनेवाला है अपना दक्षिण दिशामें
होनके कारण जो दक्षिण मुख है
उससे तुम नित्य—सर्वदा मेरी रक्षा
करो ॥ २१ ॥

किञ्च—

तप—

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु
मा नो अश्वेषु रीरिष । वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधी-
हृविष्मन्त सवमिप्त्वा हृवामहे ॥ २२ ॥

इ रुद्र ! तुम कुम्भित होकर हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गी और अश्वोंमें
अप न करना और हमारे रीर से शत्रुओंका भी बच न करना । हम हमें
सामनेसे युद्ध होकर सर्वदा ही तुम्हारा आराधन करते हैं ॥ २२ ॥

मान इति । मा रीरिप इति
 सर्वत्र संबन्धत । मा रीरिपः ।
 रेणुं मरणं विनाशं मा कर्षीः ।
 नोऽस्माकं वाक पुत्रे तनये
 पौत्रे न आयुषि मा नो
 गोषु मा नोऽश्वेषु क्षीरिषु ।
 ये चास्माकं वीरा विक्रामन्तो
 सृष्ट्यास्तान्दे रुद्र भामित क्रोधितः
 सन्मा वधीः कस्मात् ? यस्मा-
 द्दविष्मन्तो हविषा युक्ता सदम्
 इत् त्वा इवामहं सदैव रक्षयामर्ष
 माह्वयाम इत्यर्थं ॥ २२ ॥

‘मा न’ इत्यादि । ‘मा रीरिप’
 इस क्रियापदका सम्बन्ध साय सम्बन्ध
 है । मा रीरिप—रेणु—मरण यानी
 विनाश न करो । हमारे श्लोके—पुत्रमें
 ‘तनये’—पौत्रमें, आयुषमें तथा गो और
 अश्व आदि शरीरधारियोंमें भी क्षय न
 करो । हमारे जो वीर—विक्रमशील
 चेत्क हैं, हे रुद्र ! तुम क्रोधित होकर
 उनपर भी वध न करो । क्यों ?
 क्योंकि हम हविष्यन्—हमसे युक्त
 होकर सदा ही तुम्हारा आवाहन
 करते हैं अर्थात् तुम्हें रक्षाके लिये
 सदा ही पुकारते हैं ॥ २२ ॥

इति श्रीमद्भद्रोक्तिदशमस्कण्डपुष्पपत्रशिष्यपरमहंसपरिब्राजकान्वार्य-
 श्रीमच्छंकरभगवत्पाणिने श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये
 ऋषोऽध्याय ॥ ४ ॥



चतुर्थः अध्यायः

अक्षराभित विद्या-अविद्या और उनके साक्षर परमेश्वरके स्वरूप तथा
माहारम्यक्य वचन

<p>चतुर्थाध्यायश्लेषमपूर्वार्धं प्रति पादयितुं पञ्चमोऽध्याय आर भ्यत द्वे अक्षर इत्यादिना—</p>	<p>चतुर्थ अध्यायमें अक्षरशिष्ट रहे अपूर्व विरम्यक्य प्रतिपादन करनेके छिये 'द्वे अक्षरे' इत्यादि मन्त्रसे पञ्चम अध्याय आरम्भ किया जाता है—</p>
---	---

द्वे अक्षरे द्रक्ष्यपरे त्वनन्ते

विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।

क्षर त्वविद्या द्यमृत तु विद्या

विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्य ॥ १ ॥

हिरण्यगर्भसे उत्पन्न अविनाशी और अनन्त परब्रह्ममें जहाँ विद्या
और अविद्या दोनों परिच्छिन्नमासत स्थित हैं [उनमें] क्षर अविद्या है
और अमृत विद्या है तथा जो इन विद्या और अविद्या दोनोंके द्यमृत
परतया है वह इनसे भिन्न है ॥ १ ॥

<p>द्वे विद्याविद्ये यस्मिन्क्षर मद्यणा हिरण्यगर्भस्थरे मद्यपर परस्मिन्ना मद्यप्यनन्ते दद्यतः काष्ठसो वस्तुतो वापरिच्छिन्ने । यत्र यस्मिन्द्र विद्याविद्ये निहिते स्थापिते गूढे अनभिम्पक्त । विद्याविद्य विविष्य दद्यति—</p>	<p>त्रिस अविनाशी एवं अनन्त यानी वेद्य, काष्ठ या वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म- परमें—ब्रह्म यानी हिरण्यगर्भसे उत्पन्न अक्षर परब्रह्ममें विद्या और अविद्या ये दोनों गूढ यानी अभ्यक्तमासते स्थित हैं । उन विद्या और अविद्याको भक्षण-भक्षण करके दिखाते हैं—</p>
--	---

धरं स्वविद्या धरणाद्देतुः संसृति
कारणम् । अमृतं तु विद्या मोक्ष-
देतुः । यस्तु पुनर्विद्याविद्ये ईश्वरे
नियमयति स ताम्बामन्यस्त-
त्साधित्वात् ॥ १ ॥

उत्तमं धर—धरणात् हेतु यतो
ससारकी कारण ता अविद्या है और
अमृत मानी मांसकी हस्तु विद्या
है । और जो विद्या और अविद्याका
शासन करता है वह उनका साधी
होनेसे उन दोनोंसे भिन्न है ॥ १ ॥

कोऽशावित्याह—

वह कौन है ? सो बतझते हैं—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको

विद्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वा ।

श्रुषिं प्रसूत कपिल यस्तमग्रे

ज्ञानैर्विभर्ति जायमान च पश्येत् ॥ २ ॥

जो अकेल ही प्रत्येक स्थान तथा सभूग रूप धार समस्त योनियों
(उपाधिस्थानों) का अधिष्ठान है, तथा जितने सृष्टिक कारम्मों उत्पन्न
हुए यन्त्रिंश श्रुषि (विरम्यगर्भ) का ज्ञानसम्पन्न किया था और जन्म सेत
हुए भी दृश्य था [यही विद्या और अविद्यास भिन्न उनका शासक है] ॥२॥

यो यानिमिति । यो यानि
यानि म्यानं स्थानं "य
पृथिव्यां तिष्ठन्" (पृ० उ० ३ ।
७३) इत्यादिनोक्तानि पृथिव्या
दीन्यधितिष्ठति नियमयति ।
एकमद्वितीय परमात्मा विद्यानि
रोहितादीनि रूपाणि योनीध
प्रभवस्थानायधितिष्ठति । श्रुषिं

'या योनिम्' इत्यादि । जो
योनि-योनिको—स्वाम-स्वानयो अर्थात्
"जो पृथिवीमें स्थित होकर [पृथिवी
का शासन करता है]' इत्यादि
मन्त्रसे यद्ये हुए पृथिवी अधिष्ठो
अधिष्ठित—नियमित करता है तथा
जो एक—अद्वितीय परमात्मा
धितिष्ठति सभूग रूपोंको और
यानियों—उपाधिस्थानोंको अधिष्ठित
करता है । [निम्ने] श्रुषिं यानी

सर्वमितिर्ध । कपिलं कनक-
कपिलवर्णं प्रसूतं स्वनेत्रोत्पादितं
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वमित्य
संभवं जन्मधरणात् । अन्यस्य
षाभ्रवणात् । उच्यते “यो ब्रह्माण
त्रिदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहि
षाति तस्मै” (श्व०उ०६।१८) इति
वक्ष्यमाणत्वात् । “कपिलोऽग्रजः”
इति पुराणवचनात्कपिला हिरण्य
गर्भो वा निर्दिश्यते—

“कपिलर्षिर्मगवतः

सर्वभूतस्य वै किल ।

विष्णोर्देशो जगन्मोह

नाशाय ससुषागतः ॥”

“कृते युगे परं ध्यानं

कपिलादिसुररूपवृत् ।

ददाति सर्वभूतारमा

सर्वस्य जगतां हितम् ॥”

“त्वं शक्रः सर्वदेवानां

ब्रह्मा ब्रह्मविदामसि ।

पायुर्षलपतां देवा

यागिनां त्वं कुमारकः ॥

अपीणां च वसिष्ठस्त्वं

भ्यासो वेदविदामसि ।

सर्वं प्रसूत—अनेहीसे उत्पन्न किये
हुए कपिउ—सुवर्णउद्देश कपिज्वर्ग
हिरण्यगर्भको पहले जन्म दिया था,
क्योंकि आरम्भमें हिरण्यगर्भका ही
जन्म श्रुति प्रतिपादित करती है,
अन्य (मूर्खों कपिउ) का जन्म
नहीं बतलाती । कारण, आगे यह
कहा जायगा कि “जो आरम्भमें
ब्रह्माको रचता है और उसके शिष्य
केदोंको प्रेरित करता है ।” “कपिल
पहले उत्पन्न होनेवाला है” इस
पुराणवचनसे भी कपिल या हिरण्य-
गर्भ ही निर्देश किया गया है ।

‘जगत्कृत्वा माह नष्टं कर्तनके

छिये सत्रभूतस्य भाग्यं विष्णुक

ही अज्ञास्वरूप मुनिवर कपिल

जगत्कर छिया है ।” “सर्वभूतारमा श्रीहरि

स्वरूपयुगमें कपिअदिरूप धारण कर

सम्पूर्ण जगत्के छिये हितकर उत्कृष्ट

ज्ञान प्रदान करते हैं ।” ‘शुभ समस्त

वक्ताओंमें इन्द्र हो, ब्रह्मवेत्ताओंमें

ब्रह्मा हो, कर्मानोंमें वायुदेवता हो,

यागियोंमें सनत्कुमार हो, शिष्योंमें

वसिष्ठ हो, वेदवेत्ताओंमें भ्यास हो,

सांख्यानं कपिलो देवो

रुद्राणामसि छद्मर ॥”

इति परमर्षिः प्रसिद्धः ।

“तत्तत्तदानीं तु भुवनमस्मिन् प्रवर्तते कपिल कवीनाम् । स षोडशाक्षो पुरुषश्च त्रिणोविराजमानं तमस परस्तात्” इति श्रूयते मुण्डकोपनिषदि । स एव वा कपिल प्रसिद्धाऽयं सृष्टिकाल । यो ज्ञानैर्वनज्ञानवैराग्यैश्चर्यैर्बिभर्ति शभार जायमानं च पश्यदपश्यदित्यर्थ ॥ २ ॥

ज्ञानयोगिन्येव कपिलश्चेव हो और इत्येव महादेव हो” इत्यादि पुराणजनोंमें कपिल नामसे श्चर्य कपिल ही प्रसिद्ध हैं ।

अथवा “तत्तत्तदानीं तु मुक्तामस्मिन् प्रवर्तते कपिल कवीनाम् । स षोडशाक्ष पुरुषश्च त्रिणोविराजमानं तमस परस्तात्” इस मुण्डकोपनिषद्की श्रुतिके अनुसार यह शिरष्यगर्भ ही पूर्वकालमें सृष्टिके समय ‘कपिल’ नामसे प्रसिद्ध हुआ जिसे परमज्ञाने अपने ज्ञानोसि— धर्म ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यसि युक्त किये और उत्पन्न होते देखा ॥ २ ॥

किञ्च—

तथा—

एकैकं जातं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे सहस्रतयेव देव ।

भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेश सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ १ ॥

इस संसारक्षेत्रमें यह देव [सृष्टिके समय] एक-एक जातके अनेक प्रकारसे विभक्त कर [अन्तमें] संहार करता है, तथा यह महात्मा

१ यह भुवि मुण्डकोपनिषद्में नहीं मिलती अन्यत्र भी उल्लेख पाया नहीं पड़ता । भुवित्र पाठ श्रुति भी नहीं जान पड़ता । परम्परासे बैदा पाठ सिद्ध देता ही रहने विषय है और अर्बुतसि न जानेके कारण उल्लेख अनुपपन्न नहीं किये गया है ।

• शब्द 'शम्भु'के अर्थ दीक्षाक्षेत्रोंमें विषय विषय प्रचलते किये हैं । महात्मान

ईश्वर ही [कल्पान्तस्के धारम्भे] प्रजापतियोंको पुन उत्पन्न कर सबका अधिपत्य करता है ॥ ३ ॥

एकैकमिति । सुरनरतिर्यगादीनां सृजति बालमेकैकं प्रत्येकं बहुधा नानाप्रकारं विदुवन्सृष्टि कालेऽस्मिन्मायात्मके क्षेत्रे संहरत्यप दधः । मूयः पुनर्ये लोफानां पतयो मरीच्यादयस्तान्सृष्ट्वा तथा यथा पूर्वस्मिन्कल्पे सृष्टवानीञ्च सर्वाधिपत्यं कुरुत महात्मा ॥३॥

एकैकम् इत्यादि । यह देव इस मायामय क्षेत्रमें सृष्टिके समय देवता, मनुष्य एवं तिर्यगदिके एक-एक जाल्को नाना प्रकारसे विद्वत् करके रचता है और फिर संहर कर देता है । फिर यह ईश्वर महात्म जिस प्रकार इसने पूर्वकल्पमें मरीचि आदि जो छेकराये हैं उन्हें रचा था उसी प्रकार पुन रचकर उन सबका आधिपत्य करता है ॥ ३ ॥

किञ्च—

तथा—

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्य

क्प्रकाशयन्नाजते यद्वनद्धान् ।

एवं स देवो भगवान्वरेण्यो

योनिस्वभावावधितिप्रत्येक

॥ ४ ॥

भाष्यकारने इत्यत्र कोई अर्थ नहीं किया । श्रीराहुपुत्रकी विलसे हैं—आज महेश्वरके संसाररूपं प्रतिप्राविश्यवस्तिस्मिन्पर्यः अर्थात् 'आज धर्मका वात्स्यं है प्रत्येक प्राणीसे सम्बन्ध रहनेवाला संसाररूप महान् इन्द्रबाह ।' अनिर्गमपर्यं करते हैं—आज कर्मरूपरूपं बन्धम् अर्थात् 'कर्मरूपरूप बन्धन ही आज है । तथा विद्वान्मात्मान् कथन है—आज सम्यक्स्वरूपपर्यंस्वरूपरूपानि आद्यनि पुरुष-मत्स्यानां बन्धनवावावावावा अर्थात् सम्यक्स्वरूप भूत और इन्द्रियवर्गकम आज ही पुरुषकम मत्स्यको बंधनेवाले होनेसे आजके समय आज है ।'

त्रिस प्रकार सूर्य प्रकाशित होता है वैसे ही यह ऊपर, नीचे तथा इतर-उतर समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ देरीप्यमान होता है । इस प्रकार वह चोतनस्वभाव सम्मजनीय भगवान् अकृशा ही कारणमूत पृथिवी आदिको नियमन करता है ॥ ४ ॥

सर्वा दिश इति । सर्वा दिशः प्राच्याद्या ऊर्ध्वमुपरिष्ठाद्धभा-
भस्तात्तिर्यक्पाश्वदिग्भ्यः प्रकाशयन्
स्वात्मचैतन्यन्योतिषा प्रकाशते
आधत दीप्यते न्योतिषा यदु
अनङ्गान्यद्दित्यर्थः । यथानङ्
वानादित्यो बगवत्काशभासनेयुक्त
एव स देवो चोतनस्वभावो
भगवानश्वयादिसमन्वितो धरेण्यो
वर्णीयः संमजनीयो योनिः
कारणं कुरुस्व स्वगतः स्वमाशान्
स्वाममूतान्पृथ्व्यादीन्भावानप
वा कारणस्वभावान्कारणमूतान्पृ-
थिव्यादीनभित्तिष्ठति नियमयति ।
एकैऽद्वितीय परमात्मा ॥ ४ ॥

‘सर्वा दिश’ इत्यादि । यह प्रादि
समस्त दिशाओंको अर्थात् ऊपर
नीचे और इतर-उतरकी दिशाओंको
प्रकाशित करता हुआ अपने स्वरूप-
मूत विद्यकाशसे भाजित यानी दीप्त
होता है जैसे कि अनङ्गान् । और
त्रिस प्रकार कि अनङ्गान् यानी सूर्य
जगत्करो प्रकाशित करनेमें लगा
हुआ है उसी प्रकार वह वय—
चोतनस्वभाव, भगवान्—वर्ण्यदि
सम्पन्न और धरेण्य-वर्णीय—
सम्मजनीय यानि यानी कारण एक
अद्वितीय परमात्मा सम्पूर्ण जगत्क
स्वभाव यानी स्वाममूत पृथिवी आदि
भार्थको [अभिष्टित करता है] ।
अथवा [च्योनिस्वभावान् ऐसा समस्त
पर मना जाय तो] कारण-स्वभाव
यानी कारणमूत पृथिवी आदि
अभिष्टित-नियमित करता है ॥ ४ ॥

• यह अर्थ मूलग्रन्थ प्थानिस्वभावान् मयनकर क्रिया मया है यहाँ मूर्त्त
च्योनिः स्वभावान् एता पा है यहाँ च्योनिः चन्द्र मगयन् च किशयन हाम्य
भोर स्वभावान् का अर्थ स्वाममूतान् पृथिवी आदि भावान् (अपने स्वरूपमूत
पृथिवी आदि भावोंको) होय ।

यच्च स्वभाव पचति विश्वयोनि

पाप्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्य ।

सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको

गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्य ॥ ५ ॥

जगत्का कारणभूत जो परमेश्वर [प्रत्येक वस्तुके] स्वभावको नियन्त्रण करता है, जो पाप्यों (परिणामयोग्य पदार्थों) को परिणत करता है, जो लक्ष्मण ही इस सम्पूर्ण विश्वका नियन्त्रण करता है, और जो [सृष्टि] समस्त गुणोंको उनके कार्यमें नियुक्त करता है [यह परमेश्वर है] ॥ ५ ॥

यच्च स्वभावमिति । यच्च
पचति लिङ्गस्यस्यः । स्वभावं
यदप्ररोप्यं पचति निष्पादयति
विश्वस्य जगता योनि । पाप्यांश्च
पाकयोम्यान्पृथिव्यादीन्परिणाम-
येद्यः । सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठति
नियमयत्येकः । गुणांश्च सत्त्वरज-
स्तमोरूपान्विनियोजयेद्यः । एवं
उच्यते ॥ ५ ॥

यच्च स्वभावम्' इत्यादि । [यच्चो
वैदिक-प्रक्रियानुसार] 'यच्च' इस
पुंलिङ्गके स्थानमें 'यच्च' इस प्रकार
लिङ्गस्यस्य इत्यादि । जो स्वभावको
यानी अग्निके उष्णत्वको पचाता—नियन्त्रण
करता है, विश्व—जगत्का कारण है
और पाप्य यानी पाक (परिणाम) योग्य
पृथिवी आदिको परिणाम करता है,
जो लक्ष्मण इस सम्पूर्ण विश्वको
अधिष्ठित—नियन्त्रित करता है तथा
जो सत्त्व, रज, एवं तमोरूप गुणोंको
नियुक्त करता है—ऐसे लक्ष्मणोष्ण
परमेश्वर है ॥ ५ ॥

किञ्च—

| तथा—

तद्वेदगुणोपनिषत्सु

गूढ

तद्वेदो वेदते यक्षयोनिम् ।

ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुः

- स्ते तन्मया अमृता वै धमूषु ॥ ६ ॥

अब वेदोंके गुह्यभाग उपनिषदोंमें निहित है, उस वेदवेद्य परमरमात्रे प्रज्ञा जानता है, जो पुरातन देव और ऋषिगण उसे जानते थे वे तद्रूप होकर अमर ही हो गये थे ॥ ६ ॥

तदिति । तत्प्रकृतमात्मस्वरूपं वेदानां गुह्योपनिषदो ब्रह्मगुह्योपनिषदस्तासु वेदगुह्योपनिषदसु गूढं सप्रकृतम् । प्रज्ञा हिरण्यगर्भो ब्रह्मते आनाति ब्रह्मयोर्नि ब्रह्म प्रमात्यकमिस्वर्ष । अथवा ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य योर्नि वेदस्य वा ये पूर्वदेवा रुद्रादय ऋषयश्च वामदेवादयस्तद्विदुस्ते तन्मया स्तदात्मभूताः सन्तोऽमृता अमरणधर्माणो धमूषुः । तथेदानीन्तनोऽपि समेषु विदित्वाप्तो भवतीति वाक्यश्लेषः ॥ ६ ॥

‘तद्वेद’ इत्यादि । उस प्रकृत आत्माका स्वरूप वेदोंके गुह्यभाग जो उपनिषद् हैं उन वेदगुह्योपनिषदोंमें गूढ—छिपा हुआ है । उस प्रज्ञास्येनियामी वेदप्रमाणक आत्माको प्रज्ञा जानता है, अथवा प्रज्ञा यानी हिरण्यगर्भके कारण अथवा वेदके कारणमूल उस आत्मगर्भो जो रुद्रादि पूर्वदेव और वामदेवादि ऋषिगण जानते थे वे तन्मय—तत्स्वरूप होकर अमृत—अमरणधर्मा हो गये । इसी प्रकार आधुनिक पुरुष भी उसे जानकर अमर हो जाता है—यह वाक्यश्लेष है ॥ ६ ॥

ऋत्वादि धर्मोत्तै मुक्त जीवार्थमाक स्वप्नार्थक धर्मत

एतावता तत्पदार्थ उपवर्णितः ।

अथेदानीं स्वपदार्थमुपवर्णयितु

मुत्तरे मन्त्राः प्रस्तुयन्ते—

इतने ग्रन्थसे तत्पदार्थक धर्मत

किया गया । अब यहाँसे स्वपदार्थक निरूपण करनेके लिये आगेके मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं—

गुणान्वयो य फलकर्मकर्ता

कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।

स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा

प्राणाधिप सचरति स्वकर्मभि ॥ ७ ॥

जो गुणोंसे सम्बद्ध फलप्रद कर्मका कर्ता और उस किये हुए कर्मका उपभोग करनेवाला है, वह विभिन्न रूपोंवाला, त्रिगुणमय, तीन मार्गोंसे गमन करनेवाला प्राणोंका अधिष्ठता अपने कर्तव्यके अनुसार गमन करता है ॥ ७ ॥

गुणान्वय इति । गुणै कर्म ज्ञानकृतवासनामयैरन्वयो यस्य सोऽयं गुणान्वयः । फलार्थस्य कर्मण कृता कृतस्य कमफलस्य स एवोपभोक्ता । स विश्वरूपो नानारूप कर्मकरणोपचितत्वात् । त्रयः सत्त्वाद्यो गुणा अस्येति त्रिगुणः । त्रयो दृषयानाद्यो मार्गमेवा अस्येति त्रिवर्त्मा धर्मा- धर्मज्ञानमार्गमेवा अस्येति वा । प्राणस्य पञ्चसुत्तरधिपः संचरति । कैः ? स्वकर्मभि ॥ ७ ॥

‘गुणान्वय’ इत्यादि । जिसका कर्म एवं ज्ञानजनित वासनामय गुणोंके साथ सम्बन्ध है वह यह जीव गुणान्वय है । वह फलके लिये कर्म करनेवाला है और वही किये हुए कर्मका फल भोगनेवाला भी है । कर्मकरणमात्रसे [माना वह कारण करके] बुद्धिको प्राप्त होनेसे वह विश्वरूप—माना रूप है । सत्त्वादि तीनों गुण इसीके हैं इसलिये यह त्रिगुण है । इसके दृषयानाम्नि तीन मार्गमेव हैं अर्था धर्म, अधर्म और ज्ञानरूप इसके तीन मार्ग हैं इसलिये यह त्रिवर्त्मा है । यह पाँच बुद्धियोंवाले प्राणका अधिपति संचार करता है । किनके द्वारा!—अपन कर्मके द्वारा ॥ ७ ॥

अद्भुष्टमात्रो रवितुह्यरूप

सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।

घुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव

आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ८ ॥

जो अँगूठके अक्षर परिमाणवाला, सूर्यके समान ज्योति स्वरूप, संकल्प और अहङ्कारसे युक्त तथा बुद्धि और शरीरके गुणोंसे भी युक्त है वह अन्य (जीव) भी आरक्षी नौकके बराबर आकारमात्रा देख गया है ॥८॥

अद्भुष्टमात्र इति । अद्भुष्ट-
मात्रोऽद्भुष्टपरिमितहृदयसुपिरापे
क्षया । रवितुह्यरूपो ज्योति स्वरूप
इत्यर्थः । सङ्कल्पाहङ्कारादिना
समन्वितो घुद्धेर्गुणनात्मगुणन च
अरादिना । उक्तं च “ब्रामृत्सु
शरीरस्म” इति । आराग्रमात्रः
प्रतोदाग्रप्रोतलोहकण्टकाग्रमात्रो
ऽपरोऽपि घानात्मनात्मा दृष्ट-
ऽवगतः । अपिचन्द सम्भावना
याम् । अपरोऽप्यौपाधिको बलसूर्य
इव जीवात्मा संभावित इत्यर्थः ॥८॥

‘अद्भुष्टमात्र इत्यादि । अद्भुष्ट
मात्र अर्थात् हृदयगुहाकी अपेक्षासे
अँगूठके बराबर परिमाणवाला, रवि-
तुह्यरूप अर्थात् ज्योति स्वरूप,
बुद्धिके गुण सङ्कल्प और अहङ्कारादि
से युक्त तथा शरीरके गुण जगदिसे
भी सम्पन्न ‘जग और मृत्यु शरीरके
धर्म हैं’ ऐसा कहा भी है । आराग्र-
मात्र—कोबेके अग्रभागमें अन्य हुआ
जो छोबेका कौंटा होता है उसकी
नाकके अक्षर अन्य भी यानी आरग्र
भी ज्ञानस्वरूपसे देख—जाना गया
है । यहाँ ‘अपि’ शब्द सम्भ्रमनामें
है; तात्पर्य यह है कि जलमें प्रति-
निवित सूर्यके समान उपाधिसे अन्य
जीवात्मा भी होना सम्भव है ॥ ८ ॥

पुनरपि दृष्टान्तान्तरेण दर्श-
यति—

एक दूसरे दृष्टान्तसे धृति तिर
भी दिखाती है—

वालाप्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीव स विज्ञेय स चानत्याय कल्पते ॥ ९ ॥

सां भ्रान्तेर्मि विमल किय हुआ जा फलके अमन्मगस्य सीशो भग दे
उस जीवस्य उसर बराबर जानना चाहिये किन्तु पक्षी अनन्मगस्य
हो जाया है ॥ ० ॥

वालाप्रति । वालाप्रस्य सुत

कृत्वा मदभाषादितस्य यो भाग

सस्यापि गुतथा कल्पितस्य

भागा जीव स विज्ञेय । लिङ्ग-

स्यातिशुभम्त्वात् सत्यरिमाप्य

नापुंस्वपदिश्यत । स च जार

स्वरूपण, भ्रानन्त्याय कल्पित स्वरु

प्राच्यप्र इत्यादि । सा भ्रान्तेर्मि
विमल किय फलके अमन्मगस्य जो
एक भाग है उसरु भी सां भ्रम
किय जानकर जा भ्रम होता है
उसर सुखन जारस्य सुखन्य
चाहिये । लिङ्ग-ह अत्यन्त सूत्र
ह, इसलिये उसर परिचयके
अनुसर ही इसर परिचय बनयस्य
जाया है । जारमन्मगसे यह जग है,
किन्तु मन् (भ्रान प(भाष्यस्यते)
पक्षी जनन हा जाया है ॥ ० ॥

द्विष—

नव—

नैव न्योन पमानेय न चैवाय नपमह ।

यद्यत्स्त्रीशरीरं पुरुषशरीरं नपुंसक-
 शरीरं वादृष्टे तेन तेन स च
 विज्ञानात्मा रक्ष्यते संरक्ष्यते
 सत्त्वदर्मानात्मन्यभ्यस्त्राभिमन्यते
 स्थूलोऽहं कृशोऽहं पुमानहं स्त्र्यह
 नपुंसकाऽहमिति ॥ १० ॥

जिस स्त्रीशरीर, पुरुषशरीर अपना
 नपुंसकशरीरको धारण करता है
 उसी-उसीसे यह विज्ञानात्मा रक्षित-
 सुरक्षित रहता है, अर्थात् उसी-उसी
 शरीरके धर्मोंको अपनेमें धारोपित
 कर ऐसा मानने लगता है कि मैं
 स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं
 स्त्री हूँ, मैं नपुंसक हूँ इत्यादि ॥ १० ॥

बीजके ज्योंके अनुसार विविध दहकी प्राप्ति का निर्देश

केन तर्हसौ शरीराभ्यादृष्ट ?

तो फिर यह किस कारणसे
 शरीर धारण करता है ? सो कथ्यते
 है—

इत्याह—

सङ्कल्पनस्पशनदृष्टिमोहै-

प्रांसाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजम ।

कर्मानुगान्यनुक्रमेण

देही

स्थानेषु

रूपाप्यभिसप्रपद्यते ॥ ११ ॥

जिस प्रकार अन्न और जलके सेवनसे शरीरको वृद्धि होती है वैसे
 ही संकल्प स्पष्ट, दशन और माहसे [काम हाते हैं । फिर] यह देही
 क्रमण [विभिन्न] योनियोंमें जाकर उन कर्मोंके अनुसार रूप धारण
 करता है ॥ ११ ॥

सङ्कल्पनति । प्रथम सङ्कल्प

'सङ्कल्पन०' इत्यादि । पहल
 सङ्कल्प होता है, फिर स्पष्ट यानी
 तन्निद्रियका स्थापन होता है,

नम् । तव स्पष्टन स्वगिन्द्रिय

व्यापारः । ततो दृष्टिविधानम् ।
 ततो मोहः । ते सङ्कल्पनस्पर्शन-
 दृष्टिमोहैः शुभाशुभानि कर्माणि
 निष्पद्यते । तत कर्मानुगानि
 क्रमानुसारीणि स्त्रीपुनपुंसफलश्च
 यान्यनुक्रमेण परिपाकापेक्षया
 देही मर्त्यः स्थानेषु देवतिर्यङ्म
 नुष्यादिष्वभिसंप्रपद्यते । तत्र
 दृष्टान्तमाह—प्राणाम्बुनोरक्षपान
 योरनिपतयार्धुष्टिरासेचनं निदान-
 मात्मनः शरीरस्य वृद्धिर्जापत
 यथा तद्वदित्यर्थ ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् दृष्टि जाती है, उससे
 पीछे मोह होता है । उन संकल्प,
 स्पर्श, दशन और मोहसे शुभाशुभ
 कर्म सम्पन्न होते हैं । फिर कर्मानुगत
 यानी कर्मके अनुसार अनुक्रमसे—
 कमक्षिपाकक्षी अपेक्षासे यह देही—
 नीच स्त्री, पुरुष एवं नपुंसकदि
 रूपोंको देखकर, लिपक एवं मनुष्यादि
 स्थानों (योनियों) में प्राप्त करता
 है । उसमें दृष्टान्त बते हैं—त्रिस
 प्रकर प्राप्त और अम्बु याना अनिपत
 धन्न और जलकी वृद्धि—उनका सम्पक्
 सेचन आरम्भका निदान है अर्थात्
 उससे शरीरकी वृद्धि होती है उसी
 प्रकार [जीवका कर्मके द्वारा तदनुसृत
 शरीरको प्राप्ति होती है]—ऐसा
 इसका अभिप्राय है ॥ ११ ॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव

रूपाणि देही स्यगुणैवृणोति ।

क्रियागुणैरात्मगुणैश्च

तर्षा

सयोगहेतुरपरोऽपि

दृष्ट ॥ १२ ॥

शरीर अनेक गुणों (पद-गुणों) के द्वारा स्थूल-मूलतः बहून्मोहों का
 धारण करता है । फिर उन (दृष्टियों) के कर्मरूप और मनसिक
 संस्कारोंके द्वारा उनका संघ (अन्तर्प्रति) का रूप ही अन्त
 र्गम

स्थूलानीति । तानि च स्थूलान्यस्मादीनि सूक्ष्माणि तैजसधातुप्रसूतीनि बहूनि देवादिशरीराणि देही विज्ञानात्मा स्वगुणैर्विहितप्रतिपिद्बविषयानुभवसंस्कारैर्बुधोत्पादुणोति । ततस्तत्त्वक्रियागुणैरात्मगुणैश्च स देहपरोऽपि देहान्तरसंपुच्छो भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

स्थूलानि इत्यादि । देही— विज्ञानात्मा अन्ने गुण यानी विहित और प्रतिपिद्ब विस्फोके अनुभवसे प्राप्त हुए संस्कारोंके द्वारा वाहुत-से यनी पायाणादि स्थूल और तैजस धातु आदि सूक्ष्म देवादि-शरीर धारण करता है । फिर यह देही उन उन शरीरोंके कर्मफल और मानसिक संस्कारोंके द्वारा अल्प रूप हो जाता है अर्थात् देहान्तरसे पुच्छ हो जाता है ॥ १२ ॥

परमात्मतरणके जाननेसे जीवकी मुक्तिपर कथन

स एवमविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराकान्ताऽलापुरिवसान्द्रजलनिमग्नो निश्चयेन देहाहंभावमापन्नः प्रेततिर्यङ्मानुष्यादियोनिष्वाश्रीव जीवभावमापन्नः कथञ्चित्पुष्यवशादीश्वरार्थकमानुष्यानेनापगतरागादिमलोऽनित्यत्वादिदशनेनात्पन्नेहामुश्रार्थफलभोगविरागश्चमदमादिषाधनसंपन्नस्तमात्मानं धृत्वा मुच्यत इत्याह—

अथ श्रुति यह धातुशरीर है कि इस प्रकार गम्भीर जलमें डूबे हुए लोकेके समान अविद्या, काम, कर्मफल और रागदिके भारी भारसे आक्रान्त होनेके कारण अनेक निश्चयसे देहपरमभवसे ही पुच्छ हुआ जीव प्रेत, स्त्रियक् एवं मनुष्यादि योनियोंमें जीवनपर्यन्त जीवमानमें ही स्थित हुआ किन्ती प्रथम पुष्यवश ईश्वरार्थ कर्म करनेसे रागदिभ्रसे शुद्ध हो जानेपर जब अनित्यत्वादि दोष-दृष्टि करनेसे वैदिक और आधुनिक फल-भोगसे विरक्त और शम-दम्भदि साम्प्रसम्पन्न होता है तब उस आत्माको जानकर यह मुक्त हो जाता है—

अनाद्यनन्त कलिलस्य मध्ये

विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।

विश्वस्यैक

परिवेष्टितारं

ज्ञात्वा वेद्यं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥

इस गहन संसारके भीतर उस अनादि, अनन्त, विश्वके रचयिता, अनेकरूप, विश्वको एकमात्र व्याप्त करनेवाले देवको जानकर जीव समस्त पाशोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

अनाद्यनन्तमिति । अनाद्य

नन्तमाद्यन्तरहित कलिलस्य मध्ये

गहनगभीरस्रष्टारस्य मध्ये विश्वस्य

स्रष्टारस्रष्टादयितारमनेकरूपं वि

श्वस्यैकं परिवेष्टितारं स्रष्टारमना

संख्याभ्यावसितं ज्ञात्वा देव

उच्यते परमात्मानं मुच्यते

सर्वपाशैरविद्याभ्रमकर्मभिः ॥ १३ ॥

‘अनाद्यनन्तम्’ इत्यादि । कलिलके मध्यमें यानी अल्पन्त गभीर संसारके मध्यमें अनाद्यनन्त—आदि-अन्तसे रहित, विश्वकी सृष्टि—उत्पत्ति करन वाले, अनेकरूप, विश्वके एकमात्र रचयिता अर्थात् अपन स्वरूपसे विश्वको व्याप्त करके स्थित हुए, देव—शक्ति स्वरूप परमात्माको जानकर जीव समस्त पाशोंसे यानी अविद्या, कर्म एवं कर्मादिसे मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

कन पुनरसौ गृह्यते? इत्याह—

किन्तु यह किसके द्वारा ग्रहण किया जाता है सो पताचले है—

भावग्राह्यमनीढास्य भावाभावकर शिवम् ।

कलासर्गकर वेद्यं ये बिदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ १४ ॥

भावग्राह्य, अचरिसंज्ञक, सृष्टि अथ प्रलय करनेवाले, निःस्वरूप एवं अज्योती (बिना करनेवाले) इस देवसे जो जान लते हैं वे (वेदिक) को त्याग रहे हैं ॥ १४ ॥

भावग्राह्यमिति । भावेन वि
 शुद्धान्त'करणेन गृह्यत इति
 भावग्राह्यम् । अनीहास्म्यं नीहं
 शरीरमशरीरास्म्यम् । भवाभावा
 करं शिषं शुद्धमविद्यावत्कार्यं
 विनिमुक्तमित्यर्थः । कलानां पोढ
 शानां प्राणादिनामान्तानाम् "स
 प्राणमसूत्रम्" (प्र० उ० ६।४)
 इत्यादिनाधर्वजोक्तानां सर्गकरं
 देव ये विदुरहमसीति तं चक्षुः
 परित्यज्युत्तनुं शरीरम् ॥१४॥

'भावग्राह्यम्' इत्यादि । भाव—
 विदुद अन्त करणसे प्रज्ञा किय
 जात है इसलिये जो भावग्राह्य है,
 अनीहास्म्यं—नीह शरीरको कहते
 हैं अत अशरीर नाम्वाले, भाव और
 अभाव (सृष्टि और प्रलय) करने
 वाले, शिष—शुद्ध अर्थात् अविद्या
 और उसके कार्यसे रहित, कला
 सर्गकर—“उसने प्राणकी रचना
 की” इत्यादि वाक्यसे अर्कण (प्रश्न)
 श्रुतिमें कही हुई प्राणसे अकार
 नामपर्यन्त सोल्लेह कलाओंके रचयित्त
 उस देवको जो 'यह मैं हूँ' इस
 प्रकार जानते हैं वे तनु—शरीरको
 त्याग देते हैं • ॥ १४ ॥

इति श्रीमद्वाचिन्दमहाशय्यपादशिष्यपरमार्शुपरिब्राजकाचार्य-

श्रीमच्छंकरभगवत्प्रणीते इवेत्वास्वतरोपनिषद्भाष्ये

पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



षष्ठ अध्याय

परमेश्वरकी महिमासे सृष्टिकारण सम्पादन

नन्यन्ये कालादयः कारणम्
इति मन्यन्ते । तत्कथं पुनरी
शरस्य कलासर्गकारस्वमित्या-
सङ्गुपाह—

किन्तु अन्य मत्ताकम्भी तो
पद्मआदिको कारण मानते हैं, फिर
ईश्वर किस प्रकार कयओंकी सृष्टि
करनेवाला हो सकता है !—ऐसी
आशङ्का करके श्रुति कहती है—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति

कालं तथान्ये परिमुह्यमान ।

देवस्यैष महिमा तु लोके

येनेद आग्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥

कोई बुद्धिमान् तो मन्मापको कारण बताते हैं और दूसरे कहकरो ।
किन्तु ये मोहमत्त हैं [अत टीक नहीं जानने] । यह मत्मान्की
महिमा ही है, जिससे खोफमें यह ब्रह्मचक्र घूम रहा है ॥ १ ॥

स्वभावमिति । स्वभावमेके
कवयो मधाषिना वदन्ति ।
कालं तथान्ये । कालस्वभावयो-
र्ब्रह्मणं प्रथमाध्याय निर्दिष्टाना-

‘स्वभावम्’ इत्यादि । कोई
कवि—मधार्थ मन्मापको [कारण]
बतलाते हैं तथा दूसरे कहकरो ।
यहाँ ब्रह्म और मन्मापका प्रहण
प्रथम अध्यायमें बतलाय हुए अन्य

१ ब्रह्मचक्र अर्थात् संसाररूपमें विरहित ब्रह्मरूप चक्र, जिसका कवन प्रथम
अध्यायमें वर्णन किया है ।

मन्वेपामप्युपलक्ष्यार्थम् । परि
 मुह्यमाना अविवेकिनो विषया-
 त्माना न सम्यग्जानन्ति । तु
 छन्दोऽप्रधारणे । दशस्यैप महिमा
 याहात्म्यम् । येनेदं भ्राम्यते
 परिवर्तते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥

कारणोंको भी उपलक्षित करनेके
 लिये किया गया है । ये स्वप्न और
 काल्पादी परिमुह्यमान—अविवेकी
 यानी बिम्बी होनेके कारण यथार्थ नहीं
 जानते । 'तु' शब्द निश्चयार्थक है ।
 यह तो देव (परमेश्वर) की महिमा
 है, जिससे यह ब्रह्मचक्र भ्रमित—
 परिवर्तित होता है [अर्थात् सब
 ओर घूम रहा है] ॥ १ ॥

विगतनीम परमेश्वरस्य स्वरूप तथा उत्तमो महिमा

महिमान प्रपश्यति—

उस महिमाका निरूपण करते

है—

येनामृत नित्यमिदं हि सव

ञ्च कालकारो गुणी सर्ववेद्य ।

तेनेशित कर्म विवर्तते ह

पृथ्व्यप्नेजोऽनिलस्त्रानि चिन्त्यम् ॥ २ ॥

जिसके द्वारा सर्वदा यह सब व्याप्त है तथा जो ज्ञानस्वरूप, काञ्च-
 का भी कर्ता, निष्कारत्वादि गुणवान् और सबकुछ है उसीसे प्रेरित होकर
 यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाशरूप कर्म [जगद्रूपसे] विवर्तित
 होता है; [अतः उत्तम चिन्तन करनेवा चाहिए] ॥ २ ॥

यनेति । यन्श्वरेणाशुतं व्याप्त-

यनेन इत्यादि । जिस ईश्वरक

मिदं अगमित्य नियमन । इ

द्वारा यह जगत् नियम—नियमसे

कालद्वारः काठस्यापि कृता ।

व्याप्त है, जो ज्ञानस्वरूप, कर्मकार

—काठका भी करता, गुणी—

गुण्यपहसपाप्मादिमान् । सर्वं
 वेधीति सवविद्य । तेनेश्वरेणोशित
 प्रेरितं कर्म क्रियत इति कम
 सञ्जाव फणी । इत्यन्द् प्रसिद्धि
 धोतक । प्रसिद्ध यदेतदीश्वर
 प्रेरित कम जगदात्मना विवतत
 इति यत्पुनस्तत्कर्म पृथग्यप्तेजो-
 ऽनिलस्त्रानि पृथिव्यादिभूत
 पञ्चकम् ॥ २ ॥

अपहृत्यान्त्यादि गुण्यान् और
 सक्को ज्ञाननक कारण सवह है ।
 उस ईश्वरसे शशित—प्रति कम ।
 जो किया जाता है उसे कम
 कहत हैं 'ह' शब्द प्रसिद्धि का धोतक
 है । अर्थात् यह जो इश्वरप्रेरित
 प्रसिद्ध कम है वह मात्ममें सर्वक
 समान जगत्प्रसे विवर्तित होता है ।
 और वह जो कर्म है सा पृथिवी, जल,
 तेज, वायु और आकाशात्म्य है अर्थात्
 पृथिवी आदि पञ्चभूत है ॥ २ ॥

यत्प्रथमाप्य य चिन्त्यमित्यु

प्रथम अध्यायमें जिसे चिन्तनीय

कम्, एतदव प्रपञ्चयति—

बतथया है उसका निरूपण करते
 हैं—

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य मय

स्तस्वस्य तस्वेन समेत्य योगम् ।

एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा

काटेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मै ॥ ३ ॥

उस कमको फरके उसका निरीक्षण कर फिर जो उस तत्क सप
 पानी एक, दो तीन या आठ तत्केके साथ अवयव फरत और अन्त. फरग
 के मूलम गुणोंके साथ अवन [सत्कारूप] गुणस्य पण फरतयत् [सप
 स्थित रहता है उसका चिन्तन फरना चाहिये] ॥ ३ ॥

१ श्वेताश्वत्थक श्लोक मन्त्रानुसार एक तत्त्व अधिष्ठा है दो धर्म और मपमं
 है, छेन तत्कारि विगुण है और मन बुद्धि तथा भईश्वरक कथित पंच भूत आठ
 तत्त्व हैं । मात्ममें भी आठ तत्त्व छे वे ही माने गये हैं ।

तदिति । तत्कर्म पृथिव्यादि
सृष्टि विनिर्गत्य प्रत्यवेक्षणं कृत्वा
भूयः पुनस्तस्यात्मनस्तत्त्वेन
भूम्यादिना योग समेस्य सग
मय्य । णिलोपो द्रष्टव्यः । कति
विधैः प्रकारैः । एकेन पृथिव्या
द्राम्यां त्रिभिरष्टभिर्षा प्रकृति
भूतैस्तत्त्वैः । तदुक्तम्—

“भूमिरापोऽनलो वायु
त्वं मनो बुद्धिरेव च ।

अक्षर इतीयं मे

भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥”

(गीता ७ । ४)

इति । फलेन चैवात्मगुणै
शान्त करणगुणैः क्षमादिभिः
सूक्ष्मैः ॥ ३ ॥

‘कर्म इत्यादि । उक्त पृथिवी
आदि कर्मको रचकर उक्त निरीक्षण
कर फिर उस आशयस्य पृथिवी आदि
तत्त्वक साय योग फलकर—यहाँ
(समेस्यमे) प्ररणापक ‘णिव्’
प्रत्ययक ओप समसना आदिपे ।
कितने प्रकारक तत्त्वके साय ८
पृथिवीरूप एक तत्त्वके अपना दो,
तीन या अठ्ठा प्रकृतिरूप आठ
तत्त्वके साय । इस विषयमें [गीतामें]
ऐसा कहा है—“पृथिवी, अक्ष,
अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि
और अक्षर—यह मेरी आठ
प्रकारकी विभिन्न प्रकृति है ।”
अपना करछक और आत्मगुणोंके
यानी अन्त-करणके कर्मदि सूक्ष्म
गुणोंके साय ॥ ३ ॥

मगत्पञ्चकर्मस्ये मगत्प्राप्ति

इदानीं कर्मणां मुख्यं विनि-
योग दर्शयति—

अथ श्रुति कर्माका मुख्य विनियोग
दिखवती है—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि

भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्य ।

तेषामभावे

कृतकर्मनाश

कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥ ४ ॥

जो पुरुष सत्त्व्यादी गुणमय कर्म धारण कर उन्हें और समस्त भावोंको परमात्मके अर्पण कर देता है, उनके सम्बन्धका अभाव हो जानेसे उसके पूर्ववृत्त कर्मोंका नाश हो जाता है; और कर्मोंका क्षय हो जानेपर वह [परमात्माको] प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह तत्क्षत उन [पृथिवी आदि] से अन्य है ॥ ४ ॥

आरम्येति । आरम्य कृत्वा

कर्माणि गुणैः सत्त्वादिभिरन्वि-
तानि भावाभात्यन्तविद्येषान्वि-
नियोजयेदीश्वरे समर्पयेद्य ।
तेषामीश्वरे समर्पितावादात्मसप्त-
धाभावस्तदभावे पूर्वकृतकर्मणां
नाशः । उक्तं च—

“यत्करोषि यदस्मिन्नि-

यन्मुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि क्वीन्तेय-

तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

शुभाशुभफलैरेव

मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ॥”

(गीता ९ । २७-२८)

“प्रज्ञाप्याथाप कर्माणि

सङ्गं त्यक्त्वा करावि यः ॥

छिप्यत न स पापेन

पद्मप्रमिसाम्भसा ।

‘आरम्य’ इत्यदि । गुण अर्थात् सत्त्वादिसे युक्त कर्मोंको करके उन्हें तथा अपने अत्यन्त विशिष्ट भावोंको जो भिन्नियुक्त करता है अर्थात् ईश्वरको समर्पित कर देता है, ईश्वरको समर्पित कर करनेसे उन कर्मोंका आत्मासे सम्बन्ध नहीं रहता और सम्बन्ध न रहनेसे पूर्ववृत्त कर्मोंका नाश हो जाता है । कहा भी है—

‘हे कुन्तीनन्दन ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो खता है, जो शीत-स्नात यज्ञरूप हवन करता है, जो देता है और जो तप करता है वह सब मुझे अर्पण कर दे । इस प्रकार कर्मोंको मुझे समर्पण करके तू शुभाशुभ फलयुक्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जायगा ।’ “जो पुरुष कर्मोंको प्रज्ञापन करते हुए कर्मासक्ति परमात्मरूप कर्म करता है वह ब्रह्मसे कर्मोंके पक्षरूप समान पापसे छिप्त

कायेन मनसा बुद्ध्या
 क्वलैरिन्द्रियैरपि ।
 योगिनः कर्म कुर्वन्ति
 सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
 (गीता ५ । १, ११)
 इति ।

कर्मक्षये विशुद्धसत्त्वो याति
 तत्त्वतोऽन्यस्तत्त्वम्यः प्रकृति-
 भूतेभ्योऽन्योऽविद्यातत्कार्यविनि-
 र्मुक्तश्चिदादानन्दाद्वितीयब्रह्मात्म-
 त्वेनापगच्छन्नित्यर्थः । अन्यदिति
 पाठे तत्त्वम्यो यदन्यद्ब्रह्म तथा-
 सीति ॥ ४ ॥

नहीं होता । योगिजन फलविन्त्य
 आसक्ति त्यागकर केवल (मम-
 रहित) शरीर, मन, बुद्धि एवं
 इन्द्रियोसे ही चित्तशुद्धिके लिये
 कर्म किया करते हैं' इत्यादि ।

कर्मका क्षय हो जानेसे वह
 शुद्धचित्त हो तत्त्वतः प्रकृतिरूप
 तत्त्वोंसे भिन्न होनेके कारण अविद्या
 और उसका कार्यसे छूटकर अपनेको
 सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे जन्मे
 हुए [परमात्माको] प्राप्त होता है ।
 यहाँ 'अन्य' के स्थानमें 'अन्यत्'
 पाठ हो यहाँ तत्त्वोंसे भिन्न जो ब्रह्म
 है उसे प्राप्त होता है' ऐसा अर्थ
 समझना चाहिये ॥ ४ ॥

उपासनासे भगवत्प्राप्ति

उक्तसार्धसं द्रष्टुं उत्तरं
 मन्त्रा प्रस्तुयन्ते कथं नाम
 विषयान्धा ब्रह्म जानीयुरित्यत
 आह—

उपर्युक्त अर्थकी पुष्टिके लिये
 आगेके मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं ।
 विषयान्धा ब्रह्म भी किसी प्रकार ब्रह्म-
 को जान जायें इस उद्देशसे श्रुति
 कहती है—

आदिः स सयोगनिमित्तहेतु

परस्त्रिकालादकलोऽपि

दृष्टः ।

त विश्वरूप भवन्मत्तमीश्वर

देवं स्वचित्तम्भमुपास्य

पूर्वम् ॥ ५ ॥

यह सकल कारण, शरीरसयोगक्षी निमित्तमूला अविषाका हेतु, त्रिकल्यतीत और कल्यहीन देखा गया है । अपने जन्म कारणमें स्थित उस सर्वरूप एवं संसाररूप देखकर भ्रानोत्पत्तिसे पून उपासना कर [उसे प्राप्त हो जाता है] ॥ ५ ॥

आदिरिति । आदि कारणं सर्वस्य, शरीरसंयोगनिमित्तानाम विधानां हेतु । उक्तं च—
 “एष एवैन साधु कर्म कारयति एष एवैनमसाधु कर्म कारयति च” (कौ० उ० ३।९) इति । परस्मिन्कालादतीतानागत वर्तमानात् । उक्तं च—“यस्मा दर्वाक्सप्रत्सराऽहोभिः परिवर्तते । तदशा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्हो- पासतेऽमृतम्” (षृ० उ ४। ४। १६) इति । कस्मात् ? यस्माद् कलोऽसौ न विद्यन्ते कला प्राणादिनामा ता अस्पत्यकलः कलावद्भि कालत्रयपरिच्छिन्न सृत्पद्यते विनश्यति च । अयं पुनरकलो निष्प्रपञ्च । तस्मान् कालत्रयपरिच्छिन्न सन्नुत्पद्यते विनश्यति च । तं विद्यानि रूपा- भ्यस्येति विद्यरूपम् । भवस्य

‘आदि’ इत्यादि । आदि—सकल कारण शरीरसयोगक्षी निमित्तमूला अविषाको (अविषाकनित कर्मों) का हेतु कहा भी है—“यही इससे शुभ कर्म कराता है और यही इससे अशुभ कर्म कराता है । मूल, भविष्य और वर्तमान तीनों काओंसे अतीत जैसे कहा है— जिसके नीचे संवत्सर दिनोंके द्वारा परिवर्तित होता है, दक्षिण उत्तरी ज्योतिषोंके ज्योति, आयु और अपृत रूपसे उपासना करते हैं । ’ कयो त्रिकल्यतीत है ।—न्योक्ति यह अकल है—इसके प्राणसे लेकर नाम पयस्त कलमें नहीं हैं, इसलिये यह अकल है । कस्मयन् पदाय ही तीनों काओंसे परिच्छिन्न होनेके कारण उत्पन्न और नष्ट होता है । किन्तु यह तो अकल यानी निष्प्रपञ्च है, इसलिये कलत्रयसे परिच्छिन्न न होनेके कारण उत्पन्न या नष्ट नहीं होता । उस विधिरूप—जिसके विश्व (समस्त) रूप हैं, मन्— जिससे जगत् उत्पन्न होता है, मूल—

सादिति भवः । भूतमवितथस्व
रूपम् । इत्यदेव स्वचित्तस्यमुपा-
सायमहमस्मीति समाधानं कृत्वा
पूर्व वाक्यार्थद्वानोदयात् ॥५॥

सत्यस्वरूप, अपने चित्तमें स्थित,
स्तुत्य देवको पूर्व—वाक्यार्थद्वान
उदय होनेसे पहले उपासना कर
अर्थात् 'यह मैं हूँ' इस प्रकार उसमें
चित्त समाहित कर [उसे प्राप्त हो
जाता है] ॥ ५ ॥



ज्ञानसे भगवत्प्राप्ति

पुनरपि तमेव दर्शयति—

किं भी धृति उसे ही लिखअर्थी

है—

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो

यस्मात्प्रपञ्च परिवर्ततेऽयम् ।

घर्माग्रह पापनुद भगेश

ज्ञात्वात्मस्यममृत विश्वधाम ॥ ६ ॥

कह, जिससे कि यह प्रपञ्च प्रवृत्त होता है, वृक्षाकार और काष्ठकारसे
भरित तथा प्रपञ्चसे भिन्न है । भर्मवर्षी प्राप्ति करनेवाले और
पापका नाश करनेवाले उस ऐश्वर्यके अधिपतिको जानकर [पुरुष]
आत्मस्थ, अमृतस्वरूप और विशाधर [परमात्मको प्राप्त हो जाता है] ॥६॥

स वृक्षेति । स वृक्षाकारेभ्यः ।

कालाकारेभ्यः परो वृक्षकाला

कृतिभिः परः । वृक्षः संसार

वृक्षः । उक्तं च—“ऊर्ध्वमूलो

धराकशास एपोऽधरथः सना

स वृक्षः इत्यादि । कह वृक्षा-

कार और काष्ठकारसे पर (उपवृक्ष)

है, 'वृक्ष' शब्दसे यहाँ संसारवृक्ष

समझना चाहिये; यही भी है—

“ऊपरकी ओर मूल और नीचेकी ओर

शाखाओंवाला यह सनातन अशक्य

तनः" (क० उ० २ । ३ ।
 १) इति । अन्य प्रपञ्चा-
 ससृष्ट इत्यर्थः । यस्मादीश्वरात्
 प्रपञ्च परिवर्तते । धर्मावहं
 पापनुदं भगस्यैश्वर्याद्रीशु स्वाभिनि
 श्चात्मात्मस्वमात्मनि पुद्गौ स्थित
 ममृतममरणधर्माणं विश्वधाम विश्व
 साधारभूतं याति । स तत्त्वताऽन्य
 इति सत्र सम्बध्यते ॥ ६ ॥

वृक्ष है" इत्यादि । अन्य अर्थात्
 प्रपञ्चसे असंसृष्ट है । जिस ईश्वरसे
 प्रपञ्च प्रवृत्त होता है, धमकी प्राप्ति
 करानेवाले और पापका उच्छेद
 करनेवाले उस भाग यानी ऐश्वर्यादिके
 स्वीकारको जानकर [पुरुष] आत्मस्थ-
 आत्मा यानी पुद्गिमें स्थित, अमृत-
 अमरणधर्मा, विश्वधाम—विश्वके
 आधारभूत परमाणुको प्राप्त हो
 जाता है, क्योंकि श्व (जीव)
 पृथिवी आदि तत्त्वोंसे मिले है—इस
 वाक्यका सत्र साप सम्बन्ध है ॥ ६ ॥

ज्ञानियोंके तत्त्वानुभव का उल्लेख

इदानीं विद्वदनुभव दर्शयन्तु

अब विद्वान्का अनुभव दिखायते

कर्मर्षं वदीकरोति—

इए धुनि उपयुक्त अर्थको पुष्ट
 करती है—

तमीश्वराणां परम महेश्वर

त देवतानां परम च दैवतम् ।

पतिं पतीनां परम परस्ता

द्विदाम देव मुवनेशमीडयम् ॥ ७ ॥

इधरके परम महान् ईश्वर, दस्यभके परमेश्वर पतिपतिके परमपति,
 अणुका परसे पर तय विषय अतिरिक्ति उस स्वामीय परम हैम
 अनन्त है ॥ ७ ॥

समीश्रणमिति । तमीश्रणाणां
 वैश्वस्वतयमादीनां परमं महत्वरं
 तं देवतानामिन्द्रादीनां परमं च
 दैवतं पतिं पत्नीनां प्रजापतीनां
 परमं परस्तात्परताञ्छरात् ।
 विदाम देवं द्योतनात्मकं भुवना
 नामीशं भुवनेष्टम् । इदं स्तु
 त्स्वम् ॥ ७ ॥

पत्नीपराणाम् इत्यादि । उक्तं
 वैश्वस्वत यमादि ईश्वरं (उक्तरात्र्यं)
 क परम महत्वर, इन्द्रादि दक्षत्रयैके
 परम देव, पत्नियो—प्रजापतियोके
 परम पति, पर—अश्वरसे पर,
 मुक्तोके ईश्वर, *—द्योतनात्मक,
 ईश्वर—स्तुत्य [परानामाको] इम
 जानते ई ॥ ७ ॥

परमेश्वरकी महत्ता

कथं महेश्वरस्वम् ? इत्याह— | उसकी महेश्वरता किस प्रकार
 है, सो बतझते हैं—

न तस्य कार्यं करण च विद्यते

न तत्समभ्याम्यधिकश्च दृश्यते ।

पराम्य शक्तिर्विविधैश्च श्रूयते

स्याभाक्त्रिकी ज्ञानचलक्रिया च ॥ ८ ॥

उसके शरीर और इन्द्रियो नहीं हैं, उसके सम्पन्न और उससे बड़
 कर भी कोई दिखायी नहीं देता उसकी पराशक्ति नाना प्रकारकी ही सुनी
 जाती है और वह साम्प्रतिकी ज्ञानक्रिया और सञ्चक्रिया है ॥ ८ ॥

न तस्येति । न तस्य कार्य
 शरीरं करण चक्षुरादि विद्यत । न
 तत्समभ्याम्यधिकश्च दृश्यत श्रूयत
 वा । पराम्य शक्तिर्विविधैश्च

न तस्य इत्यादि । उसके
 कार्य—शरीर और करण—चक्षु
 आदि इन्द्रियो नहीं हैं । उसके
 समान और उससे बड़कर भी कोई
 चेष्टा या सुन्य नहीं जाता । उसकी
 पराशक्ति नाना प्रकारकी ही सुनी जाती

भूयते । सा च स्वाभाविकी
ज्ञानफलक्रिया च ज्ञानक्रिया
बलक्रिया च ज्ञानक्रिया सर्व
निषयज्ञानप्रवृत्ति । बलक्रिया
स्वसन्निधिमात्रेण सर्व बन्धीकृत्य
नियमनम् ॥ ८ ॥

है और वह स्वाभाविक ज्ञानबल-
क्रिया अर्थात् ज्ञानक्रिया और बल-
क्रिया है । ज्ञानक्रिया—सम्पूर्ण
विन्योके ज्ञानकी प्रवृत्ति और बल-
क्रिया—अपनी सन्निधिमात्रसे सबको
बशमें करके नियमन करना ॥ ८ ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

। क्योंकि ऐसा है इसलिये—

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके

न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।

स कारण करणाधिपाधिपो

न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप ॥ ९ ॥

छोकमें उसका कोई स्वामी नहीं है, न कोई शासक या उसका
विह ही है । यह सबका कारण है और इन्द्रियाभिष्टान्त्य जीवका स्वामी
है । उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न स्वामी है ॥ ९ ॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके ।
अत एव न तस्येशिता नियन्ता ।
नैव च तस्य लिङ्गं विह भूम
स्थानीय भेदानुमीयेत । स
कारण सर्वस्य कारणम् । करणा-
धिपाधिपः परमेश्वर । यस्मादेव
तस्मात् तस्य कश्चिज्जनिता
न चाधिपः ॥ ९ ॥

छोकमें उसका कोई स्वामी नहीं
है, अत उसका कोई ईशित्य—
नियन्ता भी नहीं है । उसका कोई
लिङ्ग—भूमदिरूप विह भी नहीं है,
जिससे अनुमान किया जा सके । यह
सबका कारण और करणाधिप—परमेश्वर
है । क्योंकि ऐसा है इसलिये उसका
कोई जनित्य—जनयित्त अर्थात् उत्पत्ति-
कर्ता और स्वामी भी नहीं है ॥ ९ ॥

ब्रह्मायुक्त्ये त्रिये परमेश्वरसे प्रार्थना

इदानीं मन्त्रद्वयमभिप्रेतमर्थं

अत्र धृति मन्त्रद्वय [श्रुतियों]

के अभिमत पदार्थके त्रिये प्रार्थना

करती है—

प्रार्थयते—

यस्तन्तुनाम इव तन्तुभि प्रधानजैः स्वभावतो
देव एक स्वमावृणोत् । स नो वधाद्ब्रह्माप्ययम् ॥ १० ॥

तन्तुओंसे मकड़ीके समान जिस एकमात्र देवने सम्बन्ध ही प्रधान-
जमित्त कापसि अपनेको आवृत कर लिया है वह हमें ब्रह्मसे एकीभाव
प्रदान करे ॥ १० ॥

यस्तन्तुनाम इति । यथो
र्षनाभिरात्मप्रभवैस्तन्तुभिरात्मान-
नमेष समावृणोति तथा प्रधान-
जैरभ्यक्तप्रभवैनामरूपकर्मभिस्त-
न्तुस्वानीयै स्वमात्मानमावृणोत्
सम्बन्धितवान् स नो मर्षं ब्रह्मभ्य-
प्ययं ब्रह्माप्ययमेकीभाव वधाद्
वास्विस्पर्शः ॥ १० ॥

‘यस्तन्तुनाम’ इत्यादि । जिस
प्रकार मकड़ी अपनेसे उत्पन्न हुए
तन्तुओंसे अपनेहीको आवृत कर
लेती है उसी प्रकार प्रधानज अर्थात्
अभ्यक्तसे उत्पन्न हुए तन्तुरूप नाम,
रूप और कर्मोंसे त्रिस्तने अपनेको
अवृणोति कर रहा है वह हमें ब्रह्ममें
एकीयानी एकीभाव प्रदान करे ॥ १० ॥

परमेश्वरके स्वरूपका निर्देश

पुनरपि तमेव करतलन्यस्ता-
मलकवत्साधारण्यस्तद्विज्ञानादेव
परमपुरुषार्थप्राप्तिर्नान्येनेति दर्श-
यति मन्त्रद्वयेन—

जित भी हथेलीपर रखे हुए
खोंबनेके समान उसीको साक्षात्
रूपसे देखते हुए धृति दो मन्त्रोंद्वारा
इस बातको प्रदर्शित करती है कि
उसके विशेष ज्ञानसे ही परमपुरुषार्थकी
प्राप्ति होती है, और किसीसे नहीं—

एको देव सर्वभूतेषु गूढ

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माण्यक्ष सर्वभूताधिवास

साक्षी चेतो केवलो निर्गुणश्च ॥ ११ ॥

समस्त प्राणियोंमें स्थित एक देव है वह सशक्तपक्ष, समस्त भूतोत्तर
अन्तरात्म्य, कर्णोक्त अविच्छिन्नता, समस्त प्राणियोंमें वसा हुआ, सशक्त
साक्षी, सशक्त चेतनत्व प्रदान करनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है ॥ ११ ॥

एको देव इति एको-
द्वितीयो देवो घेतनस्वभाव सव
भूतेषु गूढः सर्वप्राणिषु सषुतः ।
सर्वव्यापी सवभूतांतरात्मा स
रूपभूत इत्यर्थ । कर्माण्यक्षः
सर्वप्राणिभूतविचित्रकर्माधिष्ठाता ।
सर्वभूताधिवासः सर्वप्राणिषु
वसतीत्यर्थः । सर्वेषां भूतानां
साक्षी सर्वद्रष्टा । “साक्षाद्द्रष्टरि
संज्ञायाम्” (पा० घ० ५।२।९१)
इति सरणात् । चेतो चेतयिता ।
केवलो निरुपाधिकः । निर्गुणः
सत्त्वादिगुणरहित ॥ ११ ॥

एको देव इत्यादि । सर्वभूतोंमें
गूढ—समस्त प्राणियोंमें छिपा हुआ
एक—द्वितीय देव—प्रकाशनील
परमेश्वर है । [वह] सर्वव्यापी,
सर्वभूतान्तरात्मा अर्थात् सबका
स्वरूपभूत कर्माण्यक्ष—समस्त
प्राणियोंके किये हुए विभिन्न
कर्णोक्त अविच्छिन्नता, सर्वभूताधिवास
अर्थात् समस्त प्राणियोंमें निवास करने-
वाला, समस्त भूतोंका साक्षी अर्थात्
सर्वद्रष्टा है, क्योंकि “साक्षाद्द्रष्टरि
संज्ञायाम्” इस प्राणिनिस्वरूप
सृष्टिके अनुसार ‘साक्षी’ शब्दका
अर्थ द्रष्टा है । तथा वह चेतो—
चेतनत्व प्रदान करनेवाला, केवल-
उपाधिहीन और निर्गुण—सत्त्वादि
गुणरहित है ॥ ११ ॥

परमात्मज्ञानसे नित्यसुखप्राप्ति और मोक्ष

एको वशी निष्क्रियाणां घृह्णा

मेक धीज घृह्णा य करोति ।

तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरा

स्तेषां सुख शाश्वत नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

जो एक अद्वितीय स्वतन्त्र परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय जीवोंके एक बीजको अनेक रूप कर देता है, अपने अन्त स्वरूपमें स्थित उस [देव] को जो मतिमान् देखते हैं उन्हें ही नित्यसुख प्राप्त होता है, औरोंकी नहीं ॥ १२ ॥

एको वशीति । एको वशी स्वतन्त्रो निष्क्रियाणां घृह्णा बीजानाम् । सर्वा हि क्रिया नात्मनि समवेताः किन्तु देहेन्द्रियेषु । आत्मा तु निष्क्रियो निर्गुणः सत्त्वादिगुणरहित कूटस्थः सन्ननात्मधर्मानात्मयस्य स्वामिमन्यते कथा भोक्ता सुखी दुःखी हृद्यः स्पृहो मनुष्योऽमुष्यपुत्रोऽस्य नप्तेति । उक्तं च—
“प्रकृतेः क्रियमाप्त्वानि

गुणैः कर्माणि सर्वथाः ।

एको वशी' इत्यादि । जो एक वशी—स्वतन्त्र परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय जीवोंके एक बीज—बीज स्थानीय मूलसूक्ष्मको अनेकरूप कर देता है उस आत्मस्थ—बुद्धिमें स्थित [देव] को जो धीर—बुद्धिमान् देखते हैं—साक्षात् रूपसे जान लेते हैं उन अज्ञानवेत्ताओंको नित्य सुख प्राप्त होता है, अन्य अज्ञानमूर्खोंकी नहीं । [यहाँ जीवोंको निष्क्रिय इच्छिये कथा है कि] सारी क्रियाओंका साक्षात् सम्बन्ध आत्मसे नहीं, अपि तु देह और इन्द्रियोंसे है । आत्मा तो निष्क्रिय, निर्गुण अर्थात् सत्त्वादि गुणोंसे रहित और कूटस्थ होते हुए अपनेमें अनात्म-

अहंकारविमूढात्मा
 कर्ता इति मन्यते ॥
 तस्य चिच्छ महाबाहो
 गुणकर्मविभागयोः ।
 गुणा गुणेषु वर्तन्त
 इति मत्वा न सञ्जते ॥
 प्रकृतेर्गुणसमूहाः
 सञ्जन्ते गुणकर्मसु ॥”
 (गीता १।२७-२९)

इति ।

एकं बीजं बीजस्थानीयं भूत-
 क्षम बहुधा य करोति तमा-
 त्मस्य बुद्धौ स्थितं येऽनुपश्यन्ति
 साधान्जानन्ति धीरा बुद्धिमन्त-
 स्तेषामात्मविदां सुखं ब्रह्मणं
 नेतरेषामनात्मविदाम् ॥१२॥

धर्मोक्त अध्यास करके ऐसा अभिमान
 करने लगता है कि मैं कर्ता, मोक्ष,
 सुखी, दुःखी, कृश, स्थूल, मनुष्य,
 अमुकका पुत्र अथवा इसका नाती
 हूँ इत्यादि । कहा भी है—“[हे
 अर्जुन !] सारे कर्म प्रकृतिके गुणों-
 द्वारा किये जाते हैं, अहंकारसे
 मोहित हुए पुरुष ऐसा मानने लगते
 हैं कि मैं कर्ता हूँ । किन्तु हे
 महाबाहो ! जो गुण और कर्मके
 विभागका मर्मज्ञ है वह तो भुण-
 गुणोंमें मत रहे है ऐसा मानकर
 उनमें व्यसक्त नहीं होता, जो लोग
 प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हैं वे ही
 उन गुण और कर्मोंमें व्यसक्त होते
 हैं” इत्यादि ॥ १२ ॥

किञ्च—

तथा—

नित्यो नित्यानां चेतनभेतनानां

मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्य

ज्ञात्वा देव मुष्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥

जो निरर्थमें नित्य, चेतनमें चेतन और अरुण्य ही बहुलमें भोग
 प्रदान करता है, सांख्ययोगद्वारा ज्ञातप्य उस सञ्छरम दरसे जानकर
 [पुरुष] समस्त कर्तव्योंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

नित्य इति । नित्यो नित्या-
नां जीवानां मध्ये तद्वि-
स्पत्वेन तपामपि नित्यत्वमित्य
मिप्राय । अथवा पृथिव्यादीनां
मध्ये । तथा चतनश्चेतनानां
प्रमास्तृणां मध्य । एको बहूनां
जीवानां यो विदधाति प्रयच्छति
कामान्कामनिमित्तान्मोगान् ।
सर्वस्य सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देव ज्योतिर्मयं मुच्यते
सर्वपाशैरविद्यादिभिः ॥१३॥

‘नित्य’ इत्यादि । नित्य जीवोंके
मध्यमें जो नित्य है, अर्थात् यहाँ
कि उसके नित्यत्वसे ही उत्पन्न भी
नित्यत्व है, अथवा पृथिवी आदि
नित्योंमें जो नित्य है तथा चेतन
प्रमास्तृणोंमें जो चेतन है, जो
अनेक ही बहुत-से जीवोंके धर्म—
कामनिमित्तक मोगोंका निवृत्त यानी
दान करता है और सबके लिये
सांख्ययोगद्वारा ज्ञातम्प है, उस देव—
प्रकाशस्वरूपको जानकर [पुरुष]
समस्त पाशोंसे अर्थात् अविद्यादिसे
मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥



ब्रह्मके प्रकाशसे ही सबको प्रकाशकी प्राप्ति

कर्म चेतनश्चेतनानाम् ! यह चेतनोंमें चेतन किस्त प्रकार
इत्युच्यते— है : सो कर्मक्या जाता है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १४ ॥

यहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्र और तारे प्रकाशित होते
हैं और न ये विद्युतियाँ ही चमकती हैं, फिर यह अग्नि तो कहीं प्रकाशित
हो सकता है ! ये सब उसके प्रकाशित होनेसे ही प्रकाशित होते हैं,
उसीके प्रकाशसे ये सब प्रकाशित हैं ॥ १४ ॥

न तत्रेति । तत्र तस्मिन्ना
 मात्मनि सर्वावभासक्येऽपि सूर्यो
 न भाति ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः ।
 स हि तस्यैव भासा सर्वात्मनो
 रूपशक्त प्रकाशयति । न तु तस्य
 स्वतःप्रकाशनसामर्थ्यम् । तथा
 न चन्द्रतारकम् । नेमा विद्युतो
 भान्ति । कुतोऽप्यमग्निरसद्गोचर ।
 किं बहुना यदिव जगद्भाति
 तमेव स्वसा भास्मत्त्वाद्भ्रान्त
 दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते ।
 यथा लोहादि वृद्धि दहन्तमनु
 दहति न स्वतः । तस्यैव भासा
 दीप्या सर्वाभिद सर्वादि भाति ।
 उक्तं च—“येन सूर्यस्तपति तत्र
 सेहः” “न तद्भासयत सूर्यो न
 दृश्याद्गो न पावकः ॥” (गीता १५।

६) इति ॥ १४ ॥

अ तत्रा इत्यादि । यहाँ—उस
 परमत्त्वमें, सबका प्रकाशक होनेपर
 भी सूर्य प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि
 वह ब्रह्मके प्रकाशित नहीं करता ।
 अतः वह उस सर्वात्मनोके प्रकाश-
 से ही सब रूपोंको प्रकाशित करता है,
 क्योंकि उसमें स्वयं प्रकाशित करने-
 का सामर्थ्य नहीं है । तथा न चन्द्र
 और तारे, एवं न विद्युत् ही यहाँ
 प्रकाशित होते हैं । फिर हमें
 लिखायी देनेवाला यह अग्नि तो
 प्रकाशित हो ही कैसे सकता है ?
 अग्नि क्या, यह जो जगत् भास रहा
 है, स्वतः प्रकाशरूप होनेके कारण
 उस परमत्त्वके प्रकाशित होनेसे ही
 प्रकाशित हो रहा है, जिस प्रकार
 लोहा आदि पदार्थ जलनवाले अग्नि-
 के साथ ही [उसीकी शक्तिसे]
 जलाते हैं स्फुट नहीं । ये सब
 सूर्यादि उसके ही प्रकाश यानी
 दीप्तिसे प्रकाशित होते हैं । यहाँ
 भी है ‘ जिसके तेजसे कुछ हाकट
 सूर्य तपता है’, “उसे न सूर्य
 प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और
 न अग्नि ही इत्यादि ॥ १४ ॥

मोक्षके लिये ज्ञानके सिवा अन्य इतुमोक्ष निषेध

ज्ञात्वा देवं मुच्यत इत्युक्तम् ।
कस्मात्पुनस्तमेव विदित्वा मुच्यते
नान्येनेत्यत्राह—

ऊपर यह कहा है कि उस
देवको जानकर मुक्त हो जाता है,
अब यह कहागते हैं कि उसीको
जानकर क्यों मुक्त होता है, किसी
और कारणसे क्यों नहीं होता ?

एको ह्रसो मुवनस्यास्य मध्ये

स एवाग्नि सलिले सनिविष्ट ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति

नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १५ ॥

इस मुवनके मध्य एक ह्रस है वही जहमें (पञ्चमाहुतिकरूप देहमें)
स्थित अग्नि है । उसीको जानकर पुरुष मृत्युके पार हो जाता है । इससे
मित्र श्लेषप्रसिद्ध कोई और मार्ग नहीं है ॥ १५ ॥

एक इति । एकः परमात्मा
हन्त्यविद्यादिबन्धकारणमिति
हंसो मुवनस्यास्य त्रैलोक्यस्य
मध्ये नान्यः कश्चित् । कस्मात् ?
कस्मात्स एवाग्निः । अग्निरिवा
ग्निरविद्यातत्कार्यस्य दाहकस्यात् ।
उक्तं च—“व्यामातीताऽपिरीश्वरः”
इति । सलिले देहसमना परिप्लते ।
उक्तं च—“इति तु पञ्चम्यामाहु

‘एको’ इत्यादि । एक परमात्मा,
जो अविद्यादिबन्धनके कारणका हनन
करता है इसलिये हंस है, इस मुक्त
—त्रिलोक्यके मध्यमें स्थित है, और
कोई नहीं । क्यों नहीं है ? क्योंकि
वही अग्नि है—अविद्या और उसके
कार्यका दाह करनेवाला होनेसे वह
अग्निके समान अग्नि है । कहा भी
है—“इत्थं आकाशात्प्रित अग्नि है”
इत्यादि । सलिलमें अर्थात् देहरूपमें
परिप्लत हुए जहमें, जैसे कहा है—
“इस प्रकार पौधों आहुतिमें आप

तावाप पुरुषवचसो भवन्ति”
 (छा० उ० ५।९।१) इति
 संनिविष्टः सम्यगात्मत्वेन नि
 विष्टः । अथवा सलिले सलिल
 इव स्वच्छ यद्दानादिना
 विमलीकृतेऽन्तःकरणं संनिविष्टो
 वेदान्तवाक्यार्थसम्पन्नानुभव-
 रूढोऽधिष्ठातृकार्यस्य दाहक
 इत्यर्थः । तस्मात्तमेव विदिस्वाति
 मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यते-
 ऽप्यनाय ॥ १५ ॥

(जठ) पुरुष नामवाञ्छ हो जाता है ।”
 संनिविष्ट—आत्मभावसे सम्यग्रूपसे
 स्थित है । अथवा ‘सलिले’—यद्दाना-
 दानादिद्वारा सलिल (जठ) के
 समान स्वच्छ किये अन्तःकरणमें
 स्थित वेदान्तवाक्यार्थके सम्पन्नानुभवके
 फलरूपसे अधिष्ठा और उसके कार्य-
 का दाह करनेवाला [अग्नि]—ऐसा
 भी अर्थ हो सकता है । अतः उसी-
 को जानकर पुरुष मृत्युके पार हो
 जाता है, मोक्षके लिये कोई और मार्ग
 नहीं है ॥ १५ ॥

परमेश्वरके स्वरूपका कित्तेपरूपसे वर्णन

परमपदप्राप्तये पुनरपि तमेव

परमपदकी प्राप्तिके लिये धृति
 फिर भी उसीको किछेरूपसे प्रदर्शित
 करती है—

विद्येपतो दर्शयति—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि

ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्य ।

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश

संसारमोक्षस्थितियन्त्रहेतु

॥ १६ ॥

यह विश्वका कर्ता, विश्ववेत्ता, विश्वमयोनि (स्वप्नम्), ज्ञाता, फलदाता
 प्रेरक, अणुक्षयात्मन्नादि गुणघन और सम्पूर्ण विश्वको अग्रणी है । सर्व
 का प्रधान और पुरुषका अणु, गुणोंका नियामक एवं संसारके मोक्ष,
 स्थिति और कल्मषका हेतु है ॥ १६ ॥

स विश्वकृदिति । स विश्वकृदि-
 शस्य कर्ता । विश्व वेत्तीति विश्व-
 षित् । आत्मा चासौ योनिभेत्पारम-
 योनिः । ज्ञानातीति ज्ञः । सर्व
 स्यात्मा सर्वस्य च योनिः सर्वज्ञ
 चैतन्यज्योतिरित्यर्थः । कालकारः
 कालस्य कर्ता गुण्यपहृतपाप्मादि
 मान्विश्वविदित्यस्य प्रपञ्चः ।
 प्रधानमभ्यक्तम् । क्षेत्रज्ञो विज्ञा-
 नात्मा । तपोः पतिः पाठयिता ।
 गुणानां सत्त्वरजस्तमसामीश्वरः ।
 संसारमोक्षसिद्धिष्वधानां हेतुः
 कारणम् ॥१६॥

‘स विश्वकृत्’ इत्यादि । ‘स
 विश्वकृत्—विश्वस्य कर्ता है, विश्वको
 जानता है—इसलिये विश्ववेत्ता है,
 आत्मा और योनि है इसलिये आत्म-
 योनि है, जानता है इसलिये ज्ञ है ।
 तत्पर्य यह है कि यह सबका अन्तः,
 सबका योनि (उत्पत्तिस्थान) और
 सर्वज्ञ अर्थात् चैतन्यज्योति है ।
 तथा कालकार—कालका कर्ता और
 गुणी—अपहृतपाप्मादि गुणवान्
 है । यह सब विश्वषित् इस
 विशेषणका विस्तार है । [इसके
 सिवा] श्री प्रधान—अभ्यक्त और
 क्षेत्रज्ञ—विज्ञानात्मा, इन दोनोंका
 पति—भाजन करनेवाला, सत्त्व रज,
 तम इन तीनों गुणोंका नियामक तथा
 संसारके मोक्ष, स्थिति और बन्धनका
 हेतु यानी कारण है ॥ १६ ॥

किञ्च—

तथा—

स तन्मयो अमृत ईशसस्यो

ज्ञ सर्वगो मुवनस्यास्य गोप्ता ।

य ईशो अस्य जगतो नित्यमेव

नान्यो हेतुर्विद्यत इदानीय ॥१७॥

यह तन्मय (जगद्रूप अपवा ज्योतिमय), अमरणधर्मा, ईश्वररूपसे
 स्थित, ज्ञाता, सर्वगत और इस मुवनका रक्षक है, जो सर्वत्र इस जगत्का

शासन करता है, क्योंकि इसका शासन करनेके लिये कोई और समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

स तन्मय इति । स तन्मयो
विद्यात्मा । अपना तन्मयो
ज्योतिर्मय इति 'तस्य भासा
सबमिदं विभाति' इत्येतदपेक्षयो-
प्यते । अमृतोऽमरणधर्मा । ईशे
श्यामिनि सन्मयिस्त्वितिर्नस्यासा-
वीक्षसंख्यः । आनासीति इः ।
सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः ।
सुवनस्यास्य गोप्ता पाठयिता ।
य ईश ईष्टेऽस्य जगतो नित्य
मेव नियमेन नान्यो हेतुः समर्थो
विषय ईशनाय जगदीश्वनाय
॥ १७ ॥

'स तन्मयो' इत्यादि । यह
तन्मय अर्थात् विद्यारूप है । अपना
'उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित
है' इस उच्छिन्नी कपेक्षासे 'तन्मय'
शब्दसे ज्योतिर्मय भी कहा जा
सकता है । अमृत—अमरणधर्मा,
ईश यानी ईश्वरभावमें जिसकी सम्पत्क्
स्थिति है वत यह ईशसंस्थ है,
आनता है इसलिये इ है, सर्वत्र जाता है
इसलिये सर्वग है, इस मुक्तका गोता
यानी पाठनकर्ता है, जो इस जगत्
को नित्य-नियमसे शासित करता
है, क्योंकि जगत्के शासनके लिये
कोई और हेतु—समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

सुसुक्ष्मे लिये मगच्छरभागतिक उपदेश

यस्मात्स एव संसारमोक्ष-
स्थितिवन्धहेतुस्तस्मात्तमेव सुसुक्ष्म
सर्वस्मिन्ना शरण प्रपद्येत गच्छे-
दिति प्रतिपादयितुमाह—

क्योंकि वही संसारके मोक्ष,
स्थिति और बन्धनका हेतु है इसलिये
सुसुक्ष्म पुरुषको सब प्रकार उसीकी
शरणमें आना चाहिये—यह प्रति
पादन करनेके लिये धृति कहती है—

यो ब्रह्माण विदधाति पूव

यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै ।

तस् ह देवमात्मधुक्तिप्रकाश

सुसुक्ष्म शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

जो सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है, अपनी बुद्धिके प्रकाशित करनेवाले उस देवकी मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ ॥ १८ ॥

यो ब्रह्माणमिति । यो ब्रह्माणं ।
हिरण्यगर्भं विदधाति सृष्टवान्यूव
सर्गादौ । यो वै वेदांश्च प्रहिष्याति
तस्मै । तं ह हृष्यन्दोऽवधारणे ।
तमथ परमात्मानम् । उक्तं च—

“तमथ धीरो विज्ञाय
प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण ।

नानुष्यायावबहूच्छब्दा
न्याया विग्लापनं हि तत् ॥”

(इ उ ४ । ४ । २१)

“तमथैकं जानथात्मानम्”

(सु० उ० २ । २ । ५) इति
च । दधं ज्यातिर्मयम् । आत्मनि
या बुद्धिस्तस्याः प्रसादकरम् ।
प्रसन्ने हि परमेश्वरे बुद्धिरपि
तद्विषया प्रमा निष्प्रपञ्चाकार
ब्रह्मात्मनावविष्टत वर्तते । आत्म
बुद्धिप्रकाशमिस्पन्दोऽधीयत ।
आत्मबुद्धिं प्रकाशयतीत्यारमबुद्धि
प्रकाशम् । अधधारमैव बुद्धि

‘यो ब्रह्माणम् इत्यादि । जिसने
पहले अर्थात् सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्म—
हिरण्यगर्भको रचा है और जो उसके
लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है । तं
ह’ यहाँ ‘हृ’ शब्द निश्चयार्थक है,
अर्थात् उसी परमात्मको । कहा भी
है—‘बुद्धिमान् ब्रह्मचेता उसीको
जानकर उसीमें मनोनिवेश करे,
बहुत-से शब्दों—शब्दोंको न पड़े,
क्योंकि वह तो वाणीको पीड़ित
करना ही है’ तथा ‘उसी एक
आत्माको जानो’ इत्यादि । देव—
ज्योतिर्मय । अपनमें जो बुद्धि है
उसका प्रसाद (विकारा) करनेवाले,
क्योंकि परमेश्वरके प्रसन्न होनेपर
बुद्धि यानी परमेश्वरविरयिणी प्रमा
भी निष्प्रपञ्च ब्रह्माकारसे स्थित हो
जाती है । दूसरे अंग यहाँ ‘आत्म-
बुद्धिप्रकाशम्’ ऐसा पाठ मानते
हैं । [तब यह अर्थ होगा—]
अपनी बुद्धिके प्रकाशित करता है
इसलिये जो आत्मबुद्धिप्रकाश
है; अथवा आत्म ही बुद्धि है

रात्मबुद्धिः सैव प्रकाशोऽस्येत्या-
 स्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै वैशब्दो
 ऽवधारणे मुमुक्षुरेव सन्न फलान्तर
 मिच्छन्धारणमहं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

वही जिसका प्रकाश है उस आत्म-
 बुद्धिप्रकाशकी मैं मुमुक्षु—यहाँ 'वै'
 शब्द निश्चयार्थक है [अतः तात्पर्य
 यह है कि] मुमुक्षु होकर ही शरण
 लेता हूँ, किसी अन्य पदकी इच्छा
 करता हुआ नहीं ॥ १८ ॥

एष तावत्सृष्ट्यादिना यच्छ-
 र्म्यं स्वरूपं दर्शितम्, अघेदानीं
 तत्स्वरूपेण दर्शयति—

इस प्रकार यहाँतक सृष्टि आदि
 कार्यसे व्यञ्जित होनेवाले जिस स्वरूप-
 का बणन किया है उसीको अब
 साक्षात्स्वरूपसे प्रदर्शित करते हैं—

निष्कल निरिक्लेशः शान्त निरवद्य निरञ्जनम् ।

अमृतस्य परः सेतु दग्धेन्धनमिधानलम् ॥ १९ ॥

जो फलहीन, क्रियाहीन, शान्त, अनिन्द्य, निर्दोष, अमृतस्वरूप
 उच्छिद्य सेतु और जिसका ईंधन बड़ा पुत्र है (धूमादिगन्ध) अग्निसे
 सन्धन (देदीप्यमान) है (उस दसकी मैं शरण लेता हूँ) ॥ १९ ॥

निष्कलमिति । फला अवयवा
 निर्गता यस्मात्तं निष्कलं निर-
 षयवमित्यर्थ । निष्क्रियं म्यमहि
 मप्रतिष्ठितं शून्यमित्यर्थ ।
 शान्तमुपसहृतसर्वविघ्नरम् । निर-
 षयमगर्हणीयम् । निरञ्जनं निर्दो-
 षम् । अमृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य

निष्कलम् इत्यादि । जिससे
 फला यानी अवयव निरन्त गय है
 उस निष्कल अर्थात् निरमय,
 निष्क्रिय—अनो मत्तेशामे स्थित
 अर्थात् शून्य, शान्त—विमल
 मय निराशंभु अन्त हा गय है,
 निरषय—अनिन्द्य निरञ्जन—निर्दोष,
 अमृत यानी अमृतत्व—मोक्ष प्राप्ति-

प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसारमहो-
दधेरुच्चारणोपायत्वाक्षम् अमु
सस्य पर सेतुं दग्धे भनानलमिव
देदीप्यमानं श्लटश्लटायमानम् ॥ १९ ॥

के लिये जो सेतुके समान सेतु है,
क्योंकि यह संसार-सागरसे पार
होनेका साधन है, उस अमृतत्वके
परमसेतु तथा जिसका ईंधन जल
गया है उस अग्निके समान वेदीप्य-
मान—जगमगाते हुए [देवकी प्री
शरण लेता हूँ] ॥ १९ ॥

परमात्मज्ञानके बिना दुःख-गिण्टिच्छी असम्भाषना

किमिति तमेष विदित्वा
मुच्यते नान्येन ? इति तत्राह—

तो क्या उसीको जानकर पुरुष
मुक्त होता है किन्ती और साधनसे
नहीं ? इसपर कहते हैं—

यदा चर्मवकाकाशं घेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।

तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ २० ॥

जिस समय छेदा चर्मइक समान अकारशको छेदें छेंगे उस समय
उस देवको म जानकर भी दुःखका अन्त हो जायगा ॥ २० ॥

यदिति । यदा यद्वर्षं सञ्जो
चपिष्यति तद्वदाकाशममूर्तं व्या
पिन यदि घेष्टयिष्यन्ति संघेष्टयि
ष्यन्ति मानवास्तदा दग्धं ज्वाति
मपमनुदितानस्तमितज्ञानात्मना-

‘धरा’ इत्यादि । जिस समय,
जैसे बर्षा [फैले हुए] चर्मइको छेदें
उसी प्रकार यदि अमूर्त और व्यापक
आकाशको भी मनुष्य सम्यक्
प्रकारसे छेदें छें, उस समय देव
यानी ज्योतिर्मय—उदय-अस्तसे

• तात्पर्य यह है कि परमात्मज्ञानके बिना जाने दुःखका अन्त जानना देना ही
असम्भव है किन्तु किन्तु और अमूर्त आकाशका पतित्वका एवं मूर्तत्वका धर्मके
अन्तन छेदना ।

वस्वितमश्ननायाद्यसंसृष्ट परमा
त्मानमविद्याय दुःखस्याभ्यात्मि
कस्याधिभौतिकस्याधिदैविकस्या
न्तो विनाशो भविष्यति । आत्मा
ज्ञाननिमित्तत्वात्संसारस्य ।

यावत्परमात्मानमात्मत्वेन न
जानाति तावत्तापत्रयाभिभूता
मकरादिभिरिव रागादिभिरि
वस्तु कृष्यमाणः प्रेततिर्यङ्मानु
ष्यादियोनिष्वज एव जीवभाव
मापन्नो मासृष्टमानः संसरति ।
यथा पुनरपूर्वमनपरं नेति नेति^{प्र}
त्यादिउद्यममश्ननायाद्य संसृष्टमनु-
दितानस्तमितज्ञानात्मनायस्वितं
पूजानन्द परमात्मानमात्मत्वेन
साक्षाज्जानाति सदा निरस्ताज्ञान-
वत्कार्य पूजानन्दा भवतीत्यर्थः ।
उक्तं च—

“अज्ञानेनावृतं ज्ञान
तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
ज्ञानेन तु सदृशानं
येषां नाद्विषमात्मन ।

रहित ज्ञानस्वरूपसे स्थित क्षुधादिसे
असंसृष्ट परमात्मको विना जाने भी
आभ्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधि-
दैविक दुःखका अन्त—विनाश हो
जायगा, क्योंकि आत्मके अज्ञानसे
ही संसारकी स्थिति है ।

तत्पर्य यह है कि जबतक पुरुष
परमात्मको अरमस्वरूपसे नहीं
जानता तबतक वह अजमा होनेपर
भी तपत्रयसे अभिभूत हो मकरादि
के समान उद्यमद्वारा इस-उधर
खींचा जाता हुआ प्रेत, तिर्यक् एवं
मनुष्यादि योनियोंमें जीवभावको प्राप्त
हो अल्पत मोहवशा संसारमें मग्न
रहता है । किन्तु जिस समय वह
कारण-कार्यमात्रसे रहित नेति-नेति
आदि वाक्यद्वारा उद्यित, क्षुधादिसे
असंसृष्ट, उदय-अस्तसे रहित ज्ञान-
स्वरूपसे स्थित पूर्णानन्दमय परमात्मा-
को साक्षात् अरमस्वरूपसे जानता
है उस समय अज्ञान और उसके
कार्यसे छूटकर पूर्णानन्दमय हो
जाता है । क्या भी है—

“ज्ञान अज्ञानसे उद्यत हुआ है,
इसीसे जीव मोहमें पड़ते हैं ।
जिन्होंने ज्ञानके द्वारा अपने अज्ञान-
को नष्ट कर दिया है उनका प्रति यह

तेषामादित्यवज्ज्ञानं

प्रकाशयति तस्परम् ॥

तपुषुद्वयस्तदात्मान-

स्तभिष्टास्तत्परायणा ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं

ज्ञाननिर्भूतकृत्वमपाः ॥”

(गीता ५ । १५-१७)

॥ २० ॥

ज्ञान [समस्त रूपमात्रको प्रकाशित करनेवाले] सूर्यके समान उस ज्ञेय परमार्थतत्त्वको प्रकाशित कर देता है । उस परमज्ञानमें ही त्रिनयी बुद्धि लगी हुई है, वह ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही त्रिनयन धारण है उस ब्रह्ममें त्रिनयी दृढ़ निष्ठ है और जो उसीके परायण [अर्थात् व्यस्त-स्ति] हैं वे ज्ञानद्वारा समस्त दोषोंसे मुक्त हो अपुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं” ॥ २० ॥

श्वेताश्वतर-विद्यास्य सम्प्रदाय तथा इसके अधिकारी

सम्प्रदायपरम्परया ब्रह्मविद्याया

मोक्षप्रदस्य प्रदर्शयितुं सम्प्रदायं

विद्याधिकारिणं च दर्शयति—

सम्प्रदायपरम्परके द्वारा ब्रह्म विद्याके मोक्षप्रदत्व प्रदर्शित करनेके लिये श्रुति इसके सम्प्रदाय और इस विद्याके अधिकारियोंको प्रदर्शित करती है—

तप प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म

ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।

अत्याश्रमिभ्य परम पवित्र

प्रोवाच सम्यगृपिसधजुष्टम् ॥ २१ ॥

श्वेताश्वतर श्रुतिने तपोबुद्ध और परमश्रमणों प्रसन्नत्वसे उस प्रसिद्ध ब्रह्मको जाना और श्रुतिसमुदायसे संश्लिष्ट इस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्वके सम्पत्क प्रकटसे परमब्रह्म संन्यासियोंको उपदेश किया ॥ २१ ॥

तपःप्रभावादिति । तपसः
 कृच्छ्रान्द्रायणादिलक्षणस्य, तत्र
 तपःशब्दस्य सूत्रत्वात् । नित्या-
 दीनां विधिवदनुष्ठितानां कर्मणा-
 मुपलक्षणमिदम्; “मनसश्चे-
 न्द्रियाणां च ब्रह्मप्रपन्नं परम-
 तपः” इति स्मरणात् । तस्य
 च सर्वस्य तपसस्तस्मिन्निवेता-
 शतरे नियमेन सत्त्वात्प्रभाषा-
 त्तसामर्थ्यादिवप्रसादाच्च कैवल्य-
 मुद्दिश्य तदधिकारसिद्धये बहु-
 बन्मसु सम्यगाराधितपरमेश्वरस्य
 प्रसादाच्च ब्रह्मापरिच्छिन्नमह-
 त्वम् । इ इति प्रसिद्धिधातुनार्थः ।
 इक्ष्वाश्वतरो नाम अपिर्विश्वान्य-
 धाक्तं प्रसन्नं परमराप्रार्थं गुरु-
 गुस्ताञ्छुत्वा मनननिदिष्यासु-
 नादरनैरन्तर्यसत्कारादिभिर्नैवाह-
 मस्मीत्यपरोधीकृतान्बन्धसाधा-
 स्कारधान् ।

‘तपःप्रभावात्’ इत्यादि । ‘तपसः’
 कर्पात् कृच्छ्रान्द्रायणादिरूप तपके
 [प्रभाषसे], क्योंकि उसीमें ‘तप-
 शब्द सूत्र है । यह विविध अनुष्ठान
 किये हुए नित्यादि कर्मोंका उपलक्षण
 है, क्योंकि “मन और इन्द्रियोंकी
 एकप्रकृति ही परम तप है” ऐसा
 स्मृतिवाक्य है । यह सम्पूर्ण तप
 श्वेतशस्त्र श्रुतिमें नियमसे होनेके
 कारण उसके प्रभाव यानी सामर्थ्यसे
 तथा भगवान्की कृपासे—कैवल्य-
 पदक उद्देश्यसे उसके अधिकार
 प्राप्त करनेके लिये अनकों जन्म-
 पक्षत सम्पत् प्रकाशसे आराधना
 किये हुए परमेश्वरकी प्रसन्नता
 से तिसकी महिमाकी कार्य सीमा
 नहीं है, उस ब्रह्मको—यहाँ ‘इ’
 शब्द प्रसिद्धिके धातक है—श्वेत-
 शस्त्रनामक श्रुतिन जाना अर्थात्
 यथावत्कृपासे ब्रह्मन किये हुए
 परम्परागत ब्रह्मत्त्वज्ञान गुरुदेवके
 मुँहसे धरग कर मनन निदिष्यासुन,
 आदर (धडा) निरन्तर अव्यास
 एवं सत्त्वगुणिक द्वारा ‘मं ब्रह्म हूं’ इस
 प्रकार अन्तरेय किये अर्थात् अलग-
 अलगसे उमरा साधनादर किये ।

यथ स्वात्तुभवदात्मनिन्तर
मस्याभमिन्वः। “अतिः पूषायाम्”
इति सरणादत्यन्तं पूज्यत
माभमिन्वः साधनघटुष्टसम्पत्ति-
महिम्ना स्वेषु देहादिष्वपि
जीवनमोगादिष्वनास्वाबद्गुणः ।
अत एव वैराग्यपुष्कळघद्गुणः ।
तदुक्तम्—

“वैराग्यं पुष्कळं न स्वा-
भिष्कळं प्रह्वदर्शनम् ।
तस्माद्गुणविरतिं
बुधो यत्नेन सर्वदा ॥”

इति । स्मृत्यन्तरे च—
“यदा मनसि वैराग्यं
जायते सबन्स्तुपु ।

तदैव संन्यसदिद्रा
नन्यथा पतिता भवेत् ॥”

इति । परमहंससंन्यासिनस्त एवा
त्याभमिन्वः । तथा च श्रूयत—
“न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः
परा हि ब्रह्मा । तानि वा एता
न्यवरापि तपासि न्यास
एवात्परपयत्” (म० ना० ७८)

इति ।

“चतुर्विधा मिथुवध
बहूदकडुटीचर्मा ।

किं अना अनुभव इह करनेके
पश्चात् उसे अत्याभमिन्वोके—“अति-
शब्द पूजापक है” ऐसी स्पष्टि
होनेके कारण अत्यन्त पूजनीय
व्यक्तवाच्योके अर्थात् साधनघटुष्ट-
की पूर्णताके प्रभावसे जिनकी अपने
शरीरदि तथा जीवन और मोगादिने
भी आस्था नहीं थी उनको, अतः
पूर्ण वैराग्यवानोके [इसका उपदेश
मिमा] । ऐसा ही कहा भी है—
“यदि पूर्ण वैराग्य न हो तो ब्रह्मज्ञान
निष्कळ है, अतः बुद्धिमन् पुरुष
सर्वदा प्रयत्नपूर्वक वैराग्यकी रक्ष
करनी चाहिये ॥” तथा दूसरी स्पष्टि
कहा है—“जिस समय मनमें
समस्त वस्तुओंके प्रति वैराग्य उत्पन्न
हो जाय उसी समय निश्चिन्त
संन्यास प्राण करना चाहिये, नहीं
तो उसका पतन हो जायगा ॥” इस
प्रकार जो परमहंस संन्यासी हैं वे
ही अत्याभमी हैं । ऐसा ही भुक्ति
भी कहाँती है—“यस ही ब्रह्म
ह, ब्रह्म ही पर (परब्रह्म) है
पर ही ब्रह्मा है । ये सब तो
निश्चय है, संन्यास ही सबसे बड़ा
है” इत्यादि; तथा “यहूदक, कुटी-
चरु, इस और परब्रह्म—ये चार
प्रकारके भिन्न हैं, इनमें जा-जा

इंसः परमहंसश्च

यो यः पश्चात्स उत्तमः ॥”

इति शरणाच्च । तेभ्योऽस्या-

भमिम्यः परमं प्रकृतं ब्रह्म तदेव

परममुत्कृष्टतम निरस्तसमस्ता-

विघातत्कार्बनिरसिश्चसुखैकरस

पवित्रं शुद्धं प्रकृतिप्राकृतादिमल-

विनिर्मुक्तम् । अपिसंपशुष्टं धाम-

देवसनकाशीनां संघैः समूहैर्शुष्टं

सेवितमारमत्वेन सम्यक्परिभाषितं

प्रियतमानन्दस्वेनाभिसम्भुः “आ-

त्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति”

(बृह० उ० ४ । ५ । ६) इति

श्रुतेः । सम्यगात्मशयापरोक्षीकृतं

यथा भवति तथा । सम्यगित्यस्य

काकादिन्यात्वेनोभयत्रानुपज्ञः

कर्तव्यः । प्रोवाचोक्तवान् ॥२१॥

पीठेवात्म द्वैक्य-व्यह उच्यते उत्तम

द्वै, ऐसी स्मृति भी है । उन

अस्याभिमियोंको उस प्रकृत परब्रह्म

वर्षात् उस उत्कृष्टतम—सम्पूर्ण

अविद्या और उसके कार्यसे रहित

निरतिशय-सुखैकरसस्वरूप पवित्र-

शुद्ध यानी प्रकृति और प्रकृतिके

कार्य आदि मलसे रहित ब्रह्मका,

जो अपिसंपशुष्ट यानी धामदेव एवं

सनकादि अपियोंके समूहसे शुद्ध—

सेवित वर्षात् आत्ममायसे सम्यक्

प्रकारसे मन्वना किया हुआ यानी

प्रियतम आनन्दरूपसे आश्रित है,

क्योंकि श्रुति भी कहती है “आत्मा-

के लिये ही सब कुछ प्रिय होता

है,” [अत एवे ब्रह्मका] अिस

प्रकार वह आत्मस्वरूपसे पूर्णतया

प्राप्य हो सके उस प्रकार उपदेश

किया । श्रुतिके ‘सम्यक्’ पदका

काकादिन्यायसे ‘श्रोत्राच’ और

‘शुद्धम्’ दोनों पदोंके साथ सम्बन्ध

सम्बन्धना चाहिये ॥ २१ ॥

अनपिच्छरीके प्रति विप्रोपदेशक नियेव

यथोक्तद्विष्यपरीक्षणपूर्वकं

विद्या वक्तव्या सद्विहाय तदुक्ती

इस विषयके उपर्युक्त प्रकारके

शिष्यकी परीक्षा करके उपदेश

करना चाहिये । उसे श्रेष्ठ-

दापं विद्याया वैदिकस्य गुप्तत्व पर इत्यत्र उपदेश करनेमें दोष,
सम्प्रदायपरम्परया प्रतिपादितत्व विद्याका वैदिकत्व, गुप्तत्व और
चाह— सम्प्रदायपरम्पराराध्य प्रतिपादित होना
द्युति मत्स्यती है—

वेदान्ते परम गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।

नाप्रशान्ताय दातव्य नापुत्रायाशिष्याय वा पुन ॥२२॥

उपनिषदोंमें परम गुह्य इस विद्याका पूर्वकल्पमें उपदेश किया गया
था । जिसका विषय अत्यन्त शान्त (रागद्विषमरहित) न हो उस पुत्र
को तथा जो पुत्र या शिष्य न हो उसके इसे नहीं देना चाहिये ॥ २२ ॥

वेदान्त इति । वेदान्त इति । 'वेदान्ते' इत्यादि । 'वेदान्ते'
आत्येकवचनम् । सकलाद्युप इतमें जातिमें एकवचन है, अर्थात्
निपत्तिविति यावत् । परम परम समी उपनिषदोंमें, परम—परम-
पुरुषार्थस्वरूप, गुह्य—गोपनीयोंमें भी सम्- पुरुषार्थरूप, गुह्य—गोपनीयोंमें भी सम्-
गोप्यतम पुराकल्प्य प्रचोदितं से व्यक्ति गेय्य [यह विद्या]
पूर्वकल्पे चोदितमुपदिष्टमिति पुराकल्पे—पूर्वकल्पमें प्रचोदित हुई—
सम्प्रदायप्रदर्शनं कृतमित्येतत् । उपदेश की गयी थी । इस प्रकार
प्रशान्ताय पुत्राय प्रकर्षेण शान्तं इत्यत्र सम्प्रदायप्रदर्शन किया गया ।
सकलरागादिमलरहितं विषयं यस्य प्रशान्त पुत्रको अर्थात् जिसका विषय
तस्मै पुत्राय तादृशशिष्याय वा प्रकर्षसे—विशेषरूपसे शान्त यानी
दातव्यं षक्तमिति यावत् । रागदि सम्पूर्ण मलसे रहित हो, उस
तद्विपरीतायापुत्रायाशिष्याय वा को इसे देना यानी उपदेश करना
स्नेहादिना मयापिद्या न षक्तम्या । चाहिये । इससे विपरीत सम्प्र-
दायके तथा जो पुत्र या शिष्य न हो उसे केवल स्नेहादिके कारण
मयापिद्या उपदेश नहीं करना

अन्यथा प्रत्यशायापचिरिति पुनः

प्रवृत्तार्थः ।

अत एव ब्रह्मविद्याविवक्षुणा
गुरुणा चिरकालं परीक्ष्य शिष्य
गुणान्घ्रात्वा ब्रह्मविद्या वक्तव्येति
भावः । तथा च भृति — “भूय
एव तपसा ब्रह्मचर्येण भद्रया
संवत्सरं सवत्सपथ” (प्र० उ०
१ । २) इति । भृत्यन्तरे च—
“एकस्मिन् इ वै वपापि प्रजापतौ
मपवान्ब्रह्मचर्यमुवाच” (छा०
उ० ८ । ११ । ३) इति च ।
एतच्च बहुधा प्रपञ्चितमुपदेश
साहित्यिकायामित्यत्र संकोचः कृत
॥ २२ ॥

चाहिये ।* नहीं तो प्रत्यक्ष
(पाप) क्षमा है—यह ‘पुनः’
शब्दका तात्पर्य है ।

इसलिये जो गुरु ब्रह्मविद्याका
उपदेश करना चाहे उसे बहुत
समयतक परीक्षा करके शिष्यके
गुणोंको जानकर इसका उपदेश
करना चाहिये—ऐसा इसका म्य
है । ऐसी ही यह भृति भी है—
“किर एक साठतक तपस्या,
ब्रह्मचर्य और ब्रह्मार्पण तुम यहाँ
वास करो ।’ तथा एक अन्य
भृतिमें कहा—‘इन्द्रने प्रजापति-
के यहाँ एक सौ एक बर्तक ब्रह्मचर्य-
ब्रतका पाठन करते हुए निवास
किया” इत्यादि । इस प्रसंगका
उपदेशसाहचर्यमें अनेक प्रकारसे
विलुप्त वर्णन किया है, इसलिये यहाँ
संक्षेपसे कहा दिया है ॥ २२ ॥

परमेश्वर और गुरुमें क्या मन्त्रि रत्नशास्त्रे शिष्यके प्रति किये गये
उपदेशकी सत्कृता

अत्रापि दक्षतागुरुभक्तिमता

अब भृति यह दिसाती है कि
यहाँ भी दक्षता और गुरुकी भक्ति-

● शिष्य और गुरुका प्रति ही ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेकी विधि का रस
यही जान पड़ता है कि बिना उपदेश किये मात्र उगरी उपदेशकक प्रति पूर्व भक्त
हन्नी कहिये और ऐसे भक्त करके गुरु का शिष्य ही ही हो सकती है । इत्ये
वे ही इसके उपदेशक भविः

मेव गुरुणा प्रकाशिता विद्या- | युक्त पुरुषोक्ति प्रति प्रकाशित ही
 नुमवाय भवतीति प्रदर्शयति— | हुई विद्या ही अनुमन्त्री प्राप्ति
 करानेवाही होती है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता द्वर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ।

प्रकाशन्ते महात्मन ॥ २३ ॥

निसत्री परमेश्वरमें अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमेश्वरमें है वैसी ही गुरुमें भी है । उस महारामके प्रति कहनेपर ही इन तत्त्वोंका प्रकाश होकर है, उस महारामके प्रति ही ये प्रकाशित होते हैं ॥ २३ ॥

यस्येति । यस्य पुरुषस्याधि
 कारिणो देवे इयता प्रबन्धेन
 दर्शितासम्बन्धेन सच्चिदानन्द
 परब्रह्मोतिःस्वरूपिणि परमेश्वरे
 परोत्कृष्टा निरुपचरिता भक्तिः ।
 एतदुपलक्षणम् । अचाञ्छर्यं
 अद्वा चामे यथा तथा ब्रह्म
 विद्योपदेष्टरि गुरावपि तदुभयं
 यस्य वर्तते तस्य सप्तशिरसो अल
 राक्ष्यन्वपणं विहाय यथा साध
 नान्तरं नास्ति यथा च पुंसवितस
 भोत्रनादन्यत्र साधनान्तरं न,

भ्यस्य' इत्यादि । जिस व्यक्तिगरी
 पुरुषकी देवमें—यहाँतकके सम्बन्ध
 कर्णन किये हुए सम्बन्धकारस
 सच्चिदानन्द परमेश्वरके स्वरूप
 परमेश्वरमें परा—उत्कृष्टा यानी
 अकृत्रिमा भक्ति है, यह [अचञ्छर्य
 और अद्वाकर भी] उपलक्षण है ।
 तात्पर्य यह है कि निसत्री महामन्त्र
 के प्रति जैसी निश्चय और अद्वा
 है वैसी ही ये दोनों ब्रह्मवेत्ता गुरुके
 प्रति भी हैं उसके लिये, जैसे
 तपे हुए मस्तकवाले पुरुषके लिये
 जम्बशफके खोजनेके लिये और
 कोई उपाय नहीं है तथा शुभकार
 पुरुषको भोजनके लिये और कोई
 उत्तरी इन्तिस्य साधन नहीं है,

एवं गुरुकृपां विहाय ब्रह्मविद्या
दुर्लभति त्वरान्वितस्य मुस्याभि-
कारिणो महात्मन उत्तमस्यैते
कथिता अस्यां श्वेताश्वतरोप
निपदि श्वेताश्वतरेण महात्मना
कथिनापदिष्टा यथाः प्रक्यासन्ते
स्वानुभवाय भवन्ति । दिवचनं
मुस्यद्विष्यत्साधनादिदुर्लभत्व
प्रदर्शनार्थमध्यायपरिसमाप्त्यर्थ
मादरार्थञ्च ॥ २३ ॥

उसी प्रकार गुरुकृपाके बिना ब्रह्म-
विद्याका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है
यह सोचकर जिसे ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके
लिये अत्यन्त उत्साहकी कमी हुई है
उस मुस्याधिकारी उत्तम महात्माको ही
ये कथित—इस श्वेताश्वतरोपनिषद्में
महात्मा श्वेताश्वतरद्वारा उपदेश किये
हुए तत्प्रकारकित कथाएँ स्वानुभवके
विषय होते हैं । 'प्रक्यासन्ते महात्मन'
इन पदोंकी द्रिष्टिके मुख्य शिष्य और
उसके साधनोंकी दुर्लभता प्रदर्शित
करनेके लिये, अध्यायकी समाप्तिके
लिये तथा आदरके लिये है ॥२३॥

इति श्रीमद्भारविन्दभगवत्सूक्त्याद्विशिष्यपरमहंसपरिब्राजकापाय-
धीमच्छाङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

॥ समाप्तमिदं श्वेताश्वतरापनिषद्भाष्यम् ॥

॥ ॐ नमः ॥



शान्तिपाठ

ॐ सह नावतु । सह नौ भुनक्तु ।
सह वीर्यं करवावहे । तेजस्वि नावधीत
मस्तु । मा विद्विषावहे ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

मन्त्रप्रतीकानि	अ	सं	पृष्ठ
अथवा इत्येवं कश्चित्	४	२१	११२
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरारम्भः	३	१३	१७६
अप्यभिपारो बन्धो प्रदीता	३	१९	१८९
अप्यिर्वाभिमप्यते	२	६	१४३
अप्योरभ्योऽन्तरारम्भो महीमान्	३	२	१८३
अन्तरानन्तं कश्चिच्छब्द मध्ये	५	१३	२२९
अथमेवं कश्चित्पुरुषकल्प्यम्	४	५	१८९
अङ्गुष्ठमात्रो रश्मिस्तस्मात्	५	८	२२४
आदिः स सन्धेगनिमित्तरेणः	३	५	२३६
आरम्भ कर्माणि गुणान्कितानि	३	४	२३४
उद्गीतमेतत्परम् तु ब्रह्म	१	७	११
आप्यं अथरे परमे व्योमन्	४	८	१९४
एषो बर्षी निष्किन्नापां बह्वन्वम्	३	१२	२४४
एतन्मेषं निष्कमेकमसंस्वम्	२	१२	१९७
एषो देवः सर्वमूलेषु गृहः	३	११	२४३
एष इ देवः प्रविशोऽन्तु तथाः	२	१६	१६१
एकैकं वाचं बहुषा विकुर्वन्	५	३	२१८
एषो वि स्रो न द्वितीयाप्य तरयुः	३	२	१६४
एष देवो विष्णुश्चा महात्मा	४	१७	२३
एषो ह्य स्ये मुक्कनस्यस्य मध्ये	३	१५	२४८
एवं ब्रह्मवादिनो बहन्ति	१	१	३८
कश्चः स्वभाषो निवर्तिर्दृष्ट्या	१	२	७१
गुणान्त्वो वा पञ्चकर्मकर्ता	५	७	२२३
पुत्रास्तरं मन्त्रमिवातिवृत्तम्	४	१६	३५
कर्मद्वि कश्चः प्रत्ये प्रतानि	४	१	१९५
कमीश्वर्यां परमं महेश्वरम्	३	७	२३९
तदेवगुणोपनिषद्गु गृहम्	५	३	२२१
तदेवमिन्द्रावादिनाः	४	२	१८७
ततो यन्तुत्तरं तद्वक्त्रमन्त्रमयम्	३	१०	१७४

उता पर ब्रह्मपरं बृहस्पतम्	३	७	१७१
उमेक्योमि शिवृतं योब्रह्मन्तम्	१	४	८९
तत्कर्म कृत्वा विनिर्गमं भूयाः	३	३	२३३
उपधाम्नादोब्रह्मन्तम् ब्रह्म	३	२१	२५३
शिष्येषु वैशं दधनीव सर्विः	१	१५	१११
ते ब्रह्मन्तमेतन्नुपज्ञा अपश्यन्	१	३	७४
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि	४	३	१८८
दा सुपर्वा तनुषा उवाचा	४	३	१९
हे ब्रह्मरे ब्रह्मरे त्वन्ते	५	१	२१५
नवाहरे पुरे वेदी	३	१८	१८१
न संशयो सिद्धिः कर्मस्य	४	२	२९१
न तस्य कर्म कर्म च विद्यते	३	८	२४
न तस्य कर्मो भयि न कर्मकारकम्	३	१४	२४३
न तस्य कर्मिण्यतिरिक्ति कर्मो	३	९	२४१
नित्यो नित्याना केतनत्वेऽन्यान्तम्	३	१३	२४५
नित्यं नित्यं चान्तम्	३	१९	२५१
नीला फल्लो हरियो अग्निताला	४	४	१८८
नीलापूरुषाकान्तिभन्तानाम्	१	११	१५५
नैनमूर्ध्वं न तिर्यङ्गम्	४	१९	२१०
नैव स्त्री न पुमानस्य	५	१	२२५
पञ्चस्रोतोऽन्तुं पञ्चयेनुमव्ययम्	१	५	१६
पुण्य एवेदं सर्वम्	३	१५	१७८
पञ्चात्मवीज्योऽहं तमुत्तमैः	२	९	१५३
पृथ्व्यन्तेषोऽपिभक्त्यः समुत्पद्यते	२	१२	१५७
भावात्तन्मनीष्यस्यम्	५	१४	२२९
महात्प्रसुर्षे पुण्यः	३	१९	१७५
मायां तु महर्षिं विद्यात्	४	१	१५७
मा मस्तोके तन्वै म	४	१९	२१३
पदात्तन्वै न तु ब्रह्मन्तम्	२	१५	१६
य एते ब्रह्मन्तीभ्यः इहानीमिः	३	१	१६३
यस्यपरं नृपत्न्यि किञ्चित्	३	९	१७३
य एतेऽन्तर्षो बहुधा शक्तिनेष्टत्	४	१	१८३
यदात्मस्य विद्या न शक्तिः	४	१८	२८

यस्य स्वाम्यर्था पचति विषयोनिः	५	५	२२१
ब्रह्मन्नुनाम इव तन्नुमिः	६	१	२४२
यथा कर्मकदाक्रमम्	६	२	२५४
कस्य देवे पय मरिचा	६	२३	२६२
यथैव विन्धं मृदयोपश्रितम्	२	१४	१५८
यत्ते क्व शिवा उन्	३	५	१६९
यमित्यु निप्रिष्ठन्त इस्ते	३	६	१७०
मुञ्चते मन उत मुञ्चते	२	४	१४
मुषे वा ब्रह्म पूर्वम्	२	५	१४१
मुञ्चानाः प्रथमं मनः	२	१	१३६
मुञ्चते मनस्य वाचं देवस्य	२	२	१३७
मुस्तवाय मनस्य देवान्	२	३	१३९
वेनाहृतं निस्पमिदं हि सर्वम्	६	२	२३२
यो देवानां प्रमथ्योद्भवश्च	६	४	१६८
यो यानि योनिमभिलिङ्गन्नेकः	४	११	१९८
यो देवानां प्रमथ्योद्भवश्च	४	११	२
यो देवानामभिपो पशिनन्	४	१३	२ १
यो यानि योनिमभिलिङ्गन्नेकः	५	२	२१६
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्	६	१८	२५१
यो देवो अग्नौ यो अप्सु	२	१७	१६२
उत्पत्यारोम्यमग्नेः सप्तमम्	२	१३	१५७
बह्वैर्या यानिपत्स्य मूर्तिः	१	११	१३
वाक्यप्रघटमागस्य	५	९	२२५
विष्णुश्चक्रुस्त विष्णोमुखाः	३	३	१६६
वेदाहमेतं पुरुषं ब्रह्मणम्	३	८	१७२
वेदाहमेतमथं पुराणम्	३	२१	१८४
वेदान्ते परमं गुह्यम्	६	२२	२६
स तन्मयो ब्रह्मूत ईशर्षत्याः	६	१७	२५
स विश्वहृद्विश्वकिरात्मयोनिः	६	१६	२४९
स हृद्यन्महृदिमिः परोऽप्याः	६	६	२३८
सहृद्यन्महृदिमिः परोऽप्याः	५	११	२२६
त्वा विद्य ऊषमपथ्य दिवंक्	५	४	२१९
स एव कश्चे भुवनस्य गोप्ता	४	१५	२ ३

सर्वेन्द्रसुखामसम्	३	१७	१८०
सर्वतःप्रापिपदं तद्	३	१६	१७९
सर्वसर्पिणो पुरुषः	३	१४	१७७
समे द्युनो सर्कणवद्विवास्तुका	२	१	१५४
सवित्रा मत्तवेन कुशेत्	२	७	१४६
सर्वाननसिरोश्रीषः	३	११	१७४
समाने वृधे पुरुषो निमग्नाः	४	७	१९२
सर्वम्यापिनमात्मानम्	१	१६	१६४
सवासीने सर्वसंरथे वृहन्ते	१	६	१८
सङ्गम्यतिगुरुं कर्मिण्यस्य मध्ये	४	१४	२९
संपुक्तमेतत्स्वरमस्वरं च	१	८	१७
स्वरोहमरमि कृत्वा	१	१४	१३९
सूक्ष्मनि स्रग्म्यनि बहुनि चैव	५	१२	२२७
स्वभ्रममेके क्वचो क्वसि	६	१	२३१
स्वरं प्रधानममृताधरं हरः	१	१	११९
शशौ शशशशीशनीशौ	१	१	११९
शस्ता देवं सर्वपाथापहानिः	१	११	१२
शिवसतं रथाय्य समं शरीरम्	२	८	१४०



